सूत्रकृतांग सूत्र का दार्शनिक अध्ययन

साध्वी डॉ. नीलांजना श्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री जिनकान्तिसागरसूरि स्मारक

जहाज मंदिर, माण्डवला, जालोर (राज.)

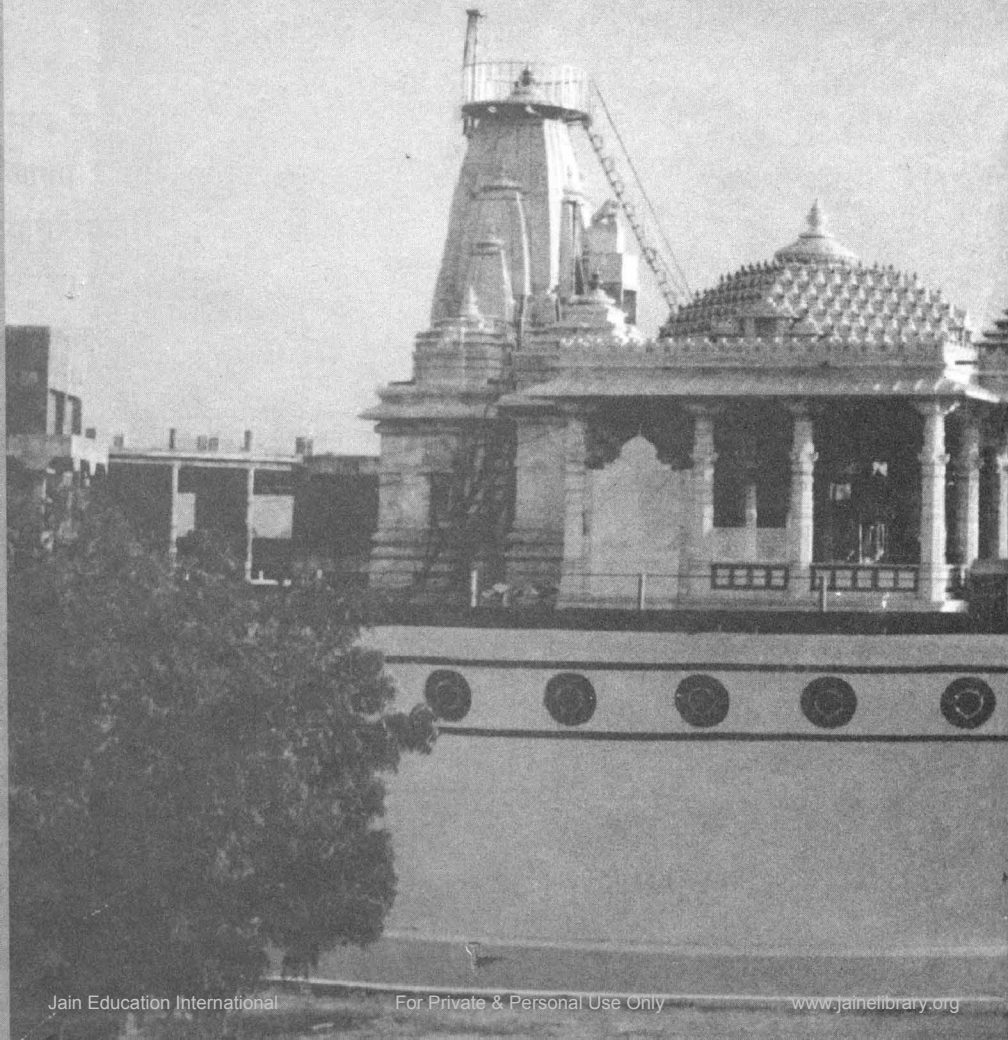

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

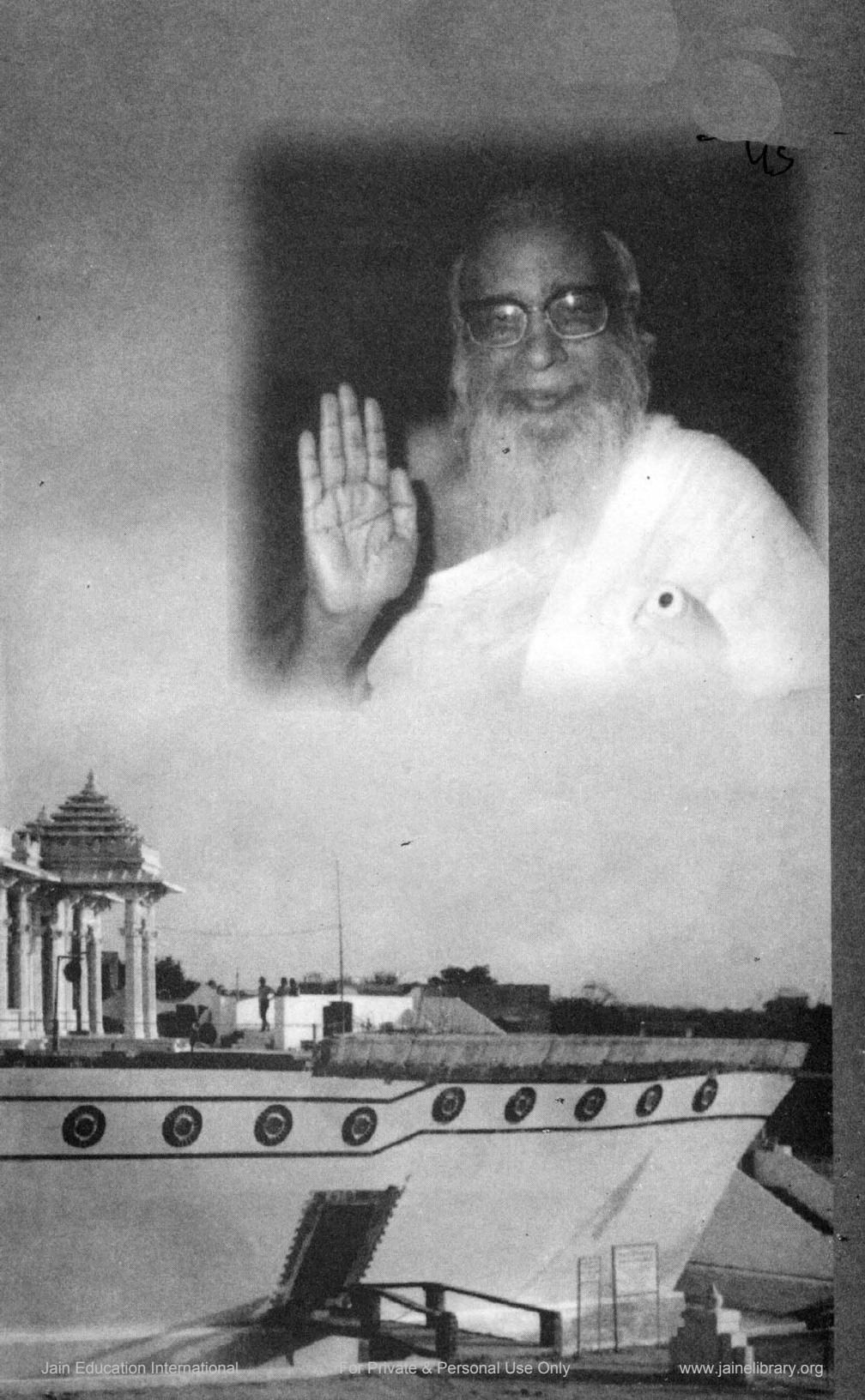

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग सूत्र
का
दार्शनिक अध्ययन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाई जी प्रकाशन का अनुपम उपहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग सूत्र
का
दार्शनिक अध्ययन

साध्वी डॉ. नीलांजना श्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग सूत्र का दार्शनिक अध्ययन

(पी.एच-डी. की उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबंध)

साध्वी डॉ. नीलांजना श्री

प्रथम संस्करण

ज्ञान पंचमी, 2005

ISBN

.....

प्रतियां

एक हजार

मूल्य

एक सौ रूपये

सर्वाधिकार

प्रकाशक

प्रकाशक

भाई जी प्रकाशन

श्री जिनकान्तिसागर सूरि स्मारक ट्रस्ट

जहाज मंदिर, माण्डवला-343042 जिला–जालोर, राज.

दूरभाष : 02973-256107, 256338

email : jahaj_mandir@yahoo.co.in

मुद्रण व्यवस्था

राकेश पाण्डेय, दिल्ली

मुद्रक

संजय प्रिंटर्स, दिल्ली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण

जिनका ध्यान ही मेरा ध्येय है,
जिनका अनुग्रह ही मेरा श्रेय है,
जिनका वात्सल्य ही मेरा प्रेय है,

उन परम पूजनीया
मेरी आस्था के आलंबन,
श्रद्धा के सदन,
गुरुवर्या श्री
डॉ. विद्युत्प्रभा श्री जी म.सा.
के
पावन कर-कमलों में
में
सादर समर्पित

- नीलांजना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ सहयोग

पूज्य माता जी शतायुसंपन्ना श्रीमती रंगूदेवी

के आशीर्वाद से

पुत्र श्री

रिखबचंद जी - सौ. सुखी देवी

पौत्र श्री

मदनचंद जी - सौ. मधु देवी

राजेन्द्रकुमार जी - सौ. सुमित्रादेवी

विक्रम जी - सौ. शोभादेवी

महेन्द्र जी - सौ. शारदादेवी

मुकेश जी - सौ. मधुदेवी

नरेश जी - सौ. पिंकी देवी

प्रपौत्र

लवेश, डोनेश, निखिल, मोहित,

सिद्धम, अक्षय, राहुल, तुषार दांतेवाड़िया

पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र

श्री रूपचंद जी दांतेवाड़िया, चैन्नई

मरूधर में माण्डवला

Sha Roopchand Sagarji

7, Ekambareshwar Agraharam

Guru Kripa Market, Mint Street

CHENNAI - 600079

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर जी म.सा.

पूज्य साध्वी
डॉ. विद्युत्प्रभा श्री जी म.सा.

पूज्य साध्वी
डॉ. नीलांजना श्री जी म.सा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमती रंगूदेवी

श्री रिखबचन्द जी दांतेवाड़िया

सौ. सुखी देवी दांतेवाड़िया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंगलामृतम्

यों तो हर आगम अपने आप में पूजनीय, आदरणीय एवं महत्वपूर्ण है, परन्तु सूत्रकृतांग सूत्र की महत्ता कुछ अनूठी है। इसकी विषय-वस्तु, इसकी विषय-विवेचना, इसकी रचना-शैली; सब कुछ अनूठी है। सूत्रकृतांग सूत्र एक दर्पण की भाँति है, जिसमें उस समय के दार्शनिक जगत का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

उस समय जितने भी पंथ, धर्म, संप्रदाय, दर्शन, विचार-परम्पराएं विद्यमान थीं, उन सबका लेखा-जोखा इस सूत्र में है। विविध विषयों व विस्तृत चर्चा-विचारणाओं से परिपूर्ण यह आगम परमात्मा महावीर के अनेकान्त सूत्र का प्रत्यक्ष संवाहक है।

साध्वी नीलांजना ने इस आगम पर शोध कार्य करके एक चुनौती स्वीकार करते हुए अपनी ऊर्जा भरी प्रतिभा का सम्यक् उपयोग किया है।

मुझे इस बात की बहुत प्रसन्नता है कि मेरी बहिन के शिष्या परिवार में यह पहली डॉक्टर बनने जा रही है। मैं अपनी आज की इस प्रसन्नता की तुलना उस दिन से कर सकता हूँ, जब मेरी बहिन विद्युत्प्रभा डॉक्टर बनी थी। उस दिन की महिमा का तो मैं वर्णन ही नहीं कर सकता; क्योंकि मैं वर्षों से उस पल की प्रतीक्षा कर रहा था।

आज वही प्रसन्नता दोगुनी हो गई है, क्योंकि नीलांजना मेरी बहिन (चचेरी) भी है, तो मेरी बहिन की शिष्या भी है। नीलांजना शिशु अवस्था से ही मेरे एवं बहिन विद्युत्प्रभा के प्रति स्नेह के धागे से बंधी हुई है।

मुझे खुशी है कि एक अच्छे विषय को चुनकर उसने उसके साथ पूरा न्याय किया है। दर्शन का विषय थोड़ा जटिल है, अतः इसके पठन में स्वाध्यायी वर्ग आलस्य करता है, परंतु साध्वी नीलांजना ने अपनी प्रांजल एवं मँजी हुई लेखनी से इस ग्रंथ को इतने प्रवाह एवं सहज भाषा में लिखा है कि कहीं भी अरूचि का भाव पैदा नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखन यात्रा की यह एक सफल शुरूआत है। मुझे आशा ही नहीं, बल्कि पूर्ण विश्वास है कि उसकी प्रवाहपूर्ण लेखनी से अनेक नये ग्रंथों का निर्माण होगा और वह साहित्य जगत को और ज्यादा समृद्ध बनाने में अपना योगदान अर्पण करेगी।

नीलांजना एक प्रतिभाशाली एवं परिपक्व साध्वीरत्ना है। उसमें अध्ययन की तीव्र रूचि है। बौद्धिक क्षमता से परिपूर्ण नीलांजना की ग्रहण-शक्ति अद्‌भुत है। उसमें आत्मविश्वास गहरा है, जो उसे लेखन आदि क्षेत्रों मे नई ऊँचाइयाँ देता है।

शोध-कार्य की पूर्णता का अवसर व्यक्ति को नाम भी देता है तो जिम्मेदारी भी देता है। नीलांजना पर अब जिम्मेदारी आ गई है, क्योंकि अब उसे अपने नाम के आगे लगे 'डॉ.' शब्द को पूर्ण सार्थक करना है। इसका अर्थ है कि उसे प्रतिवर्ष शोध-कार्य, लेखन-कार्य करते ही रहना है।

ऐसा नहीं कि डिग्री ली और अब साहित्य से इतिश्री कर ली। अब उसे प्रतिवर्ष दो या तीन ग्रन्थों पर कार्य लगातार करना है।

मेरी परमात्मा एवं दादागुरूदेव से यही प्रार्थना है कि वह अपने लक्ष्य को केन्द्र में रखकर निरंतर नये-नये आयामों का स्पर्श करती रहे।

मेरी बहिन (चचेरी) एवं मेरी बहिन की शिष्या होने के नाते मेरे अगणित आशीष एवं शुभकामनाएँ सदा उसे उपलब्ध हैं। उसके हार्दिक मंगल भविष्य की शुभकामना के साथ.....

(उपाध्याय मणिप्रभसागर)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेयोवाक्

अपनी प्रिय अनुजा-शिष्या साध्वी डॉ. नीलांजना द्वारा प्रस्तुत शोध ग्रंथ के प्रकाशन के अवसर पर मेरा मन प्रमुदित होना एक सहज प्रक्रिया है। वह अपने छह माह की शिशु अवस्था से ही मेरे व्यावहारिक जीवन की ही नहीं, मेरे भाव हृदय की एक अत्यंत सुकोमल अनुभूति के साथ ही मेरे प्राणों का अविभाज्य अंग रही है। मेरे हाथ शिशु अवस्था में उसका झूला बने तो यौवन की दहलीज पर बढ़ते उसके कदमों को मेरा अनुशासन मिला। उसने इन दोनों ही रूपों को हृदय की गहराई से आत्मसात् किया। नि:संदेह मैं उसके इस समग्र समर्पण से अभिभूत हूँ।

बचपन के दस साल की अवधि के अतिरिक्त वह मुझसे व्यावहारिक एवं हार्दिक, दोनों ही स्तर पर अभिन्न रही है। उसके बारे में मैं नि:संकोच कह सकती हूँ कि वह जितनी तेजस्विनी है, उतनी ही सुकोमल भी है। वह जितनी प्रतिभासंपन्न है, उतनी ही विनम्र भी! जितनी तार्किक एवं ओजस्विनी है, उतनी ही भावुक भी! वह जिस कार्य से जुड़ती है, उसे निष्ठा से डूबकर संपन्न किये बगैर निश्चिंत नहीं होती।

जब वह अपनी उम्र के द्वितीय दशक के तृतीय वर्ष के प्रारंभ में मेरे पास आयी थी; उसकी तीव्र प्रतिभा को देखते हुए विद्यालय प्रशासन ने सातवीं कक्षा से सीधे दसवीं कक्षा में पहुँचा दिया था; और उसने भी कठोर परिश्रम की बदौलत अत्यल्प अवधि के बावजूद परीक्षा देकर सफल होने के साथ-साथ द्वितीय श्रेणी भी प्राप्त की थी। तब से प्रारंभ हुई उसकी व्यावहारिक व तात्विक शिक्षा यात्रा आज अनेक सामुदायिक व व्यावहारिक अवरोधों को पार करते हुए आखिर अपनी मंजिल तक पहुँच ही गयी है।

उसकी शोधयात्रा लम्बी चली। विषय पर भी खूब ऊहापोह चला। विषय का चयन होने के बाद फिर एक स्थान पर रहने की व्यवस्था का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभाव, कार्यक्रमों की भरमार; फिर भी उसका धैर्य बरकरार था। मेरे लिये किसी भी कार्य को इतने लम्बे समय तक चलाना कठिन होता है। इस विषय पर कई बार कहना भी पड़ा कि वह अपने हाथ में लिये हुए शोधकार्य को जल्दी से संपन्न कर ले, भले ही उसमें गहराई कम हो; पर वह मेरी इस बात पर सहमत नहीं हुई और न ही उसने इस पर समझौता ही किया। उसका दृढ़-संकल्प था कि वह शोध कार्य गहराई से ही करेगी और आखिर गुजरात से प्रारंभ हुई उसकी शोधयात्रा महाराष्ट्र होती हुई कर्णाटक में संपन्न हुई।

यद्यपि उसकी शोधयात्रा अवश्य संपन्न हो गयी, पर मेरा सपना अधूरा है। बहुत प्रारंभ से मेरी रूचि थी कि हम जिस गुरू परंपरा से जुड़े हैं, उस परंपरा के आद्य प्रवर्तक, न्याय के शिखर पुरूष श्री जिनेश्वरसूरि की रचना पंचलिंगी प्रकरण पर कुछ कार्य हो। संयोग और परिस्थितियाँ अनुकूल न रहीं, अत: न चाहते हुए भी विषय का परिवर्तन करना पड़ा; परंतु संतोष है कि इस विषय पर अपनी क्षमता का भरपूर उपयोग करते हुए उसने संपूर्ण न्याय किया है।

सूत्रकृतांग सूत्र परमात्मा की मूल वाणी होने के साथ द्वितीय आगम के रूप में स्थापित है; और एक आगम पर शोध करने का अर्थ है, उसे पढ़ने के साथ-साथ अन्य आगमों का भी समुचित अध्ययन करना। साध्वी नीलांजना ने इन आगमों के साथ आगमेतर साहित्य का भी अध्ययन करके अपनी अध्ययनप्रियता एवं स्वाध्याय रूचि को अभिव्यक्त किया है।

शोध कार्य से प्रारंभ हुई उसकी लेखन यात्रा यहीं विश्रांत न होकर अगणित ग्रंथ निर्माण करती हुई उत्तरोत्तर विकसित, परिष्कृत हो, साथ ही वह अपने मुख्य लक्ष्य कषाय शुद्धि, आत्म शुद्धि करके शुद्धत्व-बुद्धत्व की गरिमा को उपलब्ध करे, यही कामना है।

विद्युत्प्रभा

– साध्वी (डॉ.) विद्युत्प्रभा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञाभिनंदना

आत्मप्रिय अग्रजा **बहिन** डॉ. नीलांजना श्री जी म.सा. द्वारा लिखित शोधग्रंथ के प्रकाशन की पावन बेला में हृदय परम उल्लसित एवं आनंदित है। बहिन की शोध-यात्रा की पूर्णता, सफलता एवं प्रस्तुति के स्वर्णिम अवसर पर भाई के हृदय का उमंग से उमंगित होना स्वाभाविक ही है।

मेरे अबोध बचपन में ही वे संसार छोड़कर संयम पथ की साधना में गतिमान हो गये थे, फिर भी मेरे मन में एक अदृश्य प्रेरणा छिपी हुई थी कि जीजी ने जिस पावन पथ को अपनाया है, मुझे भी उसी राह का अनुसरण करना है। यह बात मुझे सदैव गौरव भरा आनंद प्रदान करती है कि मैंने अपने सपने को यथार्थ के धरातल पर साकार कर भ्राता और बहिन के पावन बंधन के जीवन पर्यंत निभाने के संकल्प को पूर्ण किया है।

उनका स्नेह मुझे सदा से मिलता रहा है, कभी डाँट के रूप में तो कभी पुचकार के रूप में; कभी पत्र के माध्यम से तो कभी प्रत्यक्ष रूप से।

ऐसी बहिना पर मुझे नाज है। उनकी योग्यता और प्रतिभा किसी से छिपी नहीं है। बी.ए. में प्रथम स्थान प्राप्त कर स्वर्णपदक के हकदार बने; तो एम.ए. में द्वितीय स्थान प्राप्त कर गुरू गरिमा में अभिवृद्धि की। संपूर्ण बारसा सूत्र मात्र चालीस दिन की अल्पावधि में कंठस्थ कर आप ने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

उनकी शोध-यात्रा सफलता के शिखर का स्पर्श कर रही है, यह गौरव मिश्रित हर्ष का विषय है। जीवन के एक अहमियत भरे इम्तिहान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में उत्तीर्ण होना किसे खुशी के रंग से सराबोर नहीं करेगा।

सूत्रकृतांग सूत्र ग्यारह अंग सूत्रों में से एक अतिविशिष्ट ग्रंथरत्न है, जिसमें 363 वादों का महत्वपूर्ण दार्शनिक विवेचन विस्तार से उपलब्ध होता है। इस दुरूह, गहरे एवं कठिन विषय पर शोध-प्रबंध लिखना कोई सामान्य बात नहीं है, पर उन्होंने अतीव परिश्रम एवं लगन से इस कार्य को पूर्णता प्रदान की है। विभिन्न वादों, मतों एवं विचारधाराओं का समावेश होने से यह ग्रंथ विद्वानों के लिये उपयोगी है, तो इसकी शैली सहज, सरल एवं सुबोध होने से स्वाध्याय-प्रेमियों के लिये अनमोल तोहफा है।

मैं उनकी शोध-यात्रा का साक्षी रहा हूँ। वे पूरे दिन एक कक्ष में बंद .... लेखन में व्यस्त ..... पढ़ने में मस्त .... चारों तरफ बिखरी पुस्तकें एवं ग्रंथ! न तपन का अहसास .... न पानी की प्यास! ऐसे विशिष्ट दर्शन की गहराई से परिपूर्ण गंभीर ग्रंथ पर उन्होंने जो पैनी प्रज्ञा से परिपूर्ण कलम चलाई है, उसके परिणाम स्वरूप इसे एक मानद ग्रंथ के रूप में उद्घोषित किया गया है। यह सब उनके परिश्रम और आत्मविश्वास का परिणाम है। निश्चित रूप से उन पर माँ शारदा की कृपा एवं गुरूजनों का आशीर्वाद अमृत बन कर बरस रहा है।

प्रस्तुत कृति आगमिक साहित्य जगत के लिये अनमोल देन तो है ही, उनकी जीवनयात्रा के लिये मील का पत्थर भी है। शोधकाल में जैन एवं जैनेतर ग्रंथों के विश्लेषण, मनन एवं चिंतन की गहराई में जाकर उन्होंने श्रुतज्ञान के बहुमूल्य मोती प्राप्त किये हैं।

मेरी यह शुभाकांक्षा ही नहीं, हार्दिक इच्छा भी है कि वे इस शोध कृति की रोशनी में लेखन क्षेत्र में कदम आगे बढ़ाने का संकल्प करें एवं साहित्य जगत को नये-नये अनेक ग्रंथ प्रदान करने के कार्य का शुभारंभ करें।

वे अपनी विशिष्ट प्रतिभा के माध्यम से लेखनी को गति देते हुए आगमिक क्षेत्र को अपने अवदान से परिपूर्ण करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनकी संयम यात्रा निर्बाध चलती रहे एवं क्रमशः गुणस्थानक की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए, आत्मलक्षी बनकर अकषायी एवं अयोगी अवस्था को उपलब्ध कर सिद्धत्व की उजास को प्राप्त करें।

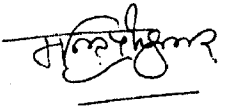

– मुनि मनितप्रभसागर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशंसनीय नूतन प्रस्थान

तीर्थंकर परमात्मा द्वारा उपदिष्ट एवं गणधर भगवंतों द्वारा ग्रंथित जैनागम विशिष्ट ज्ञान संपदा है, जिसमें आचार, सिद्धान्त, दर्शन, गणित एवं कथाओं का समृद्ध भंडार है। यह एक ऐसी ज्ञान संपदा है, जिसको पाकर कोई भी आत्मार्थी अपने जीवन को धन्य बना सकता है। जिनागमों की इस संपदा का अध्ययन स्व-पर कल्याणकर भी है।

आगमों में सूत्रकृतांग अंग, आगम अर्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध है। इसमें तत्कालीन अनेक मत-मतांतरों की विवेचना की गई है। मूलतः तो यह ग्रंथ आन्तरिक ग्रंथियों को नष्ट करने का एक सबल साधन है। विचारों से आन्तरिक ग्रंथियों का निर्माण होता है। यही ग्रंथियाँ एकांगी होने पर घातक बन जाती हैं। इनकी एकांगिता को समझाने वाला और अनेकान्तवाद को स्थापित करने वाला यह एक उत्तम ग्रंथरत्न है।

तत्कालीन वादों पर अद्यावधिपर्यंत सर्वांगीण दार्शनिक अध्ययन नहीं हुआ था। साध्वी श्री नीलांजना श्री जी ने इस ग्रंथ का दार्शनिक अध्ययन करने का पुरूषार्थ किया है। चार वर्षों की दीर्घकालीन विद्यासाधना के पश्चात् उन्होंने सफलता पूर्वक शोध-प्रबंध लिखने का कार्य संपन्न किया और उन्हें पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त हुई। यह एक गौरव का विषय है। इसके लिये साध्वी जी बधाई प्रेषित करते हुए कामना करता हूँ कि अपनी ज्ञान साधना के नूतन सुमन संघ को देती रहें।

- डॉ. जितेन्द्र बी. शाह

निदेशक, एल.डी. रिसर्च इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्धापना

जैन आगम साहित्य में सूत्रकृतांग सूत्र का विशेष महत्व है। जर्मन दार्शनिकों ने सर्वाधिक प्राचीन आचारांग और सूत्रकृतांग सूत्र को माना है; क्योंकि इन सूत्रों की रचना वेद-छंदों में हुई है। सूत्रकृतांग की विषय वस्तु में उस काल और समय की दार्शनिक परंपराओं का उल्लेख है तथा तुलनात्मक विवरण भी उपलब्ध है।

साध्वी नीलांजना श्री जी ने 'सूत्रकृतांग सूत्र का दार्शनिक अध्ययन' विषय पर 'पी-एच.डी.' की उपाधि प्राप्त की है। यह माना जाना समीचीन ही प्रतीत होता है कि जैन तत्वज्ञान और जैन दर्शन की धारणाएं एक साथ ही शुरू हुई हैं। इस सूत्र में जहाँ एक ओर भगवान महावीर की चर्या, ज्ञान, ध्यान, तप, त्याग आदि की प्रशस्ति की गयी है, वहीं विरोधी आचार वाले कुशील तथा मिथ्या मान्यताओं की प्ररूपणा एवं उनका खण्डन भी किया गया है। अन्य मत की मान्यताओं के खण्डन की परंपरा प्राचीन रही है। लेखिका की दृष्टि में यह ग्रंथ जितना अध्यात्म के क्षेत्र में उपयोगी है, उतना ही वर्तमान की व्यवस्थाओं में भी प्रासंगिक है।

आगम साहित्य का अध्ययन करने वाले सुधी पाठकों के लिये यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है। लेखन शैली तथा विषय विश्लेषण इतना सहज रूप से हुआ है कि साधाारण पाठक भी जैन तत्वज्ञान और उसके दार्शनिक स्वरूप को समझ सकता है। आज ऐसे साहित्य की आवश्यकता है, जो जैन आगम-अध्ययन में रूचि पैदा करें और यह स्पष्ट करें कि भगवान महावीर के सिद्धांत मात्र बौद्धिक ही नहीं, अपितु व्यावहारिक भी हैं। लेखिका साध्वी डॉ. नीलांजना श्री जी की यह पुस्तक दार्शनिक जगत को विशिष्ट देन है, ऐसा मेरा मानना है।

– डॉ. महावीरराज गेलडा

संस्थापक कुलपति, एमरिटस प्रोफेसर, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आनन्दानुभूति

साध्वी श्री नीलांजना श्री जी ने प्रस्तुत ग्रंथ में अपनी प्रतिभा, प्रज्ञा-शोध और श्रद्धामय अथक प्रयास से सूत्रकृतांग का अध्ययन कर उसके दार्शनिक वैशिष्ट्य का नवनीत प्रकट किया है। पाठकों, भावी शोधार्थियों तथा अध्यात्मप्रेमियों के लिये विदुषी शोधकर्त्री ने जैन आगमों में प्राचीन और अमूल्य ग्रंथ सूत्रकृतांग को अपने शोध का आधार बताया और निम्न निष्कर्ष निकाले हैं, जो अत्यंत उपयोगी हैं। वे बधाई की पात्र हैं।

1. यह आगम नवदीक्षित साधु-साध्वियों को संयम में स्थिर करने तथा बुद्धि को निर्मल बनाने में सहायक है।

2. जो अध्येता तत्कालीन प्रचलित विभिन्न वादियों के सिद्धांतों को जानना चाहते हैं, उनके लिये सूत्रकृतांग में वर्णित विभिन्न वाद ज्ञानवर्धक हैं, किंतु यह जानना आवश्यक है कि वे अनेकांत दृष्टि से अपूर्ण सत्यता के ज्ञापक हैं।

3. सूत्रकृतांग में जैन-अजैन का भेद भुलाकर जीव-अजीव, लोक-अलोक, पुण्य-पाप, आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा-मोक्ष के विवेचन से आलोकित अध्यात्म पथ के प्रणेता परम शांति को प्राप्त होते हैं।

4 साध्वी श्री की शोध ने यह सिद्ध किया है कि सूत्रकृतांग सूत्र में जैन-बौद्ध और ब्राह्मण धर्म के बीच वास्तविक विरोध नहीं है, संभवतः इसीलिये भगवान महावीर के लिये मतिमान-ब्राह्मण महावीर का प्रयोग किया गया है (खण्ड प्रथम, अध्ययन 9-10) तथा संसार के सत्य का विचार करने वालों को श्रमण और ब्राह्मण (खण्ड प्रथम, अध्ययन 12) बताया गया है।

सूत्रकृतांग में श्रमण धर्म सम्मत इन्द्रिय-मन-संयम तथा ब्राह्मण धर्म में प्रतिपादित आत्मा की विशालता के अनुपम समन्वय को रेखांकित कर महाराज श्री ने अपनी इस कृति में मौलिक शोध तथा आगम और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमेतर साहित्य के विस्तृत ज्ञान का परिचय दिया है।

मैं इस मंडल से विगत 7 वर्षों से लगातार संपर्क में हूँ। उदयपुर चातुर्मास में मैंने बहिन म. श्री विद्युत्प्रभा श्री जी को पढ़ाया था। तभी सर्वप्रथम मैं उनके संपर्क में आयी थी। बाद में साध्वी नीलांजना श्री जी को पढ़ाने का अवसर मिला। उस समय उन्होंने मुझसे न्याय ही पढ़ा था, क्योंकि शोध का विषय न्याय पर आधारित था। अपनी पैनी एवं गंभीर प्रज्ञा से उन्होंने मुझे आकृष्ट ही नहीं किया अपितु आह्लादित भी किया था। मैं उन जैसी प्रतिभासंपन्न साध्वी जी को एक छात्रा के रूप में पाकर जितनी संतुष्ट हुई थी, उतनी ही श्राविका के नाते गौरवान्वित भी; कि हमारे संघ में ऐसी विशिष्ट प्रतिभाएं हैं।

मैंने साध्वी नीलांजना श्री जी को अत्यन्त निकटता से देखा है। निष्कर्ष रूप में मैं कह सकती हूँ कि उनका मस्तिष्क जितना प्रखर है, हृदय उतना ही कोमल एवं भीगा हुआ है। नि:संदेह अपनी प्रतिभा से वे आप्तवचनों को जितना समझ सकती हैं, हृदय की सरलता एवं कोमलता से उन्हें उतना ही आत्मसात् भी कर सकती हैं; और यही तो उनके जीवन का अंतिम लक्ष्य है।

जैसा कि उन्होंने शोधग्रन्थ के प्रारंभ में ही उल्लेख किया है-

'साधक को बंधन के कारणों को समझ कर उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये।' इस अनमोल वाक्य संपदा को वे सतत स्मृति में रखें और इसे क्रियान्वित करते हुए बंधनमुक्त होने का पुरूषार्थ करें।

– डॉ. सुषमा सिंघवी

क्षेत्रीय निदेशक, इंदिरा गांधी खुला विश्वविद्यालय, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुप्रभातम्

बुज्झिज्ज तिउट्टेज्जा बंधणं परिजाणिया।

सूत्रकृतांग सूत्र की इस गाथा में श्रमण भगवान महावीर ने अपने शिष्यों को; प्रकारांतर से सभी भव्य प्राणियों को मोह निद्रा से जागृत करते हुए यह कहा है कि, 'जागो, संबुद्ध होवो तथा अपने बंधनों को जानकर - समझकर उन्हें तोड़ो।'

बंधन का स्वरूप समझाते हुए भगवान ने कहा कि परिग्रह ही सबसे कठिन बंधन है तथा रंचमात्र भी परिग्रह रखने वाला भी मुक्त नहीं हो सकता।

यहाँ सूत्रकृतांग का उल्लेख कई दृष्टियों से सामयिक है तथा संदर्भ प्राप्त भी। प्रथमतः साध्वी डॉ. नीलांजना श्री जी के शोध प्रबंध का विषय सूत्रकृतांग सूत्र का दार्शनिक समालोचनात्मक अध्ययन है, द्वितीयतः वे स्वयं बंधन के कारणों को जान-समझकर अपरिग्रही संयमी साध्वी जीवन अंगीकार कर चुकी हैं, तथा तृतीयतः सूत्रकृतांग सूत्र जैन वांग्मय का एक अद्‌भुत दार्शनिक ग्रंथ है, जिसमें भगवान महावीर के समकालीन सभी भारतीय धर्म-दर्शनों का विवेचनात्मक-विश्लेषणात्मक विवरण मिलता है। धर्म-दर्शन के किसी भी जिज्ञासु विद्यार्थी के लिये सूत्रकृतांग सूत्र का अध्ययन परमावश्यक ही नहीं, अपरिहार्य भी है।

साध्वी नीलांजना श्री जी एक प्रतिभा संपन्न व अध्ययनशील व्यक्तित्व की धनी विदुषी साध्वी हैं। उन्होंने इस महत्वपूर्ण ग्रंथ की श्रेष्ठ एवं श्रमसाध्य समालोचना प्रस्तुत की है, जिसके लिये वे साधुवाद की पात्र हैं। किसी भी शोधकर्ता के लिये शोध-प्रबंध तो मात्र सही दिशा में पहला पग भरने जैसा होता है। यह तो शोध कार्य का प्रशिक्षण है, जिसका उपयोग कर शोधार्थी अनेक संशोधनात्मक कार्य करता है। इस प्रतिभाशाली साध्वी जी से संघ और समाज को ही नहीं, समग्र जैन शासन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को बहुत आशाएं हैं, अपेक्षाएं हैं, जिनमें मेरी अपनी आशाएं-अपेक्षाएं भी सम्मिलित हैं।

मैं कामना करता हूँ कि वे अपनी स्वाध्यायवृत्ति को निरंतर गतिमान रखकर संघ एवं समाज को अपने अमूल्य अवदानों से लाभान्वित करती रहें।

मैं पुलकित और प्रमुदित हूँ कि साध्वी जी का यह शोध-प्रबंध प्रकाशित हो रहा है। मेरी प्रसन्नता का एक आयाम यह भी है कि साध्वी जी की शिक्षा मैं भी प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप कुछ हद तक जुड़ा हुआ रहा हूँ, अतः उनकी इस उपलब्धि पर मेरा आनंदित होना स्वाभाविक है।

साध्वी श्री अपने जीवन में सम्यग् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूपी रत्नत्रयी की साधना के शिखर को छूने के प्रयास में नित्य नयी ऊँचाईयों को स्पर्श कर शासन प्रभावना करती रहें, इसी शुभेच्छा के साथ...

– कर्नल दलपतसिंह बया श्रेयस्

ई-26, भूपालपुरा, उदयपुर (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

पूजनीया साध्वी डॉ. नीलांजना श्री जी म. द्वारा लिखित शोध-प्रबंध को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए आनंद की अनुभूति हो रही है। यह ग्रन्थ सर्वज्ञ परम पिता प्रभु महावीर की मूल वाणी एवं अंग आगम में द्वितीय स्थान पर स्थापित सूत्रकृतांग सूत्र के दार्शनिक पक्ष के साथ ही तत्कालीन विद्यमान विभिन्न मतों को भी प्रस्तुत करता है। पूजनीया साध्वी श्री ने इस गंभीर आगम ग्रन्थ पर शोध कर अद्‌भुत कार्य किया है। यद्यपि उनकी लेखन-यात्रा का यह प्रथम सोपान है, परंतु विषयगत गंभीरता व लेखन-निष्ठा को देखकर उनकी प्रतिभा-संपन्नता व परिपक्वता का बोध होता है। संघ आप जैसी उदीयमान साध्वी श्री को पाकर गौरवान्वित है। हमारी शुभकामना है कि वे अपनी गुरूवर्या श्री के कुशल मार्गदर्शन में अविराम अपनी कलम चलाती हुई साहित्य की ऊँचाईयों का स्पर्श करें।

ग्रन्थ के अर्थसहयोगी हैं धर्मकार्य में सदैव अग्रणी मांडवला निवासी श्री रिखबचंदजी रूपचंदजी दांतेवाड़िया परिवार। मांडवला गाँव में परमात्मा सुमतिनाथ मंदिर में प्रतिष्ठा के अवसर पर मूलनायक परमात्मा को बिराजमान करने एवं बाद में जहाज मंदिर की प्रतिष्ठा के अवसर पर मूलनायक परमात्मा शांतिनाथ प्रभु को बिराजमान करने का लाभ आपने प्राप्त कर एक कीर्तिमान स्थापित किया था। हम दांतेवाड़िया परिवार के सहयोग का अनुमोदन करते हुए उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं। साथ ही हम पूज्य गुरूदेव श्री एवं गुरूवर्या श्री के आभारी हैं कि उन्होंने ग्रन्थ के प्रकाशन का श्रेय इस संस्था को प्रदान किया। साध्वी जी के उज्ज्वल भविष्य की मंगल कामना करते हुए सुज्ञ पाठकों से निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करके लेखिका के श्रम को सार्थकता प्रदान करें।

– डॉ. यू.सी. जैन

महामंत्री, जहाज मंदिर, माण्डवला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म-निवेदन

आज शोध ग्रन्थ की पूर्णता के सुनहरे पलों में मैं अनहद आनन्द की अनुभूति कर रही हूँ। वर्षों का संजोया सपना आज यथार्थ की धरती पर उतर रहा है। नि:सन्देह ये क्षण मेरे जीवन की एक विशिष्ट उपलब्धि के क्षण है। मेरे आनन्द का कारण यह नहीं है कि मेरे नाम के साथ एक डिग्री जुड़ रही है अपितु यह है कि मैंने परमात्मा महावीर की मूल आगम-वाणी को अपने स्वाध्याय का विषय बनाकर उसकी अतल गहराई में जाकर रहस्यों के मोती बटोरने का कुछ प्रयास किया है।

परमात्मा महावीर का साधनापक्ष एवं ज्ञानपक्ष दोनों ही एक-दूसरे के पूरक है। साधनापक्ष उनकी सहिष्णुता को अभिव्यंजित करता है तो ज्ञानपक्ष उनकी सहज करूणा को व्यक्त करता है।

जिस समय परमात्मा महावीर इस धरा पर अवतरित हुए थे, उस समय अनेकानेक विषमताएँ उस युग का अभिशाप बनी हुई थी। हिंसा, कदाग्रह, दुराग्रह, पूर्वाग्रह, वैचारिक असहिष्णुता, सामाजिक विषमता ,आदि विभिन्न स्तरों पर आम जनता अपने उच्चतम मानवीय जीवन को बलि का बकरा बना रही थी। असन्तोष तीव्रता से जन-मानस को संतप्त कर रहा था।

समाज का मार्गदर्शक ब्राह्मण समाज अपने कर्तव्यों से च्युत होकर भूले भटकों का पथ-प्रदर्शन करने की अपेक्षा अपनी स्वार्थी प्रवृत्तियों के पोषण में ही डूब गया था। त्यागी साधु-संन्यासी वर्ग या तो समाज पर अपनी पकड़ खो चुका था, या अपनी ही सतही एकान्त-वादी मान्यताओं में उलझकर अनुयायियों को दिग्भ्रमित कर रहा था। नि:सन्देह ऐसे आर्थिक, सामाजिक, वैचारिक व व्यवहारिक विषमताओं के बारूद पर खड़े मानव समाज को एक ऐसे महापुरुष की अपेक्षा थी जो उनकी समस्त पीड़ाओं को अपने महान् आचार और विचार में समेट सके, उन्हें यथार्थ मार्गदर्शन देकर सत्य मार्ग की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर ले जा सके, उनका जीवन अज्ञान के अँधेरे से ज्ञान प्रकाश की ओर मोड़ सके।

युग का पुण्य था। तत्कालीन जनता का सौभाग्य था कि उन्हें उस जहर भरे वातावरण में साक्षात् अमृतकुम्भ मिल गया। अलौकिक महापुरुष की ही नहीं, साक्षात् तीर्थंकर की पावन सन्निधि प्राप्त हो गयी।

नि:सन्देह परमात्मा महावीर उस विषम युग के लिये अमृतमय वरदान बनकर अवतरित हुए थे।

परमात्मा महावीर का साधनाकाल जहाँ उनके प्रखर पुरुषार्थ और आश्चर्यजनक सहिष्णुता को अभिव्यक्त करता है, वहीं उनका केवलज्ञान के बाद का समय उनकी सहज करूणा को रेखांकित करता है।

स्वयं तो परिपूर्ण और कृतकृत्य हो चुके थे। करने योग्य कुछ भी शेष न था। फिर भी उन्होंने लगभग तीस वर्ष तक सतत् इस धरा को अपनी वाणी की मेघ-वर्षा के द्वारा उर्वरा बनाया। इसमें मात्र उनकी सहज करूणा ही अभिव्यक्त होती है।

जिसे द्वादशांगी कहा जाता है, वह परमात्मा महावीर की मूलवाणी है। चूँकि उस समय गुरु परम्परा से ही ज्ञान प्राप्ति की परम्परा थी, अत: ये सारे आगम परमात्मा महावीर की वाणी होते हुए भी संकलित कहे जाते है। परम उपकारी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा भविष्य की कल्पना करते हुए तीर्थंकर की वाणी को सुरक्षित करने के लिए लेखन की परम्परा को प्रारम्भ किया गया।

वर्तमान का यह युग जितना भगवान महावीर का कृतज्ञ है, उतना ही देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण का भी। मैं असीम आस्था एवं कृतज्ञ भावों से भरकर परमात्मा महावीर के पावन श्री चरणों मे वन्दनाएँ समर्पित करती हूँ और उतनी ही प्रणतियाँ उसी भावना से आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के चरणों में भी।

प्रस्तुत आगम उसी द्वादशांगी का द्वितीय आगम है। जैसे-जैसे सूत्रकृतांग के सागर में मुझे डूबने का सौभाग्य मिला, मैं आध्यात्मिक रहस्यों के मोती बटोरती रही और अपने विषय चुनाव पर आह्लादित होती रही।

मैंने इस शोध ग्रन्थ को कुल सात अध्यायों में विभाजित किया है, जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अध्याय में आगम साहित्य का वर्णन करते हुए उसके विस्तृत परिचय को प्रस्तुत किया है। इसमें आगम की परिभाषा, आगमों के रचयिता, आगमों का वर्गीकरण एवं उनकी संख्या, आगमों की वाचनाएँ, उनका उपलब्ध व्याख्यात्मक साहित्य एवं विभिन्न साहित्यकारों द्वारा उनका अनुवाद आदि विषयों का समावेश किया गया है।

द्वितीय अध्याय में सूत्रकृतांग के विभिन्न अर्थ प्रस्तुत करते हुए सूत्रकृतांग की मूल विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय देने के साथ उससे सम्बन्धित अन्य निर्युक्ति, चूर्णि, टीका आदि का वर्णन हुआ है। साथ ही ग्रन्थ के उपलब्ध लगभग अनुवादों और प्रकाशनों का नामोल्लेख भी किया है।

तृतीय अध्याय में सूत्रकृतांग के दोनों श्रुतस्कंधों के तेबीस अध्ययनों के परिचय को समेटने का प्रयास किया है ।

चतुर्थ अध्याय में सूत्रकृतांग में वर्णित समस्त दार्शनिक वादों का तार्किक एवं विशद विवेचन करते हुए उनकी विस्तृत समीक्षा की गयी है।

पंचम अध्याय में सूत्रकृतांग के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समवसरण अध्ययन में प्रतिपादित चार वाद एवं उस समय चल रहे 363 मतों का विस्तृत विश्लेषण करने के साथ ही उनका प्रमाणपुरस्सर तर्कों द्वारा खण्डन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में, जिन दार्शनिक मतों का सूत्रकृतांग में वर्णन है, उनका अन्य जिन-जिन अंग आगमों में वर्णन उपलब्ध होता है, उनकी समीक्षापूर्वक विवेचना की गयी है।

सप्तम अध्याय में सम्पूर्ण सूत्रकृतांग पर अपना चिन्तन प्रस्तुत करते हुए उपसंहार रूप सार लिखा गया है।

इस प्रकार सप्तअध्यायमय इस शोधग्रन्थ के समापन की वेला में प्रसन्नता होना स्वाभाविक है।

जब मैंने जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर से एम.ए. का अध्ययन सम्पन्न किया तो मेरे सामने विषय चुनाव की जटिल समस्या उत्पन्न हुई। जटिल इसलिए कि मैं आगम साहित्य में भी प्रविष्ट होना चाहती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थी और साथ ही जिस धर्म संघ में मैं दीक्षित हुई हूँ, उस संघीय साहित्य को भी अपनी सेवाएँ समर्पित करना चाहती थी। इस द्वन्द्व में मेरा खूब समय बीता। कभी इस ओर पलड़ा भारी होता तो कभी उस पार पहुँचती। समय बीतता रहा पर निर्णायक पल का मुझे लम्बे समय तक इन्तजार करना पड़ा। आखिर दो वर्ष पूर्व जब हम जोधपुर प्रवास कर रहे थे, उस समय विषय चुनाव हेतु पू. गुरुवर्या श्री ने जैन दर्शन के प्रखर विद्वान्, आदरणीय, सरल स्वभावी डॉ. श्री धर्मचन्द जी जैन को निवेदन किया।

डॉ. जैन चूँकि उस समय 'जिनवाणी' पत्रिका का आगम विशेषांक तैयार कर रहे थे, अत: उन्होंने तुरन्त ही 'सूत्रकृतांग सूत्र का दार्शनिक अध्ययन' विषय पर शोध प्रबन्ध लिखने का सुझाव दिया। गुरुवर्याश्री के आदेश पर मैंने इसे तुरन्त स्वीकार कर लिया।

जोधपुर प्रवास के पश्चात् क्रमश: हम विहार करते हुए चातुर्मास हेतु पालीताणा पहुँचे। राँका परिवार द्वारा आयोजित चतुर्विध संघ के चातुर्मास की अवधि में तो समयाभाव रहा पर चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् कुछ समय के लिए उदयपुर से मेरे परम आदरणीय, विद्वद्वर्य, पुरुषार्थ के धनी डॉ. कर्नल श्री डी.एस. बया पधारे। उनके आत्मीयता भरे कड़े उपालम्भ से ही मेरा शोध कार्य प्रारम्भ हो सका।

यद्यपि पालीताणा में शोध के लिए अपेक्षित पुस्तकालय का अभाव था, फिर भी प्रारम्भिक लेखन-पठन की पूर्ति हो गयी। आगे के अध्याय-लेखन हेतु मैं अपने मार्गदर्शक, परम त्यागी, इन्द्रियजेता डॉ. श्री जितेन्द्र भाई शाह के आग्रह व गुरुवर्या श्री के निर्देश से अहमदाबाद पहुँची।

अहमदाबाद नवरंगपुरा दादावाड़ी का श्रद्धा और भक्ति भरा अनुकूल वातावरण.... दादा गुरुदेव की बरसती अमृतधारा ..... हजारों-लाखों की उमड़ती भीड़.....। मेरे लिये वह पावन परिसर वरदान बन गया। यहाँ लेखन के दौरान मुझे जब-जब कठिनाई का अहसास हुआ, गुरुदेव ने तब-तब मेरे मानस के बन्द द्वारों को उद्घाटित कर मेरी लेखन यात्रा को अपने आशीष से आलोकित किया। उन करूणापुंज गुरुदेव को मेरी असीम वन्दनाएँ समर्पित है।

साथ ही लालभाई दलपतभाई शोध संस्थान का अपेक्षित सहयोग.....

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय-समय पर मेरे शोध निर्देशक श्री डॉ. जितेन्द्र भाई का आत्मीय एवं सफल मार्गदर्शन....। निश्चय ही ये सब कुछ मेरे शोध कार्य को आगे बढ़ाने में खूब उपयोगी रहे।

अहमदाबाद प्रवास लगभग चार माह का रहा। तीन अध्याय तक का लेखन यहाँ सम्पन्न हो गया पर पुन: विहार के कारण लेखन में अवरोध आ गया। आगामी चातुर्मास मुम्बई होने से हमें अक्षय तृतीया के बाद तुरन्त ही विहार करना पड़ा।

मुम्बई चातुर्मास में पर्युषण पश्चात् का सारा समय शोध ग्रन्थ को समर्पित रहा। फिर भी कभी सम्बन्धित साहित्य का अभाव, तो कभी व्यवस्थाओं में बीतता समय। मुम्बई में चार्तुमास बाद भी दो माह तक उपधान तप के कारण रहना हो गया, उस दौरान मेरा शोध ग्रन्थ लगभग वहाँ पूरा हो गया।

उसके बाद का कार्य भी कम न था। प्रुफ संशोधन, प्रस्तावना, सन्दर्भ ग्रन्थसूची, विषयानुक्रमणिका आदि सारा कार्य विहार यात्रा के दौरान सम्पन्न हो गया। इस प्रकार मेरी यह शोधयात्रा प्रारम्भ गुजरात में हुई, पूरी महाराष्ट्र में हुई और उसका शेष कार्य कर्णाटक में सम्पन्न हुआ। तीन राज्यों की यात्रा करते हुए मेरी इस शोधयात्रा को विराम मिला है।

यह तो हुई मेरी शोधयात्रा की चर्चा पर इस शोधयात्रा के सहयोगी भी कम न थे।

सर्व प्रथम मैं प्रणत हूँ मेरी आस्था के दीप, परम पूज्य गुरुदेव उपाध्यायप्रवर श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. के प्रति, जो हजारों की भीड़ और हजार व्यस्तताओं के बीच भी प्रतिदिन मुझे "शोध कार्य ने प्रगति की कितनी सीढ़ियाँ पार की" यह पूछना, समय-समय पर इसे देखना, आवश्यकता होने पर समझाना नहीं भूलते थे। मुझे आगे बढ़ने का प्रोत्साहन देकर उन्होंने एक ओर जहाँ गुरु की गरिमा को गौरवान्वित किया, तो वहीं बड़े भाई होने के नाते वात्सल्य भरे दायित्व को भी बखूबी निभाया। मेरी भाव-भरी अगणित वन्दना है पूज्य चरणों में।

इन क्षणों में अपने प्रिय अनुज स्वाध्याय प्रेमी, मितभाषी श्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनितप्रभजी के आत्मीय सहयोग को कैसे विस्मृत कर सकती हूँ, जिन्होंने अपनी स्वाध्याय एवं अध्ययन सम्बन्धी व्यस्तताओं के बावजूद भी मेरे लिखे हुए अध्यायों को अपनी सुन्दर लिपि में पुनर्लेखन कर प्रस्तुति के योग्य बनाया। मैं कृतज्ञता ज्ञापन के द्वारा उनके प्रेम पगे अपनत्व के भावों का मूल्यांकन कर उसे सीमित नहीं करना चाहती। असीम उनकी आत्मीयता शब्दों के दायरे में सिमट जाये, यह मुझे कतई अभीप्सित नहीं है। मेरी हार्दिक मंगल कामनाएँ है अनुज मुनि के प्रति।

अबोध बालिका, मात्र 6 या 7 वर्ष की उम्र, कोरे कागज-सा हृदय और उसी हृदय पर जिनके वात्सल्य के छींटे बिखरे... नि:सन्देह मेरी दादी गुरु, परम पूजनीया, आगम ज्योति, स्व. प्रवर्तिनीजी श्री प्रमोदश्री जी म.सा., जिनकी हूबहू तस्वीर तो मेरे मानस पटल पर अंकित नहीं है, शायद यह एक बार ही दर्शन और वह भी अल्प समय के लिये किये हुए का ही परिणाम है। उनके दिव्याशीष ने ही मुझे आज इस मुकाम तक पहुँचाया है। मेरी श्रद्धासिक्त अनंतश: वन्दनाएँ-समर्पित है उन आगम ज्योति के श्रीचरणों में।

जिनकी पावन सान्निध्यता हमारा संबल है, उन परम पूजनीया समता चक्रवर्ती श्री प्रकाश श्री जी म.सा., जिनका असीम वात्सल्य भरा संरक्षण शिशु अवस्था में और संयमी जीवन में सदैव प्राप्त होता रहा है, उन परम पूजनीया, दृढ़ संकल्प की धनी, ताईजी म. श्री रतनमाला श्री जी म.सा. के पावन चरणों में विनम्र वन्दनाएँ प्रस्तुत करने के साथ भविष्य में भी उनसे इसी प्रकार की अमीवृष्टि की कामना करती हूँ।

शोध प्रबन्ध की पूर्णाहूति के मंगलमय इन क्षणों में... जीवन के प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में जिनका आशीष ही मेरा आदि मंगल है, जीवन की प्रत्येक उपलब्धि में जिनका कुशल मार्गदर्शन ही मेरा आलम्बन है, जीवन के हर कदम पर जिनका असीम वात्सल्य ही मेरा संबल है, उन परम पूजनीया, परम श्रद्धेया, मेरे हृदय के कण-कण में विराजमान गुरुवर्या श्री डॉ. विद्युत्प्रभाश्री जी म.सा. के पावन चरणों में श्रद्धासह सर्वतोभावेन प्रणत हूँ। मुझे उन्होंने जहाँ शैशव काल में अपनी स्नेहसुधा से भिगोया, वहीं युवावस्था की ओर अग्रसर होते मेरे जीवन को अपनी ज्ञानसुधा का अप्रतिम आलोक प्रदान कर संयम पथ पर आरूढ़ किया। वे मेरे अबोध बचपन की बहिन है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो संयमी जीवन की अनुशास्ता गुरुवर्या भी हैं। मुझ पर उनकी वात्सल्य-वर्षा मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। आज मैं जो कुछ भी हूँ, उन्हीं की महती कृपा की बदौलत हूँ। मेरी हर सफलता का श्रेय उनके श्रीचरणों में समर्पित है।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में मेरा अपना कुछ भी नहीं है। उन्हीं की बहुश्रुतता मेरी भावचेतना में विराजमान होकर लेखनी के माध्यम से प्रवाहित हुई है। उनकी पावन प्रेरणा और पुनित प्रसाद से ही मेरी यह शोधयात्रा आज अपने मुकाम तक पहुँची है। अन्यथा मुझ में वह योग्यता कहाँ कि कुछ लिख पाऊँ? उनके उपकारों का स्मरण असीम अनुभूतियों में है। वे मेरे अपने है अत: उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन कर मैं अपने आप को तुच्छ ही बनाऊँगी। वे मेरे जीवन को अपनी अमीवर्षा के द्वारा सदैव हराभरा रखे, अपनी दृष्टि-कृपा की मीठी छाँव के द्वारा सदैव शीतल रखे, उनकी ज्ञान-रश्मियों का उज्ज्वल-आलोक मेरे संयम पथ को सदैव आलोकित करता रहे..... इसी एकमात्र अभीप्सा के साथ गुरु चरणों में पुनश्च भाव वन्दना।

कृतज्ञता ज्ञापन के इन क्षणों में मैं हार्दिक कृतज्ञ हूँ मेरी अनन्य सहयोगिनी ज्येष्ठ भगिनी आदरणीया शासनप्रभा जी म.सा. के प्रति, जिनका स्नेह-सद्भाव भरा सहकार वैराग्य अवस्था के प्रथम चरण से लेकर आज तक नि:स्वार्थ भाव से उपलब्ध हुआ है। उनका अपनत्वभाव अभिव्यक्ति का विषय नहीं, वरन् मेरी अनुभूतियों में समाहित है। साथ ही मैं कृतज्ञ हूँ गुरुनिश्रान्तेवासिनी, परमप्रिय भगिनी-वृन्द प्रज्ञांजना जी, दीप्तिप्रज्ञा जी, नीतिप्रज्ञा जी, विभांजना जी एवं विज्ञांजना जी के प्रति, जिनसे अपेक्षित स्नेहसिक्त आत्मीयता तो मिली ही, साथ ही प्रेमभरा सहयोग भी पूरा-पूरा मिला। समस्त सामुदायिक सेवाओं से मुक्त कर उन्होंने मुझे अध्ययन हेतु भरपूर समय एवं एकान्त उपलब्ध करवाया। मैं उनकी सहयोगी मानसिकता को अनुभूत तो कर सकती हूँ पर अभिव्यक्ति का जामा पहनाकर शब्दों के दायरे में समेट नहीं सकती। उनका अगाध स्नेह मुझे सदैव मिलता रहे, यही हार्दिक आकांक्षा है।

विशेष रूप से उल्लेखनीय है भगिनी श्री दीप्तिप्रज्ञाजी एवं विभांजनाजी का प्रेमपूर्ण सहयोग, जो शोधयात्रा के दौरान अहमदाबाद प्रवासकाल में मिला।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रसन्नता की इस मंगलवेला में मुझसे भी अधिक जिनके आनन्द की कल्पना मैं कर सकती हूँ, वे है- आदरणीय, श्रद्धास्पद श्री आर.एम. कोठारी, आई.ए.एस., जोधपुर। उनका प्रोत्साहन मुझे बोर्ड (दसवीं) की परीक्षा से लेकर आज तक पूरा-पूरा उपलब्ध रहा। परीक्षा या अध्ययन सम्बन्धी कार्य में कोई भी अवरोध आया तो तुरन्त ही उन्होंने अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा लगाकर उसे दूर किया। कभी उनके उत्साह भरे सहयोग के लिये आश्चर्य होता तो कभी अनुमोदन। वैसे उनका रोम-रोम अध्ययन को ही समर्पित है, जो सर्वविदित है। मैं इन भावभरे क्षणों में उन्हें भी सम्मिलित करना चाहती हूँ।

ज्ञान और वैराग्य के पूर्ण संगम, अर्हत्वाणी जिनकी जुबां के साथ आचरण में भी अभिव्यक्त है, ऐसे मेरे शोधनिर्देशक, साथ ही मेरे विरक्त भावों के विकास में सहयोगी श्री जितेन्द्रभाई, जिन्होंने अपना अनमोल समय और श्रम लगाकर मेरे शोध-ग्रन्थ को समय-2 पर जाँचा तथा उसमें आवश्यक संशोधन करवाये, के निर्मल, निश्छल सहयोग के प्रति सविनय प्रणत हूँ ।

मेरी शोध-यात्रा जिनकी प्रेरणा, उपालंभ एवं स्नेहसिक्त निर्देशों से गतिशील हुई, उन जैन दर्शन के गहन अध्येता, जिनवाणी को समर्पित डॉ. श्री डी.एस. बया के वात्सल्यसिक्त भावों के प्रति भी सादर कृतज्ञ हूँ ।

परमविदुषी, अध्ययन समर्पिता, सरलता की प्रतिमूर्ति डॉ. सुषमाजी सिंघवी की पूर्ण कृतज्ञ हूँ, जिनका स्नेहपूर्ण सहकार मुझे समय-2 पर उपलब्ध होता रहा है। वे भारतीय दर्शन की जहाँ पूर्ण विदुषी है, वहीं संस्कृत तथा न्याय विषय की विशेषज्ञा। अध्ययन और अध्यापन उनका प्राण है, तो जिनशासन उनकी धड़कन। उदयपुर चार्तुमास के दौरान मुझे उनसे अध्ययन करने का अवसर मिला था और उस दौरान जब वे विषय का प्रतिपादन करती तो लगता, माँ सरस्वती उन पर पूर्ण मेहरबान है। मैं उनके आत्मीय सहयोग के प्रति हार्दिक विनत हूँ।

मैं अपने आदरणीय, भक्तिनिष्ठ, सरल स्वभावी पिताश्री बाबूलाल जी एवं माताजी अ. सौ. आदरणीया श्री कमलादेवी के प्रति जितनी भी कृतज्ञता ज्ञापित करूँ, मेरी बालचेष्टा ही होगी। उन्होंने मुझे जन्म ही नहीं दिया अपितु जीवन जीने के संस्कार भी दिये और संस्कारों के साथ ही मेरी तीव्र भावनाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को देखकर अपनी ममता का विसर्जन करते हुए मुझे संयम पथ की ओर अग्रसर होने की अनुमति प्रदान की। मुझे जितना गौरव अपने गुरुजनों को पाकर है, उतना ही गर्व उन जैसे माता-पिता को पाकर है।

आभार ज्ञापन के इन क्षणों में परम आत्मीय गुरुभक्त श्री द्वारकादासजी डोसी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मेरा पावन कर्त्तव्य है। जिस अवधि में मैंने गुरुवर्या श्री की सान्निध्यता प्राप्त की थी, उस मुमुक्षु अवस्था एवं बाद में संयमी जीवन के दौरान उनका आत्मीय सहकार मुझे सदैव उपलब्ध होता रहा है।

इस मंगल वेला में मेरी स्मृतियों में तरंगित हो रहा है एक पूर्णतया समर्पित, श्रद्धानिष्ठ परिवार, जिनकी सेवाएँ कहीं भी और कभी भी उपलब्ध हो सकती है। हमारे संघ को सर्वात्मना समर्पित, सरलता की प्रतिमूर्ति, सेवाभावी "जीजी" श्री पुष्पाजी का योगदान मुम्बई के दौरान ही नहीं, यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध है। मुम्बई चातुर्मास के पश्चात् भायखला दादावाड़ी में उपधान तप की आराधना का वातावरण था। अत: मैं अपने शोध-कार्य के दौरान उनके आवास पर ही रही और उस समय उनकी व उनके सुपुत्र श्री केतन जैन एवं चेतन जैन आदि सभी की जो आत्मीयता रही, वह मेरे स्मृति कोष की अमुल्य अमानत है।

उपलब्धि के इन क्षणों में प्रसन्नता से अधिक मानस अवसाद ग्रस्त है। कितना अच्छा होता नियति मेरी भावनाओं से इतना अधिक खिलवाड़ न करती और मेरे जीवन के महत्त्वपूर्ण उन क्षणों में उनके मुँह से "बधाई" शब्द सुनती। उनके अभाव की मेरी यह दुनिया सर्वसम्पन्न होने पर भी आज कुछ शून्यता का अहसास कर रही है। हमारे सम्पूर्ण संघ के पितृपुरुष, वात्सल्यचेता श्री हरखचन्दजी नाहटा की पावन स्मृति को ही प्रणाम कर सन्तोष करना पड़ रहा है। बहुत अधिक वात्सल्य मिला था मुझे उनसे। आज भी उनसे जुड़ी हुई घटनाएँ मस्तिष्क में उभरकर उनके होने का सुखद अहसास करा जाती है।

मैंने शोधग्रन्थ के लेखन में लालभाई दलपतभाई विद्या मन्दिर - अहमदाबाद, हरिविहार - पालीताणा, साहित्य मन्दिर - पालीताणा, जहाज मन्दिर - माण्डवला, महावीर स्वामी देरासर - मुम्बई, दादावाड़ी - पूना आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पुस्तकालयों का पूरा-पूरा उपयोग किया है। वहाँ के व्यवस्थापकों के सहयोगी भावों का मैं हार्दिक अनुमोदन करती हूँ।

प्रस्तुत शोध की सम्पूर्ति में ज्ञात-अज्ञात, प्रत्यक्ष वा परोक्ष, जिन-जिनका सहयोग मुझे मिला है, उनका ससम्मान स्मरण करते हुए मुझे आत्मिक आह्लाद की अनुभूति हो रही है। भविष्य में भी उन सबका सहयोग मुझे मिलता रहेगा, ऐसी आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है।

अन्त में परमकल्याणी, विश्वतापसंहारिणी आगम वाणी को अगणित श्रद्धा भावों से नमन करती हुई समर्पण के इन शब्दों में मेरा भी स्वर मिलाने के निवेदन के साथ

त्वदीयमेव गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये.....

विनम्र

साध्वी नीलांजना

गुरुपूर्णिमा, ई.स. 2004
श्री जिनकुशलसूरि दादावाड़ी, बेंगलोर (कर्नाटक)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रमणिका

मंगलामृतम्	ix
श्रेयोवाक्	xi
प्रज्ञाभिनन्दना	xiii
प्रशंसनीय नूतन प्रस्थान	xvi
आनन्दानुभूति	xvii
सुप्रभातम्	xix
वर्धापना	xxi
आत्म-निवेदन	xxiii

1. जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन		**37**
1.	वैदिक संस्कृति	37
2.	श्रमण संस्कृति	37
3.	जैन श्रमण परम्परा	38
4.	बौद्ध श्रमण परम्परा	38
5.	आगम साहित्य	39
6.	आगम का महत्व	41
7.	आगम के पर्यायवाची शब्द	41
8.	आगम शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा	41
9.	आगमों के प्रकार	44
10.	आगमों के रचयिता	45
11.	आगमों की प्रामाणिकता	46
12.	आगमों का वर्गीकरण	47

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

13. आगमों की रचना के प्रकार 52
14. आगमों की संख्या 53
15. आगमों की भाषा 53
16. आगमों की वाचनाएँ 55
17. आगम - विच्छेद का क्रम 59
18. आगम लेखन युग 59
19. आगमों का व्याख्यात्मक साहित्य :
निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका साहित्य 60
20. अनुवाद परम्परा 65

2. सूत्रकृतांग सूत्र का परिचय एवं उसका व्याख्या साहित्य 71

1. सूत्रकृतांग का अर्थ 71
2. सूत्रकृतांग के रचनाकार 73
3. सूत्रकृतांग का रचनाकाल 74
4. सूत्रकृतांग की रचना शैली 75
5. सूत्रकृतांग एक विश्लेषण 76
(1) श्रुतस्कंध (2) अध्ययन (3) उद्देशक
(4) पदपरिमाण (5) वाचना (6) अनुयोग द्वार
(7) छंद (8) निर्युक्ति (9) प्रतिपत्ति
6. सूत्रकृतांग की विषयवस्तु 80
7. सूत्रकृतांग सूत्र का संक्षिप्त अध्ययन परिचय 81
8. सूत्रकृतांग सूत्र का व्याख्या साहित्य 85
(1) सूत्रकृतांग निर्युक्ति 85
(2) सूत्रकृतांग चूर्णि 87
(3) सूत्रकृतांग टीका 89
(4) सूत्रकृतांग वार्तिक 91
9. सूत्रकृतांग सूत्र के अनुवाद 92
हिन्दी 92
गुजराती 94
अंग्रेजी 95

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. सूत्रकृतांग सूत्र का सर्वांगीण अध्ययन **101**

प्रथम श्रुतस्कंध

1. समय अध्ययन 101
2. वैतालिय अध्ययन 108
3. उपसर्ग परिज्ञा अध्ययन 114
4. स्त्री परिज्ञा अध्ययन 122
5. नरक विभक्ति अध्ययन 128
6. वीर स्तुति अध्ययन 135
7. कुशील परिभाषा अध्ययन 139
8. वीर्य अध्ययन 144
9. धर्म अध्ययन 148
10. समाधि अध्ययन 150
11. मार्ग अध्ययन 151
12. समवसरण अध्ययन 156
13. याथातथ्य अध्ययन 161
14. ग्रन्थ अध्ययन 164
15. जमतीत अध्ययन 168
16. गाथा अध्ययन 170

द्वितीय श्रुतस्कंध

1. पुण्डरीक अध्ययन 173
2. क्रियास्थान अध्ययन 179
3. आहारपरिज्ञा अध्ययन 189
4. प्रत्याख्यान अध्ययन 195
5. आचारश्रुत - अणगारश्रुत अध्ययन 198
6. आर्द्रकीय अध्ययन 201
7. नालन्दीय अध्ययन 214

4. सूत्रकृतांग सूत्र में वर्णित वादों का दार्शनिक विश्लेषण **223**

1. पंचमहाभूतवाद 223
2. एकात्मवाद 235
3. तज्जीव-तच्छरीरवाद 240

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. अकारकवाद 248
5. आत्मषष्ठवाद 255
6. क्षणिकवाद 260
7. नियतिवाद 268
8. कर्मोपचयनिषेधवाद 280
9. जगत्कर्तृत्ववाद 288
10. अवतारवाद 309
11. लोकवाद 315
12. सूत्रकृतांग में विभिन्न मोक्षवादियों की मिथ्या धारणाएँ 323

5. सूत्रकृतांग सूत्र के समवसरण अध्ययन में प्रतिपादित चार वाद तथा 363 मत 331

1. अज्ञानवाद 331
2. विनयवाद 344
3. अक्रियावाद 348
4. क्रियावाद 355

6. सूत्रकृतांग सूत्र में वर्णित वादों का तुलनात्मक अध्ययन 361

1. प्रमुख जैनागमों में वर्णित पंचमहाभूतवाद तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद की समीक्षा 361
2. नियतिवाद का अन्य आगमों में प्रस्तुतिकरण 373
3. आगमों में जगत्कर्तृत्ववाद का उल्लेख एवं उसका खण्डन 382
4. स्थानांग सूत्र में वर्णित अक्रियावाद एवं दार्शनिक मान्यताएँ 385
5. भगवती सूत्र में अवतारवाद की अवधारणा का खण्डन 388
6. आगमों में लोकवाद की विचारणा 389

7. उपसंहार 397

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची 409

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1

जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन

भारतीय संस्कृति प्राचीनकाल से ही दो धाराओं में विभक्त होकर प्रवाहित होती रही है - वैदिक संस्कृति एवं श्रमण संस्कृति।

वैदिक संस्कृति

वैदिक संस्कृति के सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रमाणभूत ग्रन्थ चार वेद हैं। वेद के अनुयायी इन वेदों को अनादि तथा अपौरूषेय मानते हैं। इनके अनुसार वेद ग्रन्थ किसी व्यक्ति विशेष द्वारा निर्मित नहीं है। अत: वे अपौरुषय होने से स्वत: प्रमाणभूत हैं।

इन वेदों की विषयवस्तु है- विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति तथा यज्ञ-याग आदि की महत्ता। इन वेदों के आधार पर ही ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों का निर्माण हुआ है और इसी कारण इनमें यज्ञ आदि कर्मकाण्डों को मुख्यता दी गई है। इन वेदों के पश्चात् उपनिषद्, गीता, महाभारत, धर्मसूत्र तथा स्मृति आदि अनेक ऐसे ग्रन्थों की रचना हुई, जो वैदिक धर्म साधना तथा आचार-विचार के मार्गदर्शक ग्रन्थ माने जाते हैं। इस वैदिक संस्कृति में वर्ण व्यवस्था का स्वर भी मुख्य रहा है और वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत चूँकि ब्राह्मण वर्ण सर्वश्रेष्ठ मान्य किया गया अत: इसका अपर नाम ब्राह्मण संस्कृति भी रहा है।

श्रमण संस्कृति

श्रमण संस्कृति अनादिकाल से चली आ रही आचार प्रधान संस्कृति है। इस संस्कृति का मुख्य स्वर अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह रहा है। आज से 2500 वर्ष पूर्व श्रमण महावीर के समकालीन ही जब महात्मा बुद्ध का उदय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ तो श्रमण संस्कृति स्वत: ही दो खण्डों में विभाजित हो गई - जैन श्रमण परम्परा एवं बौद्ध श्रमण परम्परा।

जैन श्रमण परम्परा

इस संस्कृति का मुख्य लक्ष्य विचारों की निर्मलता एवं आचार की पवित्रता रहा है। राग-द्वेष की ग्रन्थियों से जो सर्वथा मुक्त हो चुके हैं अथवा मुक्त होने के लिये सतत संयम साधना में पूर्ण प्रयत्नशील हैं, वे निर्ग्रन्थ श्रमण कहलाते है। उन्हें जैन भिक्षु के रूप में भी सम्बोधित किया जाता है।

इस निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति के प्रणेता वे वीतराग सर्वज्ञ होते हैं, जो राग-द्वेष रूप आत्म शत्रुओं को सम्पूर्णत: अपनी आत्मा से अलग कर देते हैं एवं परिणामस्वरूप अपनी आत्मा में कभी भी नष्ट न होने वाला केवलज्ञान का अनन्त और अखण्ड आलोक प्रकट करते हैं। अपने उसी केवलज्ञान के प्रकाश में वस्तु का जैसा स्वरूप एवं स्वभाव वे देखते हैं, उसको वैसा ही अपने श्रीमुख से वर्णित करते हैं।

इनके द्वारा प्ररूपित वचन ही आप्त वचन या आगम कहलाते हैं। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान या आचार-विचार को सम्यक् सम्बोध देने वाले शास्त्र-वचन। ये आगम ही जैन धर्म, दर्शन तथा संस्कृति के मुख्य आधार स्तम्भ एवं संवाहक हैं।

बौद्ध श्रमण परम्परा

महात्मा बुद्ध के शिष्य एवं अनुयायी शाक्य अथवा बौद्ध भिक्षु कहलाये। इनका आचार मध्यम मार्ग कहलाता है। इनकी संस्कृति में करूणा की मुख्यता है। ये आचार की कठोरता इतनी ही स्वीकारते हैं, जितनी सामान्य रूप से सहन की जा सके। इनका प्रसिद्ध वाक्य है - वीणा के तार उतने मत कसो कि तार टूट जाय और इतना ढीला भी न छोड़ो कि तार बजे ही नहीं। इनके मुख्य ग्रन्थ हैं- बौद्ध त्रिपिटक।

जैन एवं वैदिक संस्कृति में अन्तर - जैन संस्कृति अध्यात्म प्रधान रही है। इसके प्रणेता सर्वज्ञ केवलज्ञानी तीर्थंकर परमात्मा रहे हैं जबकि वैदिक संस्कृति में कर्मकाण्ड, यज्ञ, यागादि एवं वर्ण व्यवस्था की प्रधानता रही है। इसके प्रणेता कोई विशिष्ट व्यक्ति न होकर ईश्वर को माना जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम साहित्य

जैन आगम जैन दर्शन की या भारतीय संस्कृति की ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व की अनमोल सम्पदा है। इसमें मात्र जैन दर्शन की मान्यताओं को ही पुष्ट नहीं किया गया है, अपितु इसमें सम्पूर्ण विश्व का खगोल, भूगोल और विज्ञान विषय भी समाविष्ट है। इसका बाह्य कलेवर जितना विशाल एवं विराट् नजर आता है, चिन्तन भी उतना ही विशाल, गहरा एवं सूक्ष्म है। जैनागम का लक्ष्य किसी दर्शन का खण्डन या निरसन न होकर मात्र वस्तु स्वरूप का यथार्थ अवलोकन है।

इन जैनागमों के प्रणेता न तो दार्शनिक थे, न बौद्धिक। न राज्याश्रित थे, न प्रसिद्धि इच्छुक। ऐसा भी नहीं है कि जैनागम किसी व्यक्ति विशेष की धरोहर है। जैन दर्शन की यह स्पष्ट मान्यता है कि जब कोई आत्मा-विशेष अनादिकालीन ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घाती कर्मों (जिनसे आत्मा के अनन्त गुणों का घात होता है) का क्षय कर लेता है, अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से आत्मा की मलीनता को सम्पूर्ण धो देता हैं, राग-द्वेष का सम्पूर्ण क्षय कर लेता हैं, उत्कृष्ट साधना के बल से विकार मुक्त होकर गुण स्थानक का क्रमशः आरोहण करते हुए अनन्तज्ञान/केवलज्ञान को उपलब्ध होता है, तब वह सर्वज्ञ कहलाता हैं। इस सर्वज्ञता की स्थिति में आत्मा की सुषुप्त समस्त शक्तियाँ शत-प्रतिशत उद्घाटित हो जाती हैं। ऐसे सर्वज्ञ केवलज्ञानी परमात्मा के वचन ही आप्त वचन अथवा आगम कहलाते हैं क्योंकि केवलज्ञानी परमात्मा के वचन ही निर्दोष हो सकते हैं। जब तक आत्मा राग-द्वेष युक्त है, तब तक उसका कथन न तो निर्दोष हो सकता है और न अविसंवादी हो सकता है। अविसंवादी अर्थात् पूर्वापर विरोध से रहित।

उन तीर्थंकर केवलज्ञानी परमात्मा की जनकल्याणकारिणी, प्राणीमात्र के संबोध के लिये वही वाणी रूपी अमृतधारा को महान्, प्रज्ञावान् गणधर भगवन्त अपनी प्रखर प्रतिभा से द्वादशांगी के रूप में ग्रथित करते हैं और वही आगम कहलाते हैं।

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ।।[1]

अरिहन्त परमात्मा अर्थ रूपी वाणी का प्रवचन करते हैं तथा शासन के हित के लिये गणधर भगवन्त उसे सूत्रबद्ध करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह आगमवाणी ही आज तीर्थंकर परमात्मा की अनुपस्थिति में हमारी आत्मा का मार्गदर्शन करती है। यही हमारे जीवन कल्याण का मुख्य आधार एवं स्रोत है।

इन आगमों को हम अपेक्षाकृत शाश्वत भी कह सकते हैं और अशाश्वत भी। यह आगमवाणी अर्थरूप में अनादिकाल से विद्यमान है और अनादिकाल तक विद्यमान रहेगी इस अपेक्षा से शाश्वत है, परन्तु शब्द रूप में प्रत्येक तीर्थंकर के समय में उनके अपने गणधर द्वादशांगी का निर्माण करते हैं अत: अशाश्वत भी है।

इन आगमों की एक विशिष्टता यह भी है कि इसके स्रष्टा यद्यपि आत्मज्ञ या आत्म साधक है, परन्तु इसकी विषयवस्तु अत्यन्त व्यापक है। अत: आगमों का परिशीलन मात्र मोक्षाभिलाषी या आत्मकल्याण के इच्छुक साधकों के लिये ही उपयोगी नहीं है, अपितु प्रत्येक विषय का जिज्ञासु जैनागमों से इच्छानुसार समस्त प्रकार की समस्याओं का समाधान पा सकता है।

यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि जैनागम जीवन में एक नया विश्वास, नया आश्वास और नयी चेतना का संचार करते हैं। ये ग्रन्थ जहाँ एक ओर आत्मोत्थान की भूमिका प्रस्तुत करते हैं, वहीं व्यवहारिक जीवन की सफलता का आधार भी बनते हैं। इनमें जहाँ आत्मा की शाश्वत सत्ता का उद्घोष है, वहीं संसार एवं सांसारिक समस्त पदार्थों के प्रति असारता का बोध भी गूँजता है।

आगम में जो कुछ वर्णित है, वह सर्वज्ञ भगवन्तों का अनुभूत सत्य है। यही कारण है कि इनमें आत्मसाधना का जैसा क्रमिक एवं वैज्ञानिक विवेचन उपलब्ध होता है, वैसा किसी भी भारतीय साहित्य या पाश्चात्य साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। भारतीय साहित्य के किसी दर्शन में अध्यात्मवाद उपलब्ध होता है, तो किसी में लोकचिन्तन। जैसे वेदों में आध्यात्मिक चिन्तन अल्पमात्रा में है, परन्तु उपनिषद् में मात्र आत्मचिन्तन ही है। इनमें ब्रह्मवाद व अध्यात्म की अवधारणा इतनी गम्भीर है कि उसे समझना जन-साधारण के लिये असम्भव है।

पाश्चात्य साहित्य का तो विकास ही आलोचना की भूमिका पर होता है। जर्मन दार्शनिक सुप्रसिद्ध अन्वेषक एवं जिज्ञासु हर्मन जेकोबी, डॉक्टर शुब्रिंग आदि मुक्त हृदय से स्वीकार करते हैं कि दर्शन और जीवन का, आचार और विचार का, भावना और कर्त्तव्य का सन्तुलित विवेचन एवं समन्वय जैसा जैनागमों में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम का महत्त्व

भारतीय साहित्याकाश में जैनागम प्रखरता के साथ आदित्य की तरह दैदीप्यमान है। वैदिक परम्परा में जो स्थान वेदों का है, बौद्ध परम्परा में जो स्थान त्रिपिटक का है, पारसी धर्म में जो स्थान उवेस्ता का है, ईसाई धर्म में जो स्थान बाईबिल का है, जैन परम्परा में वही स्थान आगमों का है। वेदों में एकान्तवासी संन्यस्त ऋषिमुनियों के विचारों का संकलन है, तो त्रिपिटक महात्मा बुद्ध की करुणा का प्रतिबिम्ब है। आगमों में तीर्थंकर परमात्मा की परम निर्मल और निर्दोष मनीषा अविरल छलकती है। प्रश्नव्याकरण में कहा है -

'सव्व जगजीव रक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं'

संसार के चराचर समस्त जीवों की रक्षा तथा कल्याण के लिये भगवान् द्वारा प्रवचन दिया गया।

आगम के पर्यायावाची शब्द

आगम शब्द के सार्थक अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं। इन सभी शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, पर ये सभी अर्थ आगमों के साथ सटीक लागू होते हैं। जैन शास्त्रों को श्रुत, सुत्त या आगम कहा जाता है। यद्यपि वर्तमान में आगम शब्द अधिक प्रयोग में आने लगा है, परन्तु प्राचीनकाल में श्रुत शब्द का अधिक उपयोग हुआ है।[2] श्रुतकेवली, श्रुतस्थविर[3] आदि शब्दों का प्रयोग आगमों में बहुतायत से हुआ है, परन्तु आगम केवली या आगम स्थविर शब्द उपलब्ध नहीं होता।

सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम,[4] आप्त वचन, एतिह्य, आम्नाय, जिनवचन[5] ये सारे आगम के ही पयार्यवाची शब्द हैं।

श्रुत का शाब्दिक अर्थ है- सुना हुआ अर्थात् तीर्थंकरों से सुना हुआ ज्ञान 'श्रुतज्ञान' कहलाता है। चूँकि यह ज्ञान गुरु परम्परा से सुनकर ही क्रमशः चलता था इसलिये भी 'श्रुत' या 'सुय' कहलाता था। संस्कृत व्याकरण शास्त्रियों ने इसी को सूत्र रूप दे दिया।

आगम शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

आङ् उपसर्ग पूर्वक गम्लृगतौ धातु से घञ् प्रत्यय लगने पर आगम शब्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्पन्न होता है।[6] आङ् उपसर्ग का प्रयोग ईषद् अभिव्याप्त आदि अर्थों में होता है। आङ् उपसर्ग के साथ 'अत सातत्य गमने' धातु से बाहुलकात् अङ् प्रत्यय लगने पर भी आगम शब्द बनता है। अमरकोषकार ने निम्न अर्थों में आङ् का निर्देश किया है -

'आङीषदर्थे अभिव्याप्तौ सीमार्थे धातु योगजे'[7] अर्थात् आङ् उपसर्ग ईषद्, अभिव्याप्ति, सीमा और धातुयोग इन अर्थों के लिए प्रयुक्त होता है।

आङ् उपसर्ग का अर्थ है- आ समन्तात् अर्थात् पूर्ण। गम् धातु का अर्थ है- गति अथवा प्राप्ति। यह सिद्धान्त है कि 'ये गत्यर्थका: ते ज्ञानार्थका अपि भवन्ति' जो धातुएँ गत्यर्थक होती हैं, वे ज्ञानार्थक भी होती ही है। इस न्याय से गम् धातु को ज्ञानार्थक मानने पर पूर्ण का ज्ञान या पूर्णता की प्राप्ति रूप ही आगम है, यह अर्थ प्रकट होता है।

जो सतत गमन करे, सतत ज्ञान में लीन है, या जो ज्ञान का आधार है, उसे आगम कहते हैं।

'आङ्' का प्रयोग पाणिनी ने मर्यादा या अभिविधि के रूप में किया है।[8] आवश्यक निर्युक्तिकार ने लिखा है - 'आङ् अभिविधि मर्यादार्थत्वात् अभिविधिना मर्यादया वा गम: परिच्छेद: आगम:'[9] अर्थात् जिस ज्ञान को सम्यक् रूप से प्राप्त किया जाय या जो ज्ञान मर्यादा पूर्वक गुरु-शिष्य परम्परा से आ रहा है, उसे आगम कहते हैं।

साहित्य में 'गम्' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता पाया जाता है। अमरकोष में इसे गमन का पर्याय माना है। 'यात्राव्रज्यामिनिर्याणं प्रस्थानं गमनं गम'।[10] जहाँ मर्यादा पूर्वक प्रस्थान है, शाश्वत यात्रा के नियमों की जहाँ उद्घोषणा है, उसे आगम कहते हैं।

आगम शब्द की जैन दार्शनिकों एवं आचार्यों ने अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की है।

जिससे पदार्थों का मर्यादापूर्वक यथार्थबोध हो, वह आगम है।[11] आप्त वचन से उत्पन्न अर्थ (पदार्थ) ज्ञान आगम कहलाता है।[12] जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है, वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।[13] जिससे वस्तु तत्त्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो, वह आगम है।[14] जिससे मर्यादा के साथ पदार्थों का पूर्ण ज्ञान हो, वह आगम है।[15]

इन परिभाषाओं के अनुसार आगम शब्द सम्पूर्ण श्रुत साहित्य का परिचायक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। परन्तु जैन साहित्य में 'आगम' शब्द समस्त श्रुतज्ञान का संवाहक न होकर विशेष ग्रन्थों के लिये ही प्रस्तुत होता है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी आगम की विशेष परिभाषा देते हुए कहते हैं- तप, नियम, ज्ञान रूप वृक्ष पर आरूढ़ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान भव्यात्माओं के विबोध के लिये ज्ञानकुसुमों की वृष्टि करते हैं और गणधर अपने बुद्धि पट में उन सकल पुष्पों को झेलकर प्रवचन माला गूँथते हैं।[16]

नियमसार में यह स्पष्ट कहा है कि जो तीर्थंकर से उद्भुत है, वह आगम है।[17] तीर्थंकर परमात्मा के मुखारविन्द से विनिर्गत, सम्पूर्ण वस्तुओं के विस्तार के समर्थन में दक्ष एवं चतुर वचन को आगम कहते हैं।[18]

वीतराग सर्वज्ञ प्रभु द्वारा कथित षड्द्रव्य एवं सप्त तत्वादि का सम्यक् श्रद्धान एवं ज्ञान तथा व्रतादि के अनुष्ठान रूप चारित्र इस प्रकार रत्नत्रय का स्वरूप जिसमें प्रतिपादित है, उसे आगम शास्त्र कहते हैं।[19] हेय और उपादेय रूप से चार वर्गों का समाश्रयण कर तीनों कालों में विद्यमान पदार्थों का जो निरूपण करता है, वह आगम है।[20]

ऐसा नहीं है कि आगम शब्द जैन दर्शन में ही प्रयुक्त हुआ है, अपितु जैनेतर परम्परा में भी आगम शब्द का भरपूर उपयोग हुआ है। तन्त्र साहित्य के लक्ष्मी तन्त्र के उपोद्घात पृष्ठ । में वर्णित है कि अनादिकाल से गुरु परम्परा से जो आगत शास्त्र सन्दर्भ है, वह आगम है।

स्वच्छन्द तन्त्र में आगम की विशिष्टता इस प्रकार प्रकट हुई है- अदृष्टविग्रहात् शान्ताच्छिवात् परमकारणात् ध्वनिरूपं विनिष्क्रांतं शास्त्रं परमदुर्लभम्। अभूर्तादगगनाद्यद्वन्निर्धातो जायते महान् शान्तात्सविन्भयात् तद्वच्छब्दाख्यं शास्त्रम्।[21]

इसी तरह रूद्रयामल तन्त्र में भी निर्देश मिलता है- 'आगत: शिववक्त्रेभ्यो गतच्छ गिरिजानने। भग्नश्च हृदयाम्भोजे तस्मादागम उच्यते।[22]

योगदर्शन में स्वीकृत तीन प्रमाणों में से आगम भी एक प्रमाण है। प्रत्यक्षानुमाना-गम: प्रमाणानि।[23] विज्ञानभिक्षु ने योग आगम का लक्षण इस प्रकार दिया है- भ्रम, प्रमाद, उत्-कटलिप्सा, अकुशलतादि दोषों से रहित आप्तपुरुष की वाणी को आगम कहते हैं।[24] सांख्य दर्शन भी तीन प्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। शब्द ही आगम है। आप्तोपदेश: शब्द:।[25] माठरवृत्तिकार ने आगम की व्याख्या करते हुए भगवान् कपिल के वचन को उद्धृत किया है-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तदोषक्षयाद् विदुः।
क्षणदोषोनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्वैत्वसंभवात्।
स्वकर्मण्यमियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः।
पूजितस्तद्विधैनित्य माप्तो ज्ञेयः स तादृशः।

अर्थात् आप्तवचन को आगम कहते हैं। दोषों से जो शून्य हो, उसको आप्त कहते हैं। दोष शून्य व्यक्ति कभी झूठ नहीं बोल सकता। जो अपने कर्म में तत्पर हो, राग द्वेष रहित हो, ऐसे ही लोगों से सम्मानित हो, उसे आप्त कहते हैं।[26]

न्यायदर्शन चार प्रमाण मानता है - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। न्यायसूत्रकार गौतम ने आप्तोपदिष्ट वचन को शब्द प्रमाण माना है।[27]

इस प्रकार आगम शब्द को सभी भारतीय दार्शनिक साहित्यकारों ने व्यापक अर्थ में स्वीकार किया है। भगवती[28] तथा स्थानांग[29] आदि में आगम शब्द शास्त्र के अर्थ में, आचारांग सूत्र में आगम शब्द का प्रयोग जानने के अर्थ में किया गया है- 'आगमेत्ता आणवेज्जा[30]।

व्यवहारभाष्य में संघदासगणी ने आगम-व्यवहार का वर्णन करते हुए उसके दो भेद किये हैं- प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान एवं परोक्ष में चतुर्दश पूर्व एवं उनसे न्यून श्रुतज्ञान का समावेश है।[31] इससे स्पष्ट है कि जो ज्ञान है, वह आगम है। सर्वज्ञ द्वारा दिया गया उपदेश ज्ञान होने के कारण आगम ही है।

आगमों के प्रकार

आगम दो प्रकार के माने गये हैं - लौकिक एवं लोकोत्तर। जो शास्त्र आत्म शुद्धि में सहायक बनते हैं, वे लोकोत्तर एवं जो व्यवहार जगत को चलाने में सहाय्यभूत होते हैं, वे लौकिक शास्त्र कहलाते हैं। लोकोत्तर आगम के एक अपेक्षा से तीन भेद हैं - सुत्तागम, अत्थागम एवं तदुभयागम -[32] एक अन्य अपेक्षा से भी आगम के तीन भेद उपलब्ध होते हैं -आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम। आगम सूत्रात्मक एवं अर्थात्मक दो प्रकार के होते हैं। तीर्थंकर प्रभु अर्थ रूप आगम का उपदेश देते हैं अतः अर्थात्मक आगम तीर्थंकरों का आत्मागम माना जाता है, क्योंकि वह उनका स्वयं का है। किसी अन्य से उन्होंने लिया नहीं है। परन्तु वही अर्थागम गणधरों के लिए अनन्तरागम कहलाता है, क्योंकि वे उसे तीर्थंकर परमात्मा से ग्रहण करते है। उस अर्थागम के आधार पर गणधर सूत्र रचना करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इसलिये सूत्रात्मक आगम गणधरों के लिए आत्मागम होते हैं। गणधरों के साक्षात् शिष्यों को गणधरों से सूत्रागम सीधा ही मिलता है, अत: उनके लिए वह अनन्तरागम कहलाता है। गणधरों के शिष्य-प्रशिष्य और उनकी परम्परा में होने वाले अन्य शिष्य और प्रशिष्यों के लिए वही सूत्र और अर्थ दोनों परम्परागम है।[33]

उपरोक्त विभिन्न विवेचन द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि आगम तीर्थंकर परमात्मा द्वारा उपदिष्ट एवं गणधर भगवन्तों द्वारा ग्रथित आप्त वचन है।

आगमों के रचयिता

यद्यपि आगम प्रणेता तीर्थंकर परमात्मा कहलाते हैं, परन्तु इनका संकलन गणधर भगवंत करते हैं। जिस द्वादशांगी की रचना गणधर भगवन्त करते हैं, उन्हें गणिपिटक कहा जाता है। तीर्थंकर केवल अर्थ रूप उपदेश देते हैं एवं गणधर उसे सूत्रबद्ध करते हैं।[34] और इसी कारण आगमों में यत्र-तत्र 'तस्सणं अयमट्टे पण्णते' शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि आगमों की प्रामाणिकता गणधरों के कारण नहीं अपितु तीर्थंकर प्रभु की वीतरागता एवं उनकी सर्वज्ञता के कारण है। आगमों को एक अपेक्षा से तीर्थंकर प्रणीत भी कहा जाता है ।[35]

जैन अनुश्रुति के अनुसार गणधर के समान ही अन्य प्रत्येकबुद्ध (स्थविर) निरूपित आगम भी प्रमाण रूप होते हैं।[36] गणधर तो मात्र द्वादशांगी की रचना ही करते हैं, परन्तु अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं।[37]

आगम निर्माण की प्रक्रिया इस प्रकार है- जिस समय तीर्थंकर परमात्मा गणधरों को दीक्षित करते हैं, उसी समय गणधर परमात्मा से जिज्ञासा करते हैं- प्रभो ! तत्त्व क्या है ? परमात्मा एक शब्द में समाधान देते हैं- 'उप्पन्नेइ वा'। गणधर दुबारा प्रश्न करते हैं- तत्त्व क्या है? प्रभु उसी प्रश्न के जवाब में दूसरा उत्तर प्रस्तुत करते हैं- 'विगमेइ वा'। पुन: गणधर प्रश्न करते हैं- तत्त्व क्या है ? प्रभु कहते हैं- 'धुवेइ वा'। इस त्रिपदी को आधार बनाकर गणधर प्रभु सम्पूर्ण द्वादशांगी की रचना अन्तर्मुहूर्त की अवधि में करते हैं।[38] इस द्वादशांगी को अंगप्रविष्ट आगम कहा जाता है, अन्य आगम अंगबाह्य कहलाते हैं।

यह भी स्पष्टत: समझ लेना चाहिये कि गणधरकृत समस्त रचनायें अंग आगम के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं होती। मात्र यह द्वादशांगी ही अंग आगम के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्गत आती है, क्योंकि यही त्रिपदी से उद्भूत है। त्रिपदी के अतिरिक्त जिनका भी निर्माण स्वतन्त्र रूप से होता है, वे समस्त रचनाएँ गणधरकृत हो या स्थविरकृत, अंगबाह्य कहलाती हैं।

स्थविर भी दो प्रकार के होते हैं - सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी और दशपूर्वी। सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी से तात्पर्य है कि वे चौदह पूर्वधर होते हैं। वे सूत्र और अर्थ रूप से सम्पूर्ण द्वादशांगी के ज्ञाता होते हैं। उनके द्वारा कथित अथवा लिखित कोई भी वाक्य मूल जिनागम के विरूद्ध नहीं होता। बृहत्कल्पभाष्य[39] में उनके लिये कहा जाता है कि जो कुछ तीर्थंकर परमात्मा कहते है, उसी को श्रुतकेवली भी कह सकते हैं। श्रुतकेवली और तीर्थंकर केवली में ज्ञान की अपेक्षा से कोई भेद नहीं होता। जिस तत्त्व और सत्य को तीर्थंकर अपने ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत करते हैं, उसी तत्त्व को श्रुतकेवली परोक्ष रूप से श्रुतज्ञान द्वारा जानते हैं। इनके वचन की प्रामाणिकता का महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि चौदह पूर्वधारी या दश पूर्वधारी श्रुतकेवली नियमत: सम्यक्दृष्टि ही होते हैं।[40]

आगमों की प्रामाणिकता

'तमेव सच्चं निसंकं जं जिणेहिं पवेइयं'[41] यह वाक्य चूँकि उनके रोम-रोम में रमा हुआ होता है अत: ये चौदह या दश पूर्वधर जो भी निरूपण करते हैं, वह सम्पूर्णत: सत्य तथा श्रद्धा से स्वीकार्य होता है। श्रुतकेवली और तीर्थंकर केवली में इतना ही भेद है कि श्रुतकेवली का ज्ञान परत: प्रमाण है और तीर्थंकर का ज्ञान स्वत: प्रमाण है। श्रुतकेवली का ज्ञान इसलिये प्रामाणिक है कि वह परमात्मा द्वारा प्ररूपित द्वादशांगी की कसौटी पर कसा हुआ होता है।

इससे यही फलितार्थ होता है कि वही ज्ञान प्रामाणिक है, जो परमात्मा द्वारा प्ररूपित द्वादशांगी के अर्थ का अनुसरण करता है। जो विपरीत है, वह अप्रामाणिक माना जाता है। सम्पूर्ण ज्ञान का मुख्य स्रोत ही यह मूल द्वादशांगी है। दश पूर्व या इससे अधिक के ज्ञानी कभी द्वादशांगी के विरूद्ध प्ररूपणा कर ही नहीं सकते और इसलिये इनके द्वारा रचित एवं कथित श्रुत सम्यक् श्रुत कहलाता है। दश से कम पूर्वों के ज्ञाता स्थविरों द्वारा रचित श्रुत अनिवार्यत: सम्यक् नहीं होता। वह सम्यक् हो भी सकता है और नहीं भी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमों का वर्गीकरण

प्रथम वर्गीकरण

जैन आगमों का सर्वप्रथम वर्गीकरण समवायांग में उपलब्ध होता है। इस अंग में पूर्व एवं अंग के रूप में समस्त आगम साहित्य को विभाजित किया गया है। पूर्व संख्या की दृष्टि से चौदह[42] थे और अंग बारह।[43]

1. पूर्व - पूर्व आगम साहित्य की अद्भुत रत्नपेटिका है। ऐसा एक भी विषय नहीं है जो इसमें समाहित न हो। इनकी रचना व अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में विभिन्न मत हैं। नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के अनुसार द्वादशांगी से पूर्व ही पूर्वों का निर्माण किया गया था और इसी कारण इन्हें पूर्व साहित्य कहा जाता है।[44] कुछ आगमज्ञ इतिहासकारों के अनुसार पूर्व पार्श्वनाथ भगवान की परम्परा का साहित्य है। प्रभु महावीर के पूर्ववर्ती होने के कारण इन्हें पूर्व कहा गया है।[45] जो भी हो, इतना तय है कि पूर्व साहित्य का निर्माण द्वादशांगी से पहले हुआ है।

वर्तमान में पूर्व साहित्य द्वादशांगी से पृथक् नहीं माना जाता क्योंकि दृष्टिवाद, जो बारहवाँ अंग आगम है, उसके पाँच विभाग है। इन सभी के नामोल्लेख उपविभाग सहित नन्दीसूत्र में उपलब्ध है। पाँच विभाग इस प्रकार है- 1. परिकर्म, 2. सूत्र, 3. पूर्वगत, 4. अनुयोग तथा 5. चूलिका। तृतीय पूर्वगत विभाग में चौदह पूर्व समाविष्ट हो जाते हैं। इनका ज्ञान ग्यारह अंगों से भी अनन्तगुणा है।

जैन अनुश्रुति के अनुसार महावीर प्रभु ने सर्वप्रथम 'पूर्वगत' अर्थ का निरूपण किया था और उसे ही गौतम आदि गणधरों ने पूर्वश्रुत के रूप में निरूपित किया था। परन्तु यह पूर्वश्रुत अत्यन्त गम्भीर एवं क्लिष्ट होने के कारण आम जिज्ञासु एवं अध्येता इन्हें समझ नहीं पाता था, अत: सामान्य प्रतिभावान् के लिये आचारांग आदि अन्य आगम ग्रन्थों की रचना की गयी। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार 'दृष्टिवाद' में सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का अवतरण हो जाता है। तथापि ग्यारह अंगों की रचना सामान्य वर्ग के लिए की गयी है।[46]

जो साधक उत्कृष्ट मेधावी होते, वे पूर्वों का अध्ययन करते[47] एवं जो अल्प बुद्धि वाले होते, वे ग्यारह अंगों का अध्ययन करते।[48] आचारांग के निर्माण से पूर्व समस्त श्रुतराशि चौदह पूर्व या दृष्टिवाद के नाम से जानी जाती थी और बाद में जब ग्यारह अंगों की रचना हुई तो दृष्टिवाद को बारहवें अंग के रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्यता दी गयी।

2. अंग - अंग शब्द जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही भारतीय परम्पराओं में प्रयुक्त हुआ है। जैन परम्परा में इसका प्रयोग मूल आगम गणिपिटक के लिए हुआ है।

वैदिक ग्रन्थों में अंग शब्द वेद के लिये नहीं, अपितु वेद के अध्ययन में सहायक ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त हुआ है और ये ग्रन्थ छह है[49]

(1) शिक्षा- शब्दोच्चारण के विधान का प्ररुपक ग्रन्थ ।

(2) कल्प - वेदनिरुपित कर्मो का यथावस्थित प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ।

(3) व्याकरण - पद-स्वरुप और पदार्थ निश्चय का वर्णन करनेवाला ग्रन्थ ।

(4) निरुक्त - पदों की व्युत्पत्ति का वर्णन करनेवाला ग्रन्थ ।

(5) छन्द - मन्त्रों का उच्चारण किस स्वर विज्ञान से करना, इसका निरूपण करनेवाला ग्रन्थ ।

(6) ज्योतिष- यज्ञ-याग आदि कृत्यों के लिए समय-शुद्धि को बतानेवाला ग्रन्थ।

बौद्ध साहित्य में यद्यपि मूल त्रिपिटक को अंग नहीं कहा जाता परन्तु पालि साहित्य में बुद्ध के वचनों को नवांग[50] और द्वादशांग[51] अवश्य कहा गया है।

चौदह पूर्व इस प्रकार है- उत्पाद, अग्रायणीय, वीर्य, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञान प्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुप्रवाद, अवन्ध्य, प्राणायु, क्रियाविशाल तथा लोकबिन्दुसार।

बारह अंग इस प्रकार है- आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाता-धर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक एवं दृष्टिवाद।

आचार आदि आगम श्रुतपुरुष के अंगस्थानीय होने से भी अंग कहलाते हैं।[52]

द्वितीय वर्गीकरण

यह वर्गीकरण देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय का है। उन्होंने अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य आगम के रूप में आगम साहित्य को विभाजित किया।[53]

अंगबाह्य एवं अंगप्रविष्ट का अन्तर समझाते हुए जिनभद्रगणि ने अंगप्रविष्ट के तीन कारण प्रस्तुत किये हैं -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. जो गणधरकृत होता है।
2. जो गणधर भगवन्तों द्वारा प्रश्न किये जाने पर तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित होता है।
3. जो शाश्वत सत्यों से सम्बन्धित होने के कारण ध्रुव एवं सुदीर्घकालीन होता है।[54]

इसके विपरीत जो 1. स्थविरकृत हो 2. जो प्रश्न पूछे बिना तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित हो 3. एवं जो तात्कालिक या सामयिक हो, वह अंगबाह्य होता है। तत्त्वार्थ भाष्य में वक्ता के आधार पर अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य आगमों का विभाजन है।[55]

सवार्थसिद्धि में पूज्यपाद ने वक्ता के तीन भेद भी बताये हैं- 1. सर्वज्ञ, 2. श्रुत-केवली एवं 3. आरातीय आचार्य।[56] आचार्य अकलंक ने कहा है कि आरातीय आचार्यों द्वारा निर्मित आगम अंगप्रतिपादित अर्थ के निकट या अनुकूल होने के कारण अंगबाह्य कहलाते हैं।[57]

समवायांग और अनुयोगद्वार में तो केवल द्वादशांगी का ही वर्णन है। परन्तु नन्दीसूत्र में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के अतिरिक्त अंगबाह्य के आवश्यक, व्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक रूप में आगम की सम्पूर्ण शाखाओं का भी विवेचन है।

तृतीय वर्गीकरण

तृतीय विभाजन आर्यरक्षित ने अनुयोग के आधार पर किया। आर्यरक्षित स्वयं नौ पूर्व एवं दशवें पूर्व के 24 यविक के ज्ञाता थे।[58]

1. चरणकरणानुयोग- कालिकश्रुत, महाकल्प, छेदश्रुत आदि।
2. धर्मकथानुयोग - ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि।
3. गणितानुयोग - सूर्यप्रज्ञप्ति आदि।
4. द्रव्यानुयोग - दृष्टिवाद आदि।

यह वर्गीकरण विषय की साम्यता के अनुसार है परन्तु व्याख्या साहित्य की अपेक्षा तो आगमों के दो ही रूप होते हैं- 1. अपृथक्त्वानुयोग एवं 2. पृथक्त्वानुयोग। ये दो रूप भी आर्यरक्षितसूरि के समय में हुए। आर्यरक्षित से पूर्व तो मात्र अपृथक्त्वानुयोग का ही प्रचलन था। इसमें प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य सभी अपेक्षाओं से होती थी। यह व्याख्या अत्यन्त क्लिष्ट, स्मृति सापेक्ष एवं दुरूह थी। तब आगम व्याख्या को सरल बनाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिये आर्यरक्षित ने पृथक्त्वानुयोग का वर्गीकरण किया। चार अनुयोगों का वर्गीकरण भी आर्यरक्षित की देन है।[59]

सूत्रकृतांग चूर्णि के अनुसार अपृथक्त्वानुयोग के समय प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण, धर्म, गणित एवं द्रव्यानुयोग तथा सप्त नय की अपेक्षा से की जाती थी परन्तु पृथक्त्वानुयोग के समय चारों अनुयोगों की व्याख्याएँ अलग-अलग की जाने लगी।[60] यद्यपि विषय की अपेक्षा से यह वर्गीकरण हुआ परन्तु ऐसा पूर्णत: नहीं है, जैसे उत्तराध्ययन में धर्मकथा के साथ दार्शनिक तत्त्व भी है। भगवती तो सभी विषयों का महासागर है। इस प्रकार कुछ आगमों को छोड़कर शेष आगमों में चारों अनुयोगों का सम्मिश्रण है अत: यह वर्गीकरण स्थूल ही रहा ।

दिगम्बर साहित्य में ये चारों अनुयोग कुछ नाम भिन्नता के साथ विद्यमान है- 1. प्रथमानुयोग, 2. करणानुयोग, 3. चरणानुयोग और 4. द्रव्यानुयोग।

प्रथमानुयोग में महापुरुषों का जीवन चरित्र वर्णित है, करणानुयोग में लोकालोक विभक्ति, काल, गणना आदि है, चरणानुयोग में आचरण का निरूपण है और द्रव्यानुयोग में द्रव्य-गुण-पर्याय का विवेचन है। चूँकि दिगम्बर परम्परा आगमों को तो लुप्त मानती है अत: प्रथम में महापुराण आदि, द्वितीय में त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि, चरणानुयोग में मूलाचार एवं द्रव्यानुयोग में प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि का समावेश है।[61]

चतुर्थ वर्गीकरण

आगमों का अन्तिम एवं चतुर्थ वर्गीकरण अंग, उपांग, मूल एवं छेद के रूप में उपलब्ध होता है। नन्दीसूत्रकार ने मूल और छेद ये दो विभाग नहीं किये हैं और न उपांग शब्द का प्रयोग किया है। नन्दी में उपांग अर्थ में ही अंगबाह्य शब्द का प्रयोग हुआ है। पण्डित सुखलालजी ने जिनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना है, उन आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य में अंग के साथ उपांग का प्रयोग किया है।[62]

सुबोधा समाचारी के रचयिता आचार्य श्रीचन्द्र ने आगम के स्वाध्याय की तपो विधि का वर्णन करते हुए अंगबाह्य अर्थ में उपांग शब्द का उल्लेख किया है।[63]

आचार्य जिनप्रभसूरि ने वायंणाविहि की उत्थानिका में जो वाक्य दिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उसमें भी उपांग विभाग का उल्लेख हुआ है।[64]

सर्वप्रथम यह उपांग शब्द कहाँ से आया, यह स्पष्ट नहीं है। परन्तु पण्डित श्री बेचरदासजी दोषी के अनुसार चूर्णि साहित्य में भी उपांग शब्द का प्रयोग हुआ है।[65]

मूल और छेद सूत्रों का विभाग किस समय हुआ, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता परन्तु दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि की निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्तियों में तो मूलसूत्र के सम्बन्ध में किंचित् भी चर्चा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक मूल सूत्र के रूप में विभाजन नहीं था।

श्रावकविधि के लेखक धनपाल, जो कि ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं, ने अपने ग्रन्थ में 45 आगमों का निर्देश किया है। गाथा सहस्त्री में समयसुन्दर गणि ने धनपालकृत श्रावकविधि का उद्धरण भी दिया है।[66]

वि.सं. 1334 में रचित प्रभावक चरित्र में ही सर्वप्रथम अंग, उपांग, मूल और छेद का विभाजन उपलब्ध होता है।[67] महोपाध्याय समयसुन्दर गणि ने भी समाचारी शतक में इसका उल्लेख किया है।[68] इन्हें मूलसूत्र कहने के अनेक कारण विभिन्न दार्शनिकों ने प्रस्तुत किये हैं। पर अधिक उपयुक्त यही कारण लगता है कि जिन आगमों में मुख्य रूप से श्रमण के आचार सम्बन्धी मूलगुणों का- महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि का निरूपण है और जो ग्रन्थ श्रमण की दिनचर्या में सहयोगी बनते हैं, जिनका अध्ययन संयम के शैशव में ही आवश्यक है, उन्हें मूलसूत्र कहते हैं।

मूलसूत्रों की संख्या के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत है। समयसुन्दर गणि ने दशवैकालिक, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और उत्तराध्ययन इन चारों को मूलसूत्र माना है।

मूलसूत्र की तरह छेद सूत्रों का उल्लेख भी नन्दीसूत्र में नहीं मिलता। छेद सूत्र का सर्वाधिक प्राचीन प्रयोग आवश्यक निर्युक्ति में हुआ है।[69] विशेषावश्यक भाष्य[70] और निशीथ भाष्य[71] में भी छेदसूत्र का उल्लेख हुआ है। आवश्यक निर्युक्ति को भद्रबाहु की कृति माना जाता है और वे विक्रम की छट्ठी शताब्दी में हुए हैं। इससे यही स्पष्ट होता है कि छेदसूत्र का प्रयोग मूलसूत्र से पूर्व का है। छेद सूत्र से क्या तात्पर्य है, इसका उत्तर उपलब्ध नहीं है, परन्तु जिन्हें छेदसूत्र कहते हैं, उनमें प्रायश्चित्त सम्बन्धी चर्चा है।

स्थानांग में श्रमणवर्ग के लिये पाँच प्रकार के चारित्र का वर्णन है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. सामायिक, 2. छेदोपस्थापनीय, 3. परिहारविशुद्धि, 4. सूक्ष्मसंपराय और 5. यथाख्यात।[72] वर्तमान में अन्तिम तीन चारित्र का विच्छेद माना जाता है। सामायिक चारित्र अल्पकालीन होता है। छेदोपस्थापनीय चारित्र ही यावज्जीवन रहता है। यावज्जीवन जिसका पालन होगा, प्रायश्चित्त उसी में आयेगा और छेद सूत्रों में मात्र प्रायश्चित्त की ही चर्चा है। अत: सम्भव है, विषय-वस्तु के आधार पर इसे छेदोपस्थापनीय चारित्र से सम्बन्धित करते हुए इसका नाम छेदसूत्र रखा होगा।

दशाश्रुतस्कन्ध, निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प-ये सूत्र नौवें पूर्व से उद्धृत किये गये।[73] उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हें छेदसूत्र नाम दिया हो, यह भी सम्भव है।[74]

छेदसूत्रों को उत्तम माना जाता है, इसका उत्तर प्रश्न करने के साथ ही श्री जिन-दासगणि देते है। चूँकि छेदसूत्रों में प्रायश्चित्त की विधि है और प्रायश्चित्त से चारित्र की विशुद्धि होती है, अत: ये सूत्र उत्तम माने गये है।[75] छेदसूत्र छह है- दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार, बृहत्कल्प, जीतकल्प, निशीथ एवं महानिशीथ।

आगमों की रचना के प्रकार

जैन आगमों की रचना दो प्रकार से हुई है - कृत तथा निर्यूढ।

कृत - जिन आगमों का निर्माण स्वतन्त्र रूप से हुआ है, उन्हें कृत कहते हैं। जैसे गणधरों द्वारा द्वादशांगी का निर्माण एवं स्थविरों द्वारा उपांग का निर्माण कृत आगम कहलाते है।

निर्यूढ - जिन आगमों की रचना पूर्वों तथा द्वादशांगी से उद्धृत करके हुई है, उन्हें निर्युढ आगम कहते हैं। निर्यूढ आगम स्थविरों द्वारा संकलित मात्र होते हैं। निर्यूढ आगम निम्न माने गये हैं - 1. आचारचूला, 2. दशवैकालिक, 3. निशीथ, 4. दशाश्रुतस्कन्ध, 5. बृहत्कल्प, 6. व्यवहार तथा 7. उत्तराध्ययन का परिषह अध्ययन।[76]

इन समस्त निर्यूढ आगमों का संकलन भिन्न-भिन्न पूर्वों एवं अंगों से किया गया है।

यहाँ यह स्पष्ट जान लेना चाहिये कि इन निर्यूढ रचनाओं के अर्थ प्ररूपक तीर्थंकर है तथा सूत्रों के रचनाकार गणधर है, परन्तु जिन पूर्वधरों ने अंगों एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वों से संक्षिप्त सार लेकर इनका निर्यूहण या संकलन किया है, वे उसके कर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध है- जैसे दशवैकालिक के कर्त्ता आचार्य शय्यम्भव है।

आगमों की संख्या

यद्यपि अंग साहित्य की अपेक्षा से किसी प्रकार का मतभेद नहीं है, सभी श्वेताम्बर दिगम्बर[77] द्वादशांग स्वीकार करते है परन्तु अंगबाह्य के सम्बन्ध में विभिन्न मत है। कुल मिलाकर कोई 45 आगम मानते हैं, कोई 84 तो कोई 32।

नन्दीसूत्र में आगमों की जो सूची है, उसमें से कुछ आगम उपलब्ध नहीं है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय 45 आगम मानता हैं एवं अमूर्त्तिपूजक सम्प्रदाय 32 मानता है। दिगम्बर समाज की मान्यता है कि सभी आगम विच्छिन्न हो गये हैं। 45 आगमों के नाम इस प्रकार है ।

11 अंग आगम - 1. आचारांग, 2. सूत्रकृतांग, 3. स्थानांग, 4. समवायांग, 5. भगवती, 6. ज्ञाताधर्मकथा, 7. उपासकदंशा, 8. अन्तकृत्दशा, 9. अनुत्तरोपपातिकदशा, 10. प्रश्नव्याकरण एवं 11. विपाक सूत्र।

12 उपांग आगम - 1. औपपातिक, 2. राजप्रश्नीय, 3. जीवाभिगम, 4. प्रज्ञापना, 5. सूर्यप्रज्ञप्ति, 6. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, 7. चन्द्रप्रज्ञप्ति, 8. निरयावलिका, 9. कल्पवतंसिका, 10. पुष्पिका, 11. पुष्पचूलिका और 12. वह्निदशा।

10 प्रकीर्णक सूत्र - 1. चतु:शरण, 2. आतुरप्रत्याख्यान, 3. महाप्रत्याख्यान, 4. भक्तपरिज्ञा, 5. तंदुलवेतालिक, 6. गणिविद्या, 7. चंद्रविजय, 8. देवेन्द्रस्तव, 9. मरणसमाधि और 10. संस्तारक।

6 छेदसूत्र - 1. दशाश्रुतस्कन्ध, 2. बृहत्कल्प, 3. व्यवहार, 4. जीतकल्प, 5. निशीथ और 6. महानिशीथ।

4 मूलसूत्र -1. आवश्यक, 2. दशवैकालिक, 3. उत्तराध्ययन और 4. पिंडनिर्युक्ति।

2 चूलिका सूत्र - 1. नन्दी सूत्र और 2. अनुयोगद्वार सूत्र।

आगमों की भाषा

जैन आगमों की मूलभाषा अर्धमागधी है।[78] इसे सामान्यत: प्राकृत भी कहते हैं। समवायांग और औपपातिक[79] सूत्र के अनुसार तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा का ही प्रयोग करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमात्मा की वाणी प्राणीमात्र के लिये होती है। वे उसी भाषा का उपयोग करते हैं, जिसे अल्पबुद्धि भी समझ सके। साधना के आकांक्षी, आबाल, वृद्ध, महिलाएँ भी जिस भाषा को सुगमता से समझ सकते थे, वह प्राकृत भाषा ही थी, अत: परमात्मा इसी भाषा में देशना देते थे।[80] चूँकि देव इसी भाषा में बोलते हैं, अत: यह देववाणी भी है।[81]

जिनदास गणि अर्धमागधी शब्द का अर्थ दो प्रकार से करते हैं -

1. यह भाषा चूँकि मगध के एक भाग में बोली जाती थी, अत: अर्धमागधी कहलाती है।
2. इस भाषा में अठारह देशों की भाषा का मिश्रण है। इसे यों भी यह सकते हैं कि इस भाषा में मगध और देशज शब्दों का मिश्रित प्रयोग है।[82] मागधी और अर्धमागधी में यह अन्तर है कि मागधी में तीनों ऊष्म व्यंजनों के स्थान पर एकमात्र 'श' का प्रयोग होता है, जबकि अर्धमागधी में श और ष के स्थान पर 'स' ही प्रयोग में आता है। उसमें शकार नहीं मिलता है। हो सकता है, बोलने में श बोला जाता हो, परन्तु लिखने में स ही लिखा जाता है। चूँकि महात्मा बुद्ध का विचरण क्षेत्र भी वही था, जो भगवान महावीर का था, अत: उनके त्रिपिटक की पाली भाषा में भी श नहीं मिलता बल्कि श और ष के स्थान पर सर्वत्र स ही मिलता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण भगवान महावीर के आगमों की भाषा को अर्धमागधी भाषा कहते हैं।

यद्यपि समस्त आगम एक ही काल की रचनाएँ नहीं हैं परन्तु कतिपय रचनाओं में जो भी प्राचीन अंश मिलते हैं, उनकी भाषा का स्वरूप पाली भाषा के समान ही होना चाहिये था, परन्तु ऐसा नहीं है। जैसे आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भाषा, विषयवस्तु और शैली के कारण सबसे प्राचीन है, परन्तु इसकी भाषा भी अल्पांश में अन्य आगमों की तरह महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुई है। मौखिक परम्परा और जैन धर्म के प्रचार के दौरान उन-उन क्षेत्रों की भाषा का मिश्रण भी होता गया है और इस अपेक्षा से आगमों का एक भी ग्रन्थ शुद्ध अर्धमागधी भाषा में उलपब्ध नहीं है। सारे आगम महाराष्ट्री प्राकृत से बहुत अधिक प्रभावित हुए है। इसी कारण आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी म. को यह कहना पड़ा कि मूल भाषा परिवर्तन के कारण खिचड़ी हो गयी है।

अर्धमागधी प्राकृत शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत भाषा से सर्वथा भिन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस बात का महत्त्वपूर्ण प्रमाण शब्दों में मध्यवर्ती व्यंजनों की यथास्थिति होना है।

वैसे यह पीड़ा के साथ स्वीकार करना चाहिये कि मध्यकालीन प्राकृत व्याकरणकारों द्वारा अर्धमागधी के लिये कोई विशिष्ट व्याकरण लिखा नहीं गया। महाराष्ट्री प्राकृत के जो नियम थे, वे ही नियम अर्धमागधी के लिये लागू कर दिये गये। परिणाम यह हुआ कि आगमों की प्राचीन हस्तप्रतों में जहाँ-जहाँ पर भी पाली के समान प्रयोग मिलते थे, उन्हें क्षतियुक्त मानकर उनके बदले में महाराष्ट्री की शब्दावली को ही अपनाया गया। उदाहरण के लिये प्रो. हर्मन जेकोबी तथा शुब्रिंग द्वारा सम्पादित आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के कतिपय पाठ प्रस्तुत है -

अध्याय का पेरा नं.	याकोबी संस्करण लंडन 1882 ए.डी.	शुब्रिंग संस्करण लिप्जिंग 1910
1.2.3.2	अकुतोभयं	अकुओभयं
1.4.4.1	परितावं	परियावं
1.1.5.7	एते	एए
1.9.4.1	ओमोदरियं	ओमोयरियं
1.9.2.15	अधोवियडे	अहोवियडे

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि प्रो. हर्मन जेकोबी को प्राचीन हस्तलिखित प्रतों में जो पाठ मिला है, उसे वैसा ही रखा है और जो पाठ पाली भाषा के समान मिले हैं, उन्हें भी महाराष्ट्री प्राकृत के अनुरूप न बदल कर वैसे ही रखे हैं। जबकि शुब्रिंग महोदय के समक्ष प्रो. हर्मन जेकोबी का संस्करण मौजूद होते हुए भी उन्होंने पाली भाषा से साम्य रखने वाले सारे पाठों को महाराष्ट्री प्राकृत में बदल दिया है।

इससे यह स्पष्ट है कि मूल अर्धमागधी पाली भाषा से मिलती-जुलती थी, परन्तु परवर्ती काल में इसका स्वरूप बदल गया।

आगमों की वाचनाएँ

तीर्थंकर परमात्मा द्वारा प्ररूपित अर्थरूप वाणी गणधरों एवं स्थविरों द्वारा संकलित की गई। परन्तु स्मृति कमजोर होने के कारण वह सूत्रागम भी पूर्णत: जब सुरक्षित नहीं रहा तो समय-समय पर योग्य, ज्ञानी, आगमज्ञ आचार्यों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्निधि में वाचनाएँ हुई। क्रमशः पाटलीपुत्र, कुमारीपर्वत, मथुरा एवं वल्लभी में दो, इस प्रकार कुल पाँच वाचनाएँ हुई।

प्रथम वाचना

प्रथम वाचना परमात्मा महावीर के निर्वाण के 160 वर्ष बाद हुई। पाटलीपुत्र में भयंकर दुष्काल पड़ा। उस समय कई मुनि तो काल कवलित हो गये और अवशिष्ट मुनि समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों की ओर चले गये। अकाल की समाप्ति पर जब वे पुनः लौटे तो लगा कि उनका आगम ज्ञान विस्मृत हो गया है और कहीं-कहीं एक ही आगम में अलग-अलग मुनियों द्वारा पाठभेद हो गया है। तब उस युग के प्रमुख आचार्यों ने पाटलीपुत्र में एकत्र होकर आगम ज्ञान को सुरक्षित एवं व्यवस्थित करने का प्रयास किया। यह प्रयास प्रथम वाचना[83] के रूप में संबोधित किया गया।

ग्यारह अंग तो व्यवस्थित हो गये परन्तु दृष्टिवाद एवं पूर्व साहित्य का विशिष्ट विद्वान उपस्थित न होने से उसके लिये समस्या उपस्थित हुई।

दृष्टिवाद के एकमात्र विशिष्ट विद्वान् भद्रबाहु स्वामी उस समय नेपाल में महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ के प्रार्थनायुक्त निवेदन पर उन्होंने ध्यान में से कुछ समय वाचना हेतु देना स्वीकार किया। महामुनि स्थूलिभद्र उनसे परिश्रम और पुरुषार्थ पूर्वक वांचना लेने लगे। दश पूर्व तक अर्थ सहित उनकी वांचना हुई। ग्यारहवें पूर्व की वांचना चल रही थी, उस समय उनकी यक्षा आदि बहिनें दर्शन हेतु आई। अपनी बहिनों को चमत्कृत करने के लिये उन्होंने विद्या से सिंह रूप बना दिया।[84] इस क्रिया से भद्रबाहु स्वामी नाराज हो गये और उन्होंने आगे की वाचना देने से इन्कार कर दिया। संघ एवं स्थूलिभद्र के अत्यन्त आग्रह करने पर उन्होंने मात्र आगे के चार पूर्वों की मूल वाचना दी परन्तु अर्थ नहीं बताया। वे शाब्दिक दृष्टि से भले ही चौदह पूर्वधर हुए, पर अर्थ की दृष्टि से दशपूर्वी ही रहे।[85] इस प्रकार इस वाचना में मात्र एकादश अंग ही व्यवस्थित हुए। दृष्टिवाद नामक महत्त्वपूर्ण अंग एवं उसके अन्तर्निहित पूर्व साहित्य को पूर्णतः सुरक्षित नहीं किया जा सका। मात्र दृष्टिवाद की विषयवस्तु लेकर अंगबाह्य ग्रन्थ सर्जित होने लगे।

द्वितीय वाचना

भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग 300 वर्ष बाद उड़ीसा के कुमारीपर्वत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर जैन धर्म के अनन्य उपासक सम्राट् खारवेल की साक्षी में द्वितीय वाचना हुई।[86] यद्यपि इस वाचना के संबंध में विस्तार से कुछ उपलब्ध नहीं होता। मात्र इतनी ही जानकारी मिलती है कि अनेकों विद्वान् स्थविरों की निश्रा में यह वाचना सम्पन्न हुई थी, जिसमें श्रुतसंरक्षण का प्रयास किया गया।[87]

चूँकि उस युग में आगमों के अध्ययन की गुरु-शिष्य परम्परा से मौखिक अध्ययन की व्यवस्था होने से देशकाल के अनुसार धीरे-धीरे विस्मृति दोष के कारण आगम पाठों में भिन्नता आना स्वाभाविक था। अत: भाषायी स्वरूप को स्थिरता देने के लिये एवं अनेक अन्य विद्वान् मुनियों के द्वारा जो भी नयी रचनाएँ होती थी, उन्हें मान्यता देने के लिये यह सामूहिक वाचना का कार्यक्रम आयोजित किया गया। आचार नियमों में एवं आगमिक व्याख्याओं में परिस्थिति वश जो अन्तर आ जाता था, उनका निरूपण भी ऐसे उपक्रमों में किया जाता था।

तृतीय वाचना

यह महावीर स्वामी के निर्वाण के 827 वर्ष पश्चात् मथुरा में आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में सम्पन्न हुई। माथुरी वाचना के दो प्रकार की मान्यताएँ नन्दीचूर्णि में है। एक मान्यता के अनुसार तो बारह वर्षीय भयंकर दुष्काल के कारण श्रमण संघ की स्थिति अत्यन्त विकट हो गयी। युवा मुनि दूर-सुदूर प्रदेशों में चले गये। अनेक मुनि क्रुर काल के मुँह में समा गये। क्षुधा परिषह से व्याकुल मुनि स्वाध्याय, अध्यापन और धारणा में एकाग्र नहीं हो पाये। धीरे-धीरे ज्ञान विस्मृत होने लगा। अतिशययुक्त श्रुत विनष्ट हुआ। अंग और उपांग साहित्य का भी अर्थ की अपेक्षा से बहुत भाग नष्ट हो गया। दुष्काल समाप्त होने पर आचार्य स्कंदिल के आह्वान पर श्रमण संघ मथुरा में एकत्र हुआ। जिन-जिन श्रमणों को जितना-जितना स्मरण था, उसका अनुसंधान कर कालिक एवं पूर्वगत कुछ श्रुत को व्यवस्थित किया गया। चूँकि यह वाचना मथुरा में सम्पन्न हुई, अत: माथुरी एवं स्कंदिलाचार्य के नेतृत्व में हुई, अत: इसे स्कंदिली वाचना की संज्ञा मिली। दूसरी मान्यता यह है कि सूत्र नष्ट नहीं हुए थे, परन्तु अनुयोगधारी स्वर्गवासी हो गये थे। एतदर्थ अनुयोगधारी स्कंदिल ने अनुयोग का पुन: प्रवर्तन किया अतः इस वाचना को माथुरी वाचना कहा गया ।[88]

चतुर्थ वाचना

जिस समय उत्तर पूर्व और मध्य भारत में विचरण करने वाले श्रमणों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्मेलन मथुरा में हुआ, उसी समय दक्षिण और पश्चिम में विचरण करने वाले श्रमणों की एक वाचना वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। ये दोनों वाचनाएँ समकालीन ही हुई। उन्हें भी बहुत कुछ श्रुत विस्मृत हो गया था। जो स्मृति में था, उसी का संकलन कर व्यवस्थित किया। अतः इसे वल्लभी या नागार्जुनीय वाचना भी कहते हैं।[89]

ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा यह प्रतिपादित होता है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के विभाजन से जिस यापनीय संघ का उदय हुआ, उसमें आर्य स्कंदिल के आगम ही मान्य थे। इस परम्परा का प्रभाव मध्य एवं दक्षिण भारत में था। यापनीय ग्रन्थों में जो गाथाएँ उपलब्ध है, वे अर्धमागधी या महाराष्ट्री प्राकृत में नहीं, अपितु शौरसेनी में है।

एक ही समय में एक साथ दो वाचानएँ होने के पीछे यह सम्भावना भी हो सकती है कि दोंनों में किन्हीं बातों को लेकर मतभेद थे।

पञ्चम वाचना

भगवान् महावीर के निर्वाण की दशवीं शताब्दी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की निश्रा में पुनः श्रमणसंघ वल्लभी में एकत्र हुआ। स्वयं देवर्द्धिगणि ग्यारह अंग व एक पूर्व से कुछ अधिक श्रुत के ज्ञाता थे। स्मृति दुर्बलता, परावर्तन की न्यूनता आदि के कारण श्रुत साहित्य का अधिकांश भाग विच्छिन्न हो गया था। देवर्द्धिगणि ने अपनी प्रखर प्रज्ञा से उसे संकलित कर पुस्तकारूढ़ करने का पुरुषार्थ किया। पूर्व में हुई माथुरी एवं वल्लभी वाचना का समन्वय कर उसमें एकरूपता लाने का प्रयास भी किया।[90] जहाँ मतभेद अधिक नजर आये, वहाँ मूल पाठ में माथुरी वांचना के पाठों को स्वीकार किया एवं वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दिया।

देवर्द्धिगणि ने ही सर्वप्रथम आगमों को पुस्तकारूढ़ किया। उन्होंने यह ध्यान भी रखा कि जहाँ-जहाँ पाठों में साम्यता थी, वहाँ-वहाँ उनका पुनरावर्तन न करते हुए उसके लिये उस ग्रन्थ एवं स्थल का निर्देश कर दिया। जैसे 'जहा उववाइए, जहा पण्णवणाए'। भगवान् महावीर के निर्वाण पश्चात् हुई मुख्य-मुख्य घटनाओं का वर्णन भी आगमों में किया। वल्लभी में होने के कारण यह वाचना वल्लभी वाचना के रूप में प्रसिद्ध हुई। यह अन्तिम वाचना थी। इसके पश्चात् सर्वमान्य कोई वाचना नहीं हुई। वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी के बाद पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गयी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम विच्छेद का क्रम

भगवान् महावीर के निर्वाण के 170 वर्ष पश्चात् भद्रबाहु स्वामी का स्वर्गवास हुआ। अर्थ की अपेक्षा से उनके साथ ही पूर्व विच्छिन्न हो गये। वज्रस्वामी तक दश पूर्व की परम्परा चली। वज्रस्वामी भगवान् महावीर के निर्वाण के 551 वर्ष पश्चात् स्वर्ग पधारे। उस समय दशवां पूर्व नष्ट हुआ। दुर्बलिका पुष्यमित्र नौ पूर्व के ज्ञाता थे। उनके साथ ही नवम पूर्व भी विच्छिन्न हो गया। इनका स्वर्गवास भगवान् महावीर के निर्वाण के 604 वर्ष पश्चात् हुआ।

इस प्रकार पूर्व विच्छेद की यह परम्परा देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक चलती रही। वे स्वयं एक पूर्व के ज्ञाता थे। इतना साहित्य विलुप्त होने के बाद भी आगमों का मौलिक भाग आज भी विद्यमान है। परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय की यह मान्यता नहीं है।

वैदिक वाङ्मय की तरह जैनागम सुरक्षित नहीं रहने का मुख्य कारण है कि यहाँ लेखन परम्परा देवर्द्धिगणि से ही प्रारम्भ हुई। पूर्व में तो गुरु-शिष्यों में मौखिक रूप से ही आगम पाठ चलते थे।

जिनशासन देविर्द्धिगणि क्षमाश्रमण का कृतज्ञ है कि उन्होंने मूल आगम के संरक्षण के लिए अल्पारम्भी लेखन क्रिया को बहुजनहिताय प्रारम्भ किया।

आगम लेखन युग

जैन दृष्टि से चौदह पूर्वों का लेखन कभी हुआ ही नहीं है। इसके लेखन में कितनी स्याही अपेक्षित है, इसकी कल्पना अवश्य की गई है। नौवीं शताब्दी में मथुरा और वल्लभी में जो श्रमण सम्मेलन हुआ, उसमें एकादश अंगों को व्यवस्थित किया गया। आर्यरक्षितसूरि ने अनुयोगद्वार सूत्र की रचना की। नौवीं शताब्दी के अन्त में आगम लेखन की परम्परा प्रारम्भ हुई, परन्तु आगमों को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट संकेत देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से ही मिलता है। फिर भी यह मान्यता अवश्य रही कि श्रमण स्वयं अपने हाथ से कुछ न लिखे क्योंकि लेखन में निम्न दोषों की संभावना है -

1. अक्षर लिखने से कुन्थु आदि त्रस जीवों की हिंसा होती है, अत: पुस्तक लिखना संयम विराधना का कारण है।[1]
2. पुस्तकों को एक ग्राम से दुसरे ग्राम ले जाते समय कन्धे छिलते हैं, घाव हो जाते हैं, व्रण हो जाते है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. उनके छिद्रों की सम्यक् प्रकार से पडिलेहन नहीं हो पाती।
4. कुंथु आदि त्रस जीवों का आश्रय होने के कारण पुस्तक अधिकरण है। चोर आदि द्वारा चुराये जाने पर भी अधिकरण हो जाती है।
5. तीर्थंकरों ने श्रमणों को अपरिग्रही कहा है, जबकि पुस्तक परिग्रह है।
6. पुस्तकें पास में रखने से स्वाध्याय में प्रमाद होता है, पुस्तकों के बांधने, खोलने में भी काफी समय बीत जाता है।
7. पुस्तक बांधने, खोलने से और जितने अक्षर लिखे जाते हैं, उतने चतुर्लघुकों का प्रायश्चित्त आता है।[92]

अत: इन सभी कारणों की अपेक्षा से लेखन कला का ज्ञान होने पर भी आगमों का लेखन नहीं हो पाया। श्रमण के जीवन में ध्यान और स्वाध्याय का विधान तो मिलता है परन्तु लिखने का विधान कहीं पर भी प्राप्त नहीं होता। इतना सब होते हुए भी आगम सम्पूर्णत: विच्छिन्न न हो जाय, मात्र इसी लक्ष्य से आगम लिखने का और रखने का विधान किया।

आगमों का व्याख्यात्मक साहित्य

जैनागम सूत्रबद्ध होने के कारण उन्हें व्याख्यायित करना अनिवार्य था। इस व्याख्या साहित्य के अन्तर्गत निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका और टब्बा या हिन्दी अनुवाद आते हैं। आगम संकलन के साथ ही व्याख्या साहित्य का लेखन प्रारम्भ हो गया।

निर्युक्ति साहित्य

सर्वप्रथम भद्रबाहु स्वामी ने दस आगम ग्रन्थों पर पद्यबद्ध प्राकृत निर्युक्ति साहित्य लिखा। आचार्य भद्रबाहु ने, आवश्यक निर्युक्ति की गाथा ८८ में निर्युक्ति का निरूक्त इस प्रकार किया है - **'निज्जुत्ता ते अत्था जं बद्धा तेण होइ निज्जुत्ती।'** जिसके द्वारा सूत्र के साथ अर्थ का निर्णय होता है, वह निर्युक्ति है। **'सूत्रार्थयो: परस्परं नियोजनं संबंधनं निर्युक्ति:'** निश्चत रूप से सम्यग् अर्थ का निर्णय करना तथा सूत्र में ही परस्पर संबद्ध अर्थ का प्रकट करना निर्युक्ति का उद्देश्य है। जर्मन विद्वान् शार्पेन्टियर के अनुसार निर्युक्तियाँ प्रधान रूप से संबंधित ग्रन्थ के इन्डेक्स का कार्य करती है।[93] इस परिभाषा से यही फलित होता है, सूत्र में निर्युक्त (विद्यमान) अर्थ की व्याख्या करना निर्युक्ति है। निर्युक्ति आगमों पर आर्या छन्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्राकृत गाथाओं में लिखा संक्षिप्त विवेचन है। इसमें कथ्य को पुष्ट करने के लिये कथानकों का प्रयोग भी हुआ है। परन्तु यह इतना संक्षिप्त और सांकेतिक है कि बिना भाष्य और टीका के समझ में नहीं आता। अत: टीकाकारों ने आगमों के साथ निर्युक्ति पर टीकाएँ लिखी।

पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति मूलागमों में मानी जाती है। इससे भी निर्युक्ति साहित्य की प्राचीनता पुष्ट होती है। वल्लभी वाचना के समय चौथी-पाँचवी शताब्दी पूर्व ही निर्युक्तियाँ लिखनी प्रारम्भ हो गयी थी। नयचक्र के कर्ता आचार्य मल्लवादी (विक्रम की पाँचवी शताब्दी) ने अपने ग्रन्थ में निर्युक्ति की गाथा का उद्धरण दिया है। योग से निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएँ इस प्रकार मिश्रित हो गयी है कि चूर्णिकार भी उन्हें भिन्न नहीं कर पाये।[94]

1. **आवश्यक निर्युक्ति** - इसमें छह आवश्यकों का विवेचन है। सर्वप्रथम हरिभद्रसूरि ने इस पर शिष्यहिता नामक वृत्ति लिखी। इसी का अनुसरण करते हुए भट्टारक ज्ञानसागरसूरि ने अवचूरि लिखी। इसमें भद्रबाहु द्वारा आवश्यक आदि दश निर्युक्तियाँ रचने का उल्लेख है। बाद में मलयगिरि द्वारा रचित आवश्यकनिर्युक्ति टीका तीन भागों में प्रकाशित हुई। और भी अनेक आचार्यों ने इसकी निर्युक्ति पर अवचूरि लिखी। इस निर्युक्ति पर विपुल साहित्य की रचना हुई है।

2. **दशवैकालिक निर्युक्ति** - इस पर भद्रबाहु रचित 371 गाथा की निर्युक्ति है। निर्युक्ति और भाष्य वैसे मिश्रित हो गये हैं। सभी अध्ययनों पर निर्युक्ति की रचना हुई है। इसमें लौकिक, धार्मिक कथानकों द्वारा तथा सूक्तियों से सूत्रार्थ स्पष्ट किया गया है।

3. **उत्तराध्ययन निर्युक्ति** - इस सूत्र पर भद्रबाहुसूरि की 559 गाथाओं की निर्युक्ति है। मूलागम के 36 अध्ययनों पर यह निर्युक्ति है। इसमें गंधार श्रावक तोसलिपुत्र, आचार्य स्थूलभद्र, हरिकेशी, मृगापुत्र, करकण्डु आदि कथाओं का विवेचन है। आठ निह्नवों का भी विस्तार से वर्णन है। भद्रबाहु के चार शिष्यों द्वारा वैभार पर्वत की गुफा में शीत समाधि ग्रहण करने तथा मुनि सुवर्णभद्र द्वारा मच्छरों के उपसर्ग से कालधर्म प्राप्त होने का भी उल्लेख है। कहीं-कहीं मनोरंजक मागधिकाओं का भी वर्णन है।

4. **आचारांग निर्युक्ति** - आचारांग सूत्र पर भद्रबाहुसूरि ने 356 गाथाओं में निर्युक्ति लिखी है। इस पर शीलांक ने महापरिण्णा नामक सातवें अध्ययन की दश गाथाओं को छोड़कर टीका की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. **सूत्रकृतांग निर्युक्ति** - इसमें 205 गाथाएँ है तथा ऋषिभासित सूत्र का भी उल्लेख है। इस ग्रन्थ में गौतम, चण्डीदेवक, वारिभद्रक, अग्निहोत्रवादी तथा जल को पवित्र मानने वाले साधुओं के नाम है। साथ ही क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के भेद प्रभेद भी गिनाये गये हैं। पार्श्वस्थ, अवसन्न और कुशील नामक निर्ग्रन्थों से परिचय का निषेध भी इसमें किया गया है।

6. **दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति** - यह आगम जितना लघुकाय है, उतनी ही छोटी इसकी निर्युक्ति है। प्रारम्भ में रचनाकार ने अन्तिमश्रुतकेवली दशाकल्प और व्यवहार के प्रणेता भद्रबाहुसूरि को नमन किया है। दशा, कल्प और व्यवहार का यहाँ एक साथ उल्लेख है। आठवें अध्ययन की निर्युक्ति में पर्युषणा कल्प का व्याख्यान है।

7, 8. **बृहत्कल्प और व्यवहार निर्युक्ति** - बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र पर भी आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी थी। बृहत्कल्प निर्युक्ति संघदासगणि क्षमाश्रमण के लघुभाष्य की गाथाओं के साथ और व्यवहार निर्युक्ति व्यवहार भाष्य की गाथाओं के साथ मिश्रित हो गयी है।

9. **सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति** - यद्यपि भद्रबाहुसूरि ने इसकी रचना की थी, परन्तु कालचक्र के प्रभाव से इसके टीकाकार मलयगिरि के अनुसार यह नष्ट हो गयी है। अत: वे मात्र सूत्रों की ही व्याख्या कर पाये हैं।

10. **ऋषिभाषित निर्युक्ति** - यह रचना ऋषिभासित पर हुई थी, परन्तु वर्तमान में अनुपलब्ध होने से इसकी विषयवस्तु ज्ञात नहीं है।

भाष्य साहित्य

निर्युक्ति की तरह ही भाष्य भी प्राकृत में संक्षिप्त शैली में लिखे गये हैं। इनकी मुख्य भाषा अर्धमागधी है। वैसे शौरसेनी और मागधी के प्रयोग भी देखने में आते हैं। इनका मुख्य छन्द आर्या है। इनका रचनाकाल लगभग ईस्वी सन् की चौथी पाँचवीं शताब्दी है। भाष्यसाहित्य में निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य और बृहत्कल्पभाष्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। श्रमण संघ के आचार विचार अच्छी तरह से जानने के लिये इन तीनों का गम्भीर अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इन तीनों के रचयिता संघदासगणि क्षमाश्रमण है। ये वसुदेवहिण्डी के कर्ता संघदासगणि वाचक से भिन्न है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी कुछ आगम ग्रन्थों पर भाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखे है। निम्नलिखित सूत्रों के भाष्य उपलब्ध है -

निशीथ, व्यवहार, कल्प, पंचकल्प, जीतकल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवै-कालिक, ओघानिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति।

आगमों के अतिरिक्त चैत्यवन्दनं, देववन्दनादि पर भी भाष्य लिखे गये हैं।

चूर्णि साहित्य

निर्युक्ति गाथाओं के आधार पर चूर्णि साहित्य लिखा गया है। ये गद्य में रचित है, जो मात्र प्राकृत में ही न लिखी जाकर संस्कृत मिश्रित प्राकृत में लिखी गयी है। निशीथ के चूर्णिकार ने चूर्णि की निम्न परिभाषा दी है -

पागडो ति प्राकृत: प्रगटो वा पदार्थो वस्तुभावो यत्र स: तथा परिभाष्यते अर्थोनयेति परिभाषा चूर्णिरुच्यते॥

अभिधानराजेन्द्रकोष के निर्माता ने चूर्णि की निम्न परिभाषा दी है -

अत्थ बहुलं महत्थं हेउनिवाओवसग्ग गंभीरं।
बहुपाय भवोछिन्नं गमणयसुद्धं तु चुण्णपयं॥

जिसमें अर्थ की बहुलता व गम्भीरता हो, हेतु, निपात और उपसर्ग की गम्भीरता हो, अनेक पदों से समवेत हो, गमों से युक्त हो, नयों से शुद्ध हो, उसे चूर्णिपद समझना चाहिये।

निशीथ की विशेषचूर्णि और आवश्यकचूर्णि में पुरातत्त्व से संबंधित सामग्री की विपुलता है। लोककथा एवं भाषाशास्त्र की अपेक्षा भी इस साहित्य का अपना महत्त्व है।

वज्रशाखीय संघदासगणि महत्तर अधिकांश चूर्णियों के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध है। ईस्वी सन् की छठीं शताब्दी के आस-पास इनका समय माना जाता है। निम्नलिखित आगमों पर चूर्णि साहित्य उपलब्ध है -

आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, कल्प, व्यवहार, निशीथ, पंचकल्प, दशाश्रुत-स्कन्ध, जीतकल्प, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार।

आगमों के अतिरिक्त श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र, सार्धशतक तथा कर्मग्रन्थों पर भी चूर्णि साहित्य उपलब्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका साहित्य

निर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णियों के साथ आगम ग्रन्थों पर विस्तारपूर्वक टीकाएँ भी लिखी गयी। ये टीकाएँ आगम ग्रन्थों को समझने के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। टीकाओं की भाषा संस्कृत है। विक्रम की तृतीय शताब्दी में आचार्य अगस्त्यसूरि द्वारा निर्मित दशवैकालिक की चूर्णि में स्थान-स्थान पर टीकाओं का संकेत किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि टीकाओं की रचना आगमों की अन्तिम वल्लभी वाचना के पूर्व होना प्रारम्भ हो गया था।

टीकाकारों में आचार्य शीलांक, याकिनीसुनू हरिभद्रसूरि, नवांगी टीकाकार अभयदेव-सूरि आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। हरिभद्रसूरि ने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार एवं प्रज्ञापना पर टीकाएँ लिखी। इन टीकाओं में लेखक ने कथाभाग को प्राकृत में ही रहने दिया। हरिभद्रसूरि के लगभग 100 वर्ष पश्चात् शीलांकाचार्य हुए, जिन्होंने प्रारम्भ के दो आगम आचारांग एवं सूत्रकृतांग पर टीका लिखी। इन दोनों टीकाओं में जैन आचार, विचार एवं तत्त्वज्ञान से संबंधित उपयोगी चर्चा की गयी है।

अवशिष्ट नौ आगमों की टीका आचार्य अभयदेवसूरि द्वारा लिखी गयी। इतिहास के अनुसार जिस सूत्र की टीका में इन्हें सन्देह होता था, शासनदेवी सीमंधर परमात्मा से उसका समाधान करके इन्हें बताती थी।

आगम साहित्य के संस्कृत टीकाकारों में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। आचार्य मलयगिरि और हरिभद्रसूरि की आवश्यक निर्युक्ति पर, उत्तराध्ययन सूत्र पर वादि-वेताल शांतिसूरि एवं नेमिचन्द्रसूरि (देवेन्द्रगणि) की टीकाएँ भी उल्लेखनीय है। हरिभद्रसूरि तो टीकाकार एवं दार्शनिक ग्रन्थों के बहुश्रुत विद्वान् लेखक हुए हैं।

इस तरह आगम और उनकी व्याख्याओं के रूप में लिखे गये इस विराट् जैन साहित्य का अध्ययन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। विद्वान् एवं मनोवैज्ञानिक श्रमणों ने जैन सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये उदाहरणों का भरपूर उपयोग किया है। डॉ. विण्टरनित्स के शब्दों में 'जैन टीका साहित्य में भारतीय प्राचीन कथा साहित्य के अनेक उज्ज्वल रत्न विद्यमान है। अन्यत्र इस प्रकार के साहित्य का अभाव है।' व्याख्या साहित्य की चार विधाओं के अतिरिक्त और भी विधाएँ बाद में प्रचलित हुई जो संस्कृत व क्षेत्रीय भाषाओं में निबद्ध थी। जैसे कथा अवचूरि, थेरावली, टब्बा, दीपिका, तात्पर्य वृत्ति आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद परम्परा

व्याख्या साहित्य की अन्तिम विधा टब्बा के पश्चात् अनुवाद युग का प्रारम्भ हुआ। मुख्य रूप से आगम साहित्य का अनुवाद तीन भाषाओं में उपलब्ध होता है- हिन्दी, गुजराती और अंग्रेजी।

हिन्दी अनुवाद

शास्त्रों के अनुसार प्राचीन समय में आगम आम जनता को पढ़ने की अनुमति मूर्तिपूजक परम्परा में नहीं है। मूर्तिपूजक परम्परा की यह शास्त्रीय मान्यता है कि आगम स्वाध्याय से पूर्व विधिवत् तपश्चर्या करनी होती है, जिसे जैन शास्त्रीय भाषा में योगोद्वहन कहते हैं। जब तक तपस्या पूर्वक वांचना ली जाती, आगम पठन के अधिकारी नहीं हो सकते। योगोद्वहन एक अपेक्षा से आगम पाठ के लिए लाइसेंस है। चूँकि गृहस्थ योगोद्वहन नहीं कर सकते, अत: वे मूल आगम पढ़ने के अधिकारी नहीं हो सकते। और इसी कारण मूर्तिपूजक परम्परा में अनुवाद की परम्परा नहीं पनप सकी। फिर भी जब अन्य सम्प्रदायों में आगम अनुवाद की परम्परा चली तो मूर्तिपूजक परम्परा ने भी कुछ अनुवाद किये।

खरतरगच्छीय आचार्य जिनआनन्दसागरसूरि ने अनुत्तरोपपातिकदशा, उपासकदशा एवं औपपातिक सूत्र आदि आगमों का अनुवाद किया।

स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा में योगोद्वहन संबंधी मान्यता न थी। अत: उनमें अनुवाद का कार्य लगातार होता रहा। अमोलकऋषि स्थानकवासी परम्परा के आचार्य थे। उन्होंने 32 आगमों का हिन्दी में अनुवाद किया।

आत्मारामजी महाराज ने आगमों का अनुवाद एवं व्याख्याएँ लिखी। आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, अनुत्तरोपपातिक, उपासकदशा, अनुयोगद्वार, अन्तकृद्दशा, स्थानांग आदि पर हिन्दी में विस्तृत विवेचन लिखा।

आचार्य जवाहरलालजी की निश्रा में पण्डित अंबिकादत्त ओझा द्वारा सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की टीका का हिन्दी अनुवाद तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के मूल मात्र का अनुवाद चार भागों में प्रकाशित हुआ।

आचार्य हस्तीमलजी म. ने दशवैकालिक, नन्दी, प्रश्नव्याकरण, अन्तगडदशा आदि आगमों के अनुवाद किये। श्री सौभागमलजी म. ने आंचारांग का, ज्ञानमुनि ने विपाकसूत्र का, पं. विजयमुनि ने अनुत्तरोपपातिकदशा का, पं. हेमचन्द्रजी ने प्रश्नव्याकरणसूत्र का, अमरमुनि ने सूत्रकृतांग का अनुवाद एवं विस्तृत हिन्दी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन किया।

अनुयोग प्रवर्तक कन्हैयालालजी म. ने ठाणांग व समयवायांग, जैनागम निर्देशिका एवं आगम साहित्य के विषयों का पृथक्करण करके द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग एवं धर्मकथानुयोग का अलग-अलग प्रकाशन किया। मुनि फुलचंदजी म. ने 'सुत्तागमे' के नाम से दो भागों में मूल बत्तीस आगम प्रकाशित किये तथा 'अत्थागमे' के तीन भागों में ग्यारह अंगों का अनुवाद भी प्रकाशित किया । कविप्रवर श्री अमरमुनिजी म., आचार्य देवेन्द्रमुनि का भी आगम अनुसंधान में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

तेरापंथ के आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ का भी आगम संशोधन को महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने आगम बत्तीसी के कुछ आगमों का गंभीर एवं शोधयुक्त टिप्पण सहित हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन किया है तथा वर्त्तमान में भी यह प्रक्रिया जारी है। इसके अलावा आगम कोष आदि का प्रकाशन भी किया है।

गुजराती अनुवाद

आगम साहित्य के प्रखर विद्वान् शोध पण्डित बेचरदासजी डोसी ने भगवती सूत्र, राजप्रश्नीय सूत्र, ज्ञाताधर्मकथा एवं उपासक दशा के गुजराती अनुवाद किये, साथ ही आवश्यक स्थलों पर महत्त्वपूर्ण टिप्पण भी दिये। इनकी भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

गोपालदास जीवाभाई पटेल ने कुछ आगमों के हिन्दी तथा गुजरात अनुवाद किये जिसमें आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती, अन्तकृददशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, विपाकसूत्र आदि प्रमुख है। इसी प्रकार जीवराज घेलाभाई ने स्थानांग व समवायांग का, भगवानदास ने भगवती तथा उपासकदशा का गुजराती अनुवाद किया है।

इस युग के प्रबल मेधावी पण्डित श्री दलसुखभाई मालवणिया ने भी ठाणांग व समवायांग का संयुक्त एवं विद्वत्ता पूर्ण प्रकाशन कराया है। पण्डित मालवणिया के द्वारा दिये गये टिप्पण उनके पाण्डित्य एवं शोधरूचि को स्पष्ट उजागर करते हैं।

मुनि सौभाग्यचन्द्रजी (संतबालजी) ने भी आचारांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक पर अनुवाद करके उन्हें प्रकाशित किये हैं। श्री प्रेम जिनागम प्रकाशन समिति घाटकोपर, मुबंई से मूल व गुजराती अनुवाद युक्त आगम प्रकाशित हुए हैं, जिसके मुख्य संपादक पण्डित शोभाचंद्रजी भारिल्ल है । आचारांग, सूत्रकृतांग, उपासकदशांग और विपाक आदि कतिपय आगम मुद्रित हो चुके है और 32

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमों के प्रकाशन की योजना है । मुनि श्री घासीलालजी ने एक साथ आगम बत्तीसी की संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखते हुए उनका हिन्दी व गुजराती अनुवाद भी किया।

अंग्रेजी अनुवाद

जर्मन विद्वान् पर भारतीय साहित्य से अतीव रूचि रखने वाले श्री हर्मन जेकोबी ने आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन एवं कल्पसूत्र का अंग्रेजी अनुवाद किया है। कल्पसूत्र और आचारांग सूत्र पर उनकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना है। विद्वान् श्री अभ्यंकर ने भी दशवैकालिक सूत्र को अंग्रेजी में अनुदित किया है। इसके अतिरिक्त भी उपासकदशांग, अन्तगडदशांग, अनुत्तरोपपातिकदशांग, विपाक और निरयावलिका सूत्र भी अँग्रेजी में अनुदित हो चुके हैं।

इनके अतिरिक्त भी मूर्तिपूजक संप्रदाय में मुनि श्री पुण्यविजयजी म., दलसुखभाई मालवणिया एवं वर्तमान में मुनि श्री जंबूविजयजी म. द्वारा किया जा रहा आगमों का संपादन अत्यन्त आधुनिक दृष्टि से हुआ है। इनके द्वारा लिखी जाने वाली प्रस्तावनाएँ महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने जिन रहस्यों का अनावरण किया है, वह जिज्ञासु एवं श्रद्धालु दोनों के लिये उपयोगी है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *आवश्यक निर्युक्ति गाथा - 192*
2. *नन्दी सूत्र - 41*
3. *स्थानांग सूत्र - 150*
4. *(अ). अनुयोगद्वार-4, सुयसुत्त ग्रन्थ सिद्धंतपवयणे आणवयण उवएसे पण्णवण आगमे या एगट्ठा पज्जवासुत्ते- (ब). विशेषावश्यक भाष्य गा. 8/97*
5. *तत्त्वार्थ सूत्र - 1-20*
6. *संस्कृत धातुकोष- सं. युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ़ सोनीपत, हरियाणा। पृष्ठ 34*
7. *अमरकोष, 3.3.239 पृ. 440 (सुधाव्याख्या समुपेत)*
8. *पाणिनी अष्टाध्यायी, 2.1.13*
9. *आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरि वृत्ति - 21 पृ. 49*
10. *अमरकोष - 2.8.95*
11. *रत्नाकरावतारिका वृत्ति : आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्ध्यन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः।*
12. *स्याद्वादमंजरी, श्लो. 38 टीका– आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः।*
13. *विशेषावश्यकभाष्य गाथा-559*

सासिज्जइ जेण तयं सत्थं तं वा विसेसियं नाणं।
आगम एव य सत्थं आगमसत्थं तु सुयनाणं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

14. रत्नाकरावतारिका वृत्ति : आ-समन्ताद् गम्यते वस्तुतत्त्वमनेनेत्यागमः।
15. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति : आ-अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्ति रूपेण, मर्यादया वा यथास्थित प्ररूपणा रूपया गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्ते अर्थाः येन स आगमः।
16. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 89-90-

तव नियमनाणरूक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा॥

17. नियमसार 8 :

तस्स मुहग्गदवयणं त्वापरदोसविरहियं सुद्धं।
आगमिदि परिकहियं तं ण दुकहिया हवं तच्चत्था।

18. नियमसार वृत्ति 1.5
19. पंचास्तिकायतात्पर्यवृत्ति - 173.225
20. उपासकाध्ययन (सोमदेवसूरिकृत)
21. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा- विवृत्तिविमर्शिनी, आचार्य अभिनव गुप्त पृ. 97
22. रूद्रयामल तंत्र, वाचस्पत्यम्, प्र. ख., पृ. 616 का पाद टिप्पण
23. योगसूत्र - 7
24. योगवार्तिक
25. सांख्यसूत्र - 1.101
26. सांख्यकारिका माठरवृत्ति, 5
27. न्यायसूत्र - 1.1.7
28. भगवती सूत्र - 5.3.192
29. स्थानांग सूत्र - 338.228
30. आचारांग सूत्र - 1.5.4
31. व्यवहारभाष्य गाथा - 201
32. अनुयोगद्वार सूत्र - 470, पृष्ठ 179
33. वही
34. आवश्यक निर्युक्ति गाथा - 192
35. नन्दीसूत्र - 40
36. मूलाचार - 5.80
37. अ) विशेषावश्यक भाष्य गाथा - 550 ब) बृहत्कल्प भाष्य - 144
स) तत्त्वार्थ भाष्य - 1/20 द) सर्वार्थ सिद्धि - 1/20
38. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. 7
39. बृहत्कल्पभाष्य गाथा - 963-966
40. वही - 132
41. आचारांग सूत्र -1.5.5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

42. समवायांग, समवाय 14
43. पाक्षिक सूत्र, दुवालसंगे गणिपिडगे
44. अ) समवायांग वृत्ति पत्र 101 : प्रथमं पूर्व तस्य सर्व प्रवचनात् पूर्वं क्रियमाणत्वात्
(ब). स्थानांग वृत्ति पत्र- 10.1
(स). नंदीसूत्र (विजयदानसूरि संशोधित) चूर्णि पृ. 111 अ.
45. (अ) नंदी मलयगिरि वृत्ति पत्र 240
(ब) षट्खण्डागम धवला टीका वीरसेनाचार्य पृ. 114
46. विशेषावश्यकभाष्य गाथा - 554
47. अंतकृत्दशा, अ. 1, वर्ग-3 : चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ।
48. वही
49. पाणिनीय शिक्षा 41-42
50. सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र 2/34 डॉ. नलिनाक्ष दत्त का देवनागरी संस्करण
51. बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ अभिसमयालंकार की टीका पृ. 35 : सूत्रं गेयं व्याकरणं...द्वादशांगमिदं वचः।
52. मूलाराधना 4-599 विजयोदया
53. नंदी सूत्र - 43
54. विशेषावश्यकभाष्य गाथा - 552
55. तत्त्वार्थ भाष्य - 1.20
56. सर्वार्थ सिद्धि - 1.20
57. तत्त्वार्थ राजवार्तिक - 1.20
58. प्रभावक चरित्र, आर्यरक्षित प्रबन्ध, श्लोक 82-84
59. आवश्यक निर्युक्ति गाथा - 773-774
60. सूत्रकृतांग चूर्णि. पत्र-4
61. रत्नकरंडश्रावकाचार, अधिकार-1 पृ. 71-73
62. तत्त्वार्थ भाष्य - 1.20
63. सुबोधा समाचारी, पृ. 31-34
64. (अ) वायणाविहि पृ.-64
(ब) जैन. सा. बृ. इ. भाग - 1 प्रस्तावना पृ. 40.41
65. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग 1 पृ. 30
66. गाथासहस्री श्लोक-297, पृ.-18 : पणयातीसं आगम।
67. प्रभावक चरित्र, आर्यरक्षित प्रबंध
68. समाचारी शतक पत्र-76
69. आवश्यक निर्युक्ति गाथा - 77
70. विशेषावश्यक भाष्य गा. - 2295
71. निशीथ भाष्य गा. - 5947
72. स्थानांग सूत्र गा. - 5.2.428

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

73. दशाश्रुतस्कंध चूर्णि, पत्र-2
74. निशीथ सूत्र - 19.17
75. निशीथ भाष्य, 6148 : छेय सुयमुत्तम सुयं ।
76. आगम युग का जैन दर्शन पृ. 21-22
77. तत्त्वार्थ सूत्र - 1.20 श्रुतसागरीय वृत्ति
78. निशीथचूर्णि : पोराणमद्धमागह भासानिययं हवइ सुत्तं ।
79. अ) समवयांग सूत्र : भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ ।
ब) औपपातिक सूत्र : तएणं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स रण्णो भिंभिसार पुत्तस्स अद्धमागहीए भासाए भासइ..... साविय णं अद्धमागही भासा तेसिं सव्वेसिं अप्पणो सभासाए परिमाणेणं परिणमइ ।
80. दशवैकालिक हारिभद्रिया वृत्ति : बाल स्त्री..... प्राकृते कृतः ।
81. भगवती सूत्र - 5.4.20 : गोयमा देवाणं अद्धमागहीए..... विसिस्सइ
82. निशीथचूर्णि : मगहविसय भासाणिबद्धं अद्धमागहं अट्ठारस देसी भासाणिमयं वा अद्धमागहं
83. आचार्य हरिभद्र कृत उपदेशपद : जाओ अ तम्मि समए दुक्कालो दोय दसय वरिसाणि। सव्वो साहु समूहो गओ तओ जलहितीरसु। तदुवरमे सो पुणरवि पाडलिपुत्ते समागमो विहिया। संघे सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थेति। जं जस्स आसि पासे, उद्देस्सज्झयणमाइ संघडिउं। तं सव्वं एक्कारयं अंगाइं तहेव ठवियाइं।
84. आवश्यक वृत्ति पृ. 698 : तेण चिंतियं भगीणीणं इड्ढि दरिसेमित्ति सीहरूवं विउव्वइ।
85. आवश्यक चूर्णि पृ. 187
86. जै. सा. बृ. इति. भा. 1, पृ. 82
87. Journal of the Bihar and Udisa research society, Vol. 13, Page No. 336.
88. क. नंदी चूर्णि पृ. 8; ख. नंदी मलयगिरि वृत्ति पत्र-5
89. योगशास्त्र, प्र. 3, पृ. 207 : जिनवचनं च दुष्षमाकालवशात् उच्छिन्नप्रायमितिमत्वा भगवद्भिर्नागार्जुनस्कंदिलाचार्य प्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम् ।
90. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 38 : वलहिपुरम्मि नयरे देविड्ढिपमुहेण समणसंघेण। पुत्थइ आगमलिहिओ नवसयअसीआओ वीराओ ॥
91. अ. दशवैकालिक चूर्णि पृ.-21; ब. बृहत्कल्प निर्युक्ति, उ. 73, गा. 147
92. अ) दशवैकालिक चूर्णि पृ. 21 : कालं पुण पडुच्च चरणकरणट्ठा अवोच्छोतिनिमित्तं च गेण्हमाणस्स पोत्थए संजमो भवइ
ब) बृहत्कल्पभाष्य गा. 3821-3831
स) निशीथ भाष्य, उ. 12, गा. 4008 द) बृहत्कल्पनिर्युक्ति उ. 3,
93. (अ) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पत्र - 100
(ब) Uttaradhyayana Sutra, Preface, Page 50,51
94. मुनि पुण्यविजयजी द्वारा संपादित बृहत्कल्पसूत्र भाग 6 का आमुख पृ. 101

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2

सूत्रकृतांग सूत्र का परिचय एवं उसका व्याख्या साहित्य

सूत्रकृतांग का अर्थ

अंग साहित्य में सूत्रकृतांग का द्वितीय स्थान है। समवायांग, नन्दी तथा अनुयोगद्वार इन तीनों आगमों में प्रस्तुत अंग का 'सूयगडो' नाम उपलब्ध होता है।[1] निर्युक्तिकार[2] भद्रबाहु ने इसके तीन गुणनिष्पन्न नामों का उल्लेख किया है - 1 सूतगडं 2. सुत्तकडं तथा 3. सूयगडं।

1. **सूतगडं (सूतकृत)** - प्रस्तुत आगम के मूलकर्त्ता श्रमण भगवान महावीर द्वारा अर्थरूप में सूत (उत्पन्न) होने से इसका नाम सूतकृत है।

2. **सुत्तकडं (सूत्रकृत)** - इसमें सूत्रानुसार तत्त्वबोध (उपदेश) दिया गया है। अत: यह सूत्रकृत है।

3. **सूयगडं (सूचाकृत)** - इसमें स्व तथा पर समय (सिद्धान्त) को सूचित किया गया है। अत: इसका नाम सूचाकृत है।[3]

प्रथम परिभाषा से एक जिज्ञासा सहज उद्‌भूत होती है कि जब समस्त द्वादशांगी के अर्थप्ररूपक भगवान महावीर है तथा सूत्रकर्त्ता गणधर है, तब प्रस्तुत आगम (अंग) को ही 'सूतकृत' (तीर्थंकर से उत्पन्न) कहने का क्या औचित्य है ? इसी प्रकार द्वितीय नाम भी सभी अंगों के लिये व्यवहृत हो सकता है। प्रस्तुत आगम का तृतीय गुण निष्पन्न, सार्थक नाम ही इस प्रश्न का समाधान है। चूँकि इस आगम में स्वसमय तथा परसमय की तुलनात्मक प्रज्ञापना के साथ आचारविधि की स्थापना की गयी है। अत: इसका सम्बन्ध सूचना से है। इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथ्य का समवायांग तथा नन्दी में स्पष्ट उल्लेख है - 'सूयगडेणं ससमया सुइज्जंति, परसमया सूइज्जंति, ससमया परसमया सूइज्जंति।'[4]

'अर्थस्य सूचनात् सूत्रम्' इस व्याख्या के अनुसार जो अर्थ का सूचन करता है, वह सूत्र कहलाता है। प्रस्तुत आगम में सूचनात्मक तत्त्व की मुख्यता होने से इसका नाम सूत्रकृत है।

अचेलक परम्परा में इस अंग के तीन नाम मिलते है - सुदयड, सूदयड और सूदयद। इनमें प्रयुक्त 'सुद्द' या 'सूद' शब्द 'सूत्र' का एवं 'यड' अथवा 'यद' शब्द कृत का सूचक है। इस प्रकार इस अंग के प्राकृत नामों का संस्कृत रूपान्तर 'सूत्रकृत' ही समीचीन है। पूज्यपाद से लेकर श्रुतसागर तक के सभी तत्त्वार्थवृत्तिकारों ने सूत्रकृत नाम का ही उल्लेख किया है।[5] आचार्य वीरसेन के अनुसार इस सूत्र में अन्य दार्शनिकों का वर्णन है।[6] इस आगम की रचना का आधार भी यही है। अत: इसका सूत्रकृत नाम रखा गया है। सूत्रकृत के अन्य व्युत्पत्तिपरक अर्थों की अपेक्षा प्रस्तुत अर्थ वास्तविकता के अधिक निकट प्रतीत होता है।

सूत्रकृतांग एवं बौद्ध दर्शन के सुत्तनिपात में मात्र नाम साम्य ही नहीं पाया जाता अपितु गाथांश, गाथाएँ, भाव, भाषा एवं शब्द संयोजना की अपेक्षा भी काफी साम्यता है।

वर्गीकरण

युगप्रधान आर्य-रक्षिताचार्य ने द्वादशांगी का चार विभागों में वर्गीकरण किया है- चरणकरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, धर्मकथानुयोग तथा गणितानुयोग। चूर्णिकार[7] के अनुसार प्रस्तुत आगम चरणकरणानुयोग (आचार शास्त्र) है जबकि वृत्तिकार[8] ने इसे द्रव्यानुयोग की कोटि में रखा है। उनका यह मन्तव्य है कि आचारांग में मुख्य रूप से चरणकरणानुयोग का वर्णन है और सूत्रकृतांग में द्रव्यानुयोग का।

समवायांग तथा नन्दीसूत्र में द्वादशांगी का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, वहाँ पर 'एवं चरणकरण परूवता' यह पाठ उपलब्ध होता है। आचार्य अभयदेव ने चरण का अर्थ श्रमणधर्म तथा करण का अर्थ पिण्डविशुद्धि समिति किया है।[9] चूर्णिकार ने कालिकश्रुत को चरणकरणानुयोग तथा दृष्टिवाद को द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत माना है।[10] द्वादशांगी में दृष्टिवाद ही मुख्यत: द्रव्यानुयोग है। अन्य एकादश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंगों में द्रव्यानुयोग का प्रतिपादन गौण है तथा आचार शास्त्र की मुख्यता है। इसी प्रकार दृष्टिवाद में गौण रूप से आचार की विवक्षा है। एतदर्थ ही चूर्णिकार ने प्रस्तुत आगम को चरणकरणानुयोग माना है। वृत्तिकार आचार्य अभयदेव ने इसमें मुख्यतया द्रव्य का प्रतिपादन होने से इसे द्रव्यानुयोग माना है। इस प्रकार चूर्णिकार तथा वृत्तिकार दोनों के वर्गीकरण सापेक्ष है।

सूत्रकृतांग सूत्र के रचनाकार

निर्युक्तिकार[11] ने प्रस्तुत सूत्र के रचनाकार के विषय में किसी व्यक्ति विशेष का नाम उल्लिखित नहीं किया है, तथापि उनका यह कथन है कि तीर्थंकरों के वचनों को सुनकर कर्मों के क्षयोपशम से एकाग्रचित वाले गौतमादि गणधरों ने जिस सूत्र की रचना की है, उसका नाम सूत्रकृत है। अथवा गणधरों ने अक्षरगुणमतिसंघटना और कर्मपरिशाटना इन दोनों के योग से अथवा वाक्योग और मनोयोग से इस सूत्र की रचना की थी। इसलिये भी इसका नाम सूत्रकृत है।[12]

निर्युक्तिगत सूत्रकृत की इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि तीर्थकर जो देशना देते है, उससे गौतमादि समस्त गणधर पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से द्वादशांगी की रचना करते है।

भगवान महावीर के 11 गणधरों में से 9 गणधर तो भगवान के निर्वाण से पूर्व ही मुक्त हो गये थे। आर्य गौतम तथा आर्य सुधर्मा - ये दो गणधर ही विद्यमान रहे। इसमें भी इन्द्रभूति गौतम तो भगवान महावीर के निर्वाण की रात्रि में ही केवली बन गये तथा 12 वर्ष पश्चात् आर्य सुधर्मा को अपना गण सौंपकर निर्वाण को प्राप्त हो गये। अत: सुधर्म गणधर को छोड़कर शेष दसों गणधरों की शिष्य परम्परा तथा वाचनाएँ उनके निर्वाण के साथ ही समाप्त हो गयी। इस प्रकार भगवान महावीर की पट्टपरम्परा के उत्तराधिकारी आर्य सुधर्मा की ही अंग वाचना शिष्य परम्परा द्वारा प्रचलित होती हुई वर्त्तमान में सम्प्राप्त है। इस तथ्य को पुष्ट करने वाले प्रमाण आगामों में यत्र-तत्र उपलब्ध होते है। आचारांग सूत्र का उपोद्घातात्मक प्रथम वाक्य है - 'सुयं में आउसं! तेण भगवया एवमक्खायं।' अर्थात् - हे आयुष्मान्! मैंने सुना है- भगवान महावीर ने ऐसा कहा है।' इस वाक्य रचना से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि गुरु अपने शिष्य से वही बात कह रहा है, जो उसने स्वयं भगवान महावीर के मुखारविन्द से सुनी थी।

इस प्रकार सूत्रकृतांग सूत्र सुधर्मगणधर की रचना है, किन्तु वर्त्तमान में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई भी आगम अविकल रूप में प्राप्त नहीं है। आज जो भी प्राप्त है, वह उत्तरकाल में संकलित है और संकलनकार के रूप में वर्त्तमान आगमों के रचनाकार देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण हैं।

सूत्रकृतांग सूत्र का रचनाकाल

चूँकि सूत्रकृतांग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध सुधर्मगणधर की रचना है, अत: इसका कालमान ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी माना जा सकता है। परन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकार के विषय में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। अत: इसका रचनाकाल निर्धारित करना भी कठिन ही है। परन्तु देवर्द्धि गणि के समय यह अंग विद्यमान था। इस आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह भी ईसा के 500 वर्ष पूर्व का होना चाहिये। जिस प्रकार आगमों में सर्वाधिक प्राचीन आगम आचारांग है, उसी प्रकार सूत्रकृतांग को भी उतना ही प्राचीन कहने में किसी भी विद्वान को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

प्रो. विंटरनित्स का मत है कि इसका प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है, उसकी तुलना में द्वितीय श्रुतस्कन्ध अर्वाचीन है। उनके अनुसार प्रथम श्रुतस्कन्ध एक व्यक्ति की रचना है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध, जो कि गद्यात्मक है, अव्यवस्थित ढंग से एकत्र किये गये परिशिष्टों का समूह मात्र है। फिर भी भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों का बोध कराने की दृष्टि से वह भी महत्त्वपूर्ण है।[13]

प्रो. विंटरनीत्स का कथन बहुत अंशों में सत्य के निकट है। भाषा, रचनाशैली, शब्द प्रयोग आदि की दृष्टि से आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाँति सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भी प्राचीन प्रतीत होता है। आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध जैसे प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिका (परिशिष्ट) के रूप में उत्तरकाल में उसके साथ जोड़ा गया है, इसी प्रकार सूत्रकृतांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिका के रूप में बाद में जोड़ दिया गया है। हालाँकि इसकी चूलिका होने का स्पष्ट उल्लेख हमें कहीं नहीं मिलता जैसा उल्लेख आचारांग की चूलिका का 'आयार चूला' में मिलता है। तथापि द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध का परिशिष्ट है, यह तथ्य निर्युक्तिकार द्वारा प्रयुक्त किये गये 'महाध्ययन' शब्द से ज्ञात होता है।[14]

चूर्णिकार ने निर्युक्तिकार के इस आशय को कुछ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन छोटे है तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन बड़े है।[15]

वृत्तिकार शीलाङ्काचार्य ने निर्युक्तिकार के इस अभिप्राय को बहुत अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो विषय संक्षिप्त रूप से निरूपित किये गये है, वे ही विषय द्वितीय श्रुतस्कन्ध में उपपत्ति (युक्ति) पूर्वक विस्तृत कहे गये है। क्योंकि वे ही सिद्धान्त अथवा विधियाँ सुसंग्रहित होती है, जो समास (संक्षेप) तथा व्यास (विस्तार) पूर्वक कही जाये। इस कथन में उनका मन्तव्य स्पष्ट झलकता है कि संक्षेप तथा विस्तार इन दोनों विधियों से विषय-विवक्षा समीचीन रूप से प्रतिपादित होती है।[16] इस प्रकार विषय-निरूपण एवं भाषा शैली की दृष्टि से प्रथम श्रुतस्कन्ध का समय महावीर के समकालीन कहा जा सकता है। परन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध उत्तराकाल में ही संकलित हुआ होगा।

सूत्रकृतांग सूत्र की रचनाशैली

सूत्रकृतांग चूर्णिकार के अनुसार सूत्रों की रचना मुख्यत: चार प्रकार से की जाती है-[17]

1. गद्य - चूर्णि ग्रन्थ, जैसे ब्रह्मचर्य अध्ययन (आचारांग)।

2. पद्य - सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का 16वाँ 'गाथा षोडषक' अध्ययन।

3. कथ्य - कथनीय-कथाप्रधान, जैसे उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, ज्ञाताधर्मकथा आदि।

4. गेय - स्वर सहित, जैसे उत्तराध्ययन का 8वाँ अध्ययन।

दशवैकालिकनिर्युक्ति में ग्रथित एवं प्रकीर्णक दो प्रकार की शैली का उल्लेख मिलता है।[18] ग्रथित शैली से तात्पर्य है - रचना शैली।

प्रकीर्णक शैली का अर्थ है - कथाशैली।[19]

ग्रथित शैली चार प्रकार की होती है - गद्य, पद्य, गेय और चौर्ण।[20]

सूत्रकृतांग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध पद्यात्मक शैली में ग्रथित है। इसमें वैतालिक, अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, गाथा आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है।

द्वितीय वैतालीय अध्ययन वैतालिक छन्द में निबद्ध है। निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन के नाम का भी यही कारण प्रस्तुत किया है। वृत्तिकार ने इस छन्द के लक्षण का अपनी वृत्ति में उल्लेख किया है।[21] सोलहवाँ "गाथा षोडषक अध्ययन" गद्यशैली में रचित होने पर भी पद्यात्मक है। निर्युक्तिकार ने 'गाथा' शब्द की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मीमांसा में अनेक विकल्प प्रस्तुत किये है। इस व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत अध्ययन गेय है एवं गाथा छन्द या सामुद्र छन्द में रचित है।[22] इसी प्रकार पन्द्रहवाँ यमकीय अध्ययन यमक अलंकार में ग्रथित है, जो आगम ग्रन्थों की काव्यात्मक शैली का विरल और अनूठा उदाहरण है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पञ्चम तथा षष्ठ अध्ययन को छोड़कर शेष समस्त अध्ययन गद्य शैली में रचित है, जोकि बहुत विस्तृत है। इस श्रुतस्कन्ध में दृष्टान्तों तथा रूपकों के द्वारा विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। प्रथम पुण्डरीक अध्ययन में पुण्डरीक कमल का रूपक देकर संसार तथा निर्वाण की जो परिकल्पना प्रस्तुत की गयी है, वह अत्यन्त सुन्दर एवं सहज बोधगम्य है। इसी प्रकार अन्य अध्ययनों में भी अनेक स्थलों पर दृष्टान्तों का प्रयोग हुआ है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में जहाँ प्रत्येक विषय को सटीक, भावभरी उपमाओं के द्वारा स्पष्ट किया गया है, वहीं षष्ठ वीरस्तुति नामक अध्ययन में परमात्मा महावीर की स्तवना में संसार की समस्त उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठतम उपमाओं की तो जैसे शृंखला ही बन गयी है।

इस प्रकार प्रस्तुत आगम की रचना शैली में अनेक विधाओं के दर्शन होते है।

सूत्रकृतांग सूत्र : एक विश्लेषण

1. **श्रुतस्कन्ध** - अनेक अध्ययनों के समूह को स्कन्ध कहा जाता है। स्कन्ध वृक्ष के उस भाग को अर्थात् तने को कहते है, जहाँ से अनेक शाखाएँ फूटती है। जब किसी श्रुत अर्थात् शास्त्र में वर्ण्य विषय एवं शैली आदि की दृष्टि से अनेक विभाग किये जाते है, तब उसे श्रुतस्कन्ध कहते है। जैसे आचारांग को बाह्याचार और आन्तरिक आचार में एवं सूत्रकृतांग को पद्य एवं गद्य की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है।

सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कन्ध है।[23] प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है जबकि द्वितीय श्रुतस्कन्ध बाद में जोड़ दिया गया है। यह मान्यता भी प्रचलित है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध के विषयों का ही द्वितीय श्रुतस्कन्ध में विस्तार हुआ है।

2. **अध्ययन** - सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन है। निर्युक्तिकार ने दोनों श्रुतस्कन्ध के तेबीस अध्ययन एवं तैंतीस उद्देशकों का उल्लेख किया है।[24] प्रथम श्रुतस्कन्ध में 16

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन होने से इसे 'गाथा षोडषक' तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन विस्तृत होने से 'महज्झयणा' भी कहा जाता है।[25] समवायांग, नन्दी, उत्तराध्ययन तथा आवश्यक सूत्र में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[26]

3. उद्देशक - जैनागमों का विषय विभाग की दृष्टि से जब वर्गीकरण किया जाता है, तब बड़े प्रकरण को अध्ययन तथा छोटे प्रकरण को उद्देशक कहा जाता है। अध्ययन के लिये ग्रन्थांश एवं कालांश की समुचित व्यवस्था की जाती थी। वही उद्देशन काल है। उदाहरण स्वरूप आचार्य शिष्य को आगम का अध्यापन करवाते है। पहला पाठ होता है - अंग, श्रुतस्कन्ध, अध्ययन और उद्देशक का बोध कराना। यह एक उद्देशक काल है। इस प्रकार पूर्ण ग्रन्थ के अध्ययन की व्यवस्था की जाती थी। सूत्रकृतांग के अध्ययन तथा उद्देशकों का विभाग इस प्रकार है -

प्रथम श्रुतस्कन्ध

अध्ययन		उद्देशक
1.	समय	4
2.	वैतालीय	3
3.	उपसर्ग परिज्ञा	4
4.	स्त्री परिज्ञा	2
5.	नरक विभक्ति	2
6.	वीर स्तुति	1
7.	कुशील परिभाषा	1
8.	वीर्य	1
9.	धर्म	1
10.	समाधि	1
11.	मार्ग	1
12.	समवसरण	1
13.	याथातथ्य	1
14.	ग्रन्थ	1
15.	आदान	1
16.	गाथा	1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

अध्ययन		उद्देशक
1.	पुण्डरीक	1
2.	क्रियास्थान	1
3.	आहारपरिज्ञा	1
4.	प्रत्याख्यान क्रिया	1
5.	अनाचार श्रुत	1
6.	आर्द्रकीय	1
7.	नालन्दीय	1

इस प्रकार दो श्रुतस्कन्ध में कुल 23 अध्ययन तथा 33 उद्देशक है।

अचेलक (दिगम्बर) परम्परा में भी सूत्रकृतांग सूत्र के तेबीस अध्ययन मान्य है। परन्तु उपर्युक्त नामों में व अचेलक परम्परा में उलपब्ध नामों में कहीं-कहीं थोड़ा सा भेद है। प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी नामक पुस्तक में 'तेवीसाए सुद्दयडएज्झाणेसु' ऐसा उल्लेख है। इस पाठ की "प्रभाचन्द्रीय वृत्ति" में इन तेबीस अध्ययनों के नाम भी गिनायें गये है, जो इस प्रकार है - 1. समय 2. वैतालीय 3. उपसर्ग 4. स्त्रीपरिणाम 5. नरक 6. वीर स्तुति 7. कुशील परिभाषा 8. वीर्य 9. धर्म 10. अग्र 11. मार्ग 12. समवसरण 13. त्रिकाल ग्रन्थहिद (?) 14. आत्मा 15. तदित्थगाथा (?) 16. पुण्डरीक 17. क्रियास्थान 18. आहारक परिणाम 19. प्रत्याख्यान 20. अनगारगुणकीर्ति 21. श्रुत 22. अर्थ 23. नालन्दा।[27]

4. पदपरिमाण - विशेषावश्यकभाष्य में पद का स्वरूप बताते हुए इसको अर्थ का वाचक एवं द्योतक कहा है।[28] बोलना, बैठना, अश्व, वृक्ष आदि पद के वाचक है। प्र, परि, च, वा इत्यादि पद द्योतक है। इसके अलावा पद के पाँच प्रकार भी उपलब्ध होते है। नामिक, नैपातिक, औपसर्गिक, आख्यातिक और मिश्र। अश्व, वृक्ष आदि नामिक पद है। खलु, हि इत्यादि नैपातिक पद है। अप, सम, अनु इत्यादि औपसर्गिक पद है। दौड़ता है, खाता है इत्यादि आख्यातिक पद है। संयत, प्रवर्धमान, निवर्तमान आदि मिश्र पद है।

श्वेताम्बर परम्परा में पदपरिमाण उपलब्ध नहीं है, परन्तु दिगम्बर साहित्य में पद परिमाण का व्यवस्थित क्रम उल्लिखित है। उनके अनुसार पद के तीन प्रकार होते है - 1. अर्थपद 2. मध्यम पद और 3. परिमाण पद।

अ. अर्थपद - जितने अक्षरों से अर्थ की उपलब्धि होती है, वह अर्थपद है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब. मध्यमपद - सोलह सौ चौतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी (16,34,83,07,888) मध्यमपद के वर्ण होते है। अंगों और पूर्वो का प्रमाण मध्यमपद के द्वारा होता है।[29]

स. प्रमाणपद - आठ अक्षरों से निष्पन्न प्रमाणपद कहा जाता है।

सूत्रकृतांग निर्युक्ति में सूत्रकृतांग का पदपरिमाण आचारांग से दुगुना अर्थात् छत्तीस हजार बताया गया है।[30] यह पद संख्या श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों परम्परा के ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर निर्दिष्ट की गयी है।[31]

यदि मध्यमपद के आधार पर सूत्रकृतांग की गणना की जाय तो इसका आकार बहुत विशाल हो जाता है। परन्तु इसका वर्त्तमान आकार छोटा है, अत: यह कहा जा सकता है कि आगम संकलन के समय इसका कुछ भाग लुप्त हो गया होगा क्योंकि देवर्द्धिगणि के समक्ष यही आकार उपलब्ध था। उन्होंने छत्तीस हजार पदों का उल्लेख परम्परा से प्राप्त मान्यता के अनुसार ही किया है।

नन्दी सूत्र के अनुसार सूत्रकृतांग में संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर है।[32]

5. वाचना - नन्दी तथा समवायांग के अनुसार सूत्रकृतांग की परिमित वाचनाएँ है। किन्तु वर्त्तमान में उपलब्ध सुत्रकृतांगवृत्ति में स्वीकृत पाठ रूप (माथुरी) एक वाचना तथा 'नागार्जुनीयास्तु' इन दो वाचनाओं का ही उल्लेख है।

6. अनुयोगद्वार - सूत्रकृतांग में संख्यात अनुयोगद्वार है। हरिभद्रसूरि ने अनुयोग का अर्थ "अध्ययन के अर्थ की प्रतिपादन पद्धति" किया है।[33] अनुयोग के चार द्वार होते है । जिस प्रकार द्वार रहित नगर नगर नहीं होता, उसी प्रकार उपक्रमादि के अभाव में ग्रन्थ का कोई रूप नहीं होता। विशेषावश्यक भाष्य में इसका विस्तार से उल्लेख मिलता है।[34] व्याख्या के चार द्वारों को आचारांग वृत्ति में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है -[35]

(अ) उपक्रम - यह व्याख्या का पहला द्वार है। इसके द्वारा श्रोता और पाठक को ग्रन्थ का परिचय कराया जाता है, जिसे उपोद्घात भी कहते है। बृहत्कल्पभाष्य की वृत्ति में उपोद्घात पर महत्त्वपूर्ण चर्चा करते हुए कहा है - "जिस प्रकार अँधेरे तलघर में रखी हुई वस्तुएँ दीपक के प्रकाश में दिखायी देती है, उसी प्रकार शास्त्र में निहित अर्थ उपोद्घात के द्वारा अभिव्यक्त होता है। शास्त्र की उपादेयता उपोद्घात से प्रमाणित होती है। मेघ से आच्छादित चन्द्रमा अधिक प्रकाशमान नहीं होता, उसी प्रकार शास्त्र भी उपोद्घात के बिना उपयोगी नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता।''[36]

(ब) निक्षेप - शब्दों में विशेषण के द्वारा 'प्रतिनियत' अर्थ का प्रतिपादन करने की शक्ति निहित करना निक्षेप है।

(स) अनुगम - अस्तित्व, नास्तित्व, द्रव्यमान, क्षेत्र, स्पर्शना, काल आदि अनके पहलुओं की व्याख्या करना अनुगम है।

(द) नय - अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का बोध करना नय है।

सूत्रकृतांग में उपरोक्त चारों व्याख्या द्वारों का समावेश किया गया है।

7. छन्द - सूत्रकृतांग में गाथा, अनुष्टुप आदि संख्यात छन्द है।

8. निर्युक्ति - निश्चयपूर्वक अर्थ का प्रतिपादन करने वाली युक्ति निर्युक्ति है। सूत्रकृतांग में संख्यात निर्युक्तियाँ है।

9. प्रतिपत्ति - जिसमें द्रव्यादि पदार्थों की मान्यता का अथवा प्रतिमा आदि अभिग्रह विशेष का उल्लेख हो वह प्रतिपत्ति है। सूत्रकृतांग में ऐसी प्रतिपत्तियाँ भी संख्यात है।

सूत्रकृतांग सूत्र की विषयवस्तु

सूत्रकृतांग की विषय-वस्तु का सामान्य परिचय विविध ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। समवायांग[37] में प्रस्तुत आगम का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें लोक-अलोक, जीवाजीव आदि 9 पदार्थ, स्वसमय तथा परसमय की सूचना दी गयी है। 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी, 32 विनयवादी, इस प्रकार 363 पाखण्डियों के मत का निरूपण करते हुए अभिजात श्रमणों की दृष्टि परिमार्जित करने हेतु स्वसमय की प्रस्थापना की गयी है। नन्दीसूत्र में भी सूत्रकृतांग के विषय में लोक-अलोक, जीव-अजीव आदि के निरूपण के साथ क्रियावादी आदि 363 कुतीर्थिकों के मत का निरास करने की चर्चा की गयी है।[38]

दिगम्बर साहित्य धवला[39] में कहा गया है कि सूत्रकृतांग सूत्र में ज्ञान, विनय, कल्प्य-अकल्प्य, छेदोपस्थापना, व्यवहार धर्म का विवेचन है तथा स्वसमय-परसमय व क्रियाओं का निरूपण है। आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में सूत्रकृतांग के विषय का निरूपण उक्त प्रकार से ही किया है।[40] जयधवला[41] के अनुसार सूत्रकृतांग में स्वसमय-परसमय, स्त्रीपरिणाम, क्लीबता, अस्पृष्टता, कामावेश, विभ्रम, आस्फालन सुख (स्त्रीसंग का सुख), पुरुषेच्छा आदि का वर्णन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। अंगपण्णति में बताया गया है कि सूत्रकृतांग में ज्ञान-विनय, निर्विघ्न अध्ययन, सर्वसत्क्रिया, प्रज्ञापना, सुकथा, कल्प्य, व्यवहार, धर्मक्रिया, छेदोपस्थापन, यतिसमय, परसमय एवं क्रियाभेद का निरूपण है।

इस प्रकार सचेलक तथा अचेलक ग्रन्थों में निर्दिष्ट सूत्रकृतांग के विषय अधिकांशतया वर्त्तमान वाचना में विद्यमान है। यह अवश्य है कि किसी विषय का निरूपण मुख्य रूप से हुआ है तो किसी का गौण रूप से।

सूत्रकृतांग सूत्र का संक्षिप्त अध्ययन परिचय

प्रथम श्रुतस्कंध

1. **समय अध्ययन** - सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम अध्ययन का प्रारम्भ एक महत्त्वपूर्ण शब्द से होता है। प्रारम्भिक गाथा में ही सम्पूर्ण सूत्र की रचना का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत प्रथम गाथा में परमात्मा ने प्रश्नात्मक भाषा का उपयोग करते हुये सम्पूर्ण ग्रन्थ को समाधान के रूप में प्रस्तुत किया है - "बुज्झिज्ज त्तिउट्टेज्जा बंधणं परिजाणिया। किमाह बंधणं वीरे ? किं वा जाणं तिउट्टइ ?" जागे एवं परमात्मा ने बन्धन किसे कहा है, उसे समझे। 'बुज्झिज्ज' यह एक ही शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो जाग जाता है, वह कभी संतप्त नहीं होता।

प्रथम श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन समय है। इसमें परसमय का परिचय देकर उसका निरसन किया गया है। आगे इसी में परिग्रह को बंध और हिंसा को वैरवृत्ति का कारण बताते हुए परवादियों का परिचय दिया गया है। इस आगम की यह विशिष्टता है कि इसमें पहले परिचय और बाद में निरसन की शैली को अपनाया गया है। इसमें आगे निर्युक्तिकार ने[42] गाथापञ्चक के द्वारा सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों के अर्थाधिकारों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इसी क्रम में प्रथम अध्ययन में वर्णित वादों का भी संक्षेप में उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है - पंचमहाभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद, अफलवाद (क्षणिकवाद), नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद, कर्मोपचय निषेधवाद, लोकवाद, अवतारवाद आदि परसमय (सिद्धान्त) के खण्डन तथा स्वसमय के मण्डन की चर्चा की गयी है।

2. वैतालिय अध्ययन में शरीर की अनित्यता, उपसर्ग सहन, काम-परित्याग, कषायजय का सम्यक् उपदेश दिया है। इस अध्ययन में प्रयुक्त वैतालिय वृत्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(छन्द) का लक्षण वृत्तिकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

वैतालीय रलगनैर्घना: षड् युक्पादेऽष्टौ समे च ल:।
न समोऽत्र परेण युज्यते, नेतषट् च निरन्तरा युजो: ॥[43]

जिस वृत्त के प्रत्येक पाद के अन्त में रगण, लघु और गुरु हो, प्रथम और तृतीय पाद में छ:-2 मात्राएँ हो, द्वितीय तथा चतुर्थ पाद में आठ-2 मात्राएँ हो, सम संख्या वाला लघु परवर्ण से गुरु न किया जाता हो तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में लगातार छ: लघु न हो उसे वैतालीय छन्द कहते है।

3. उपसर्ग अध्ययन में श्रमण धर्म के पालन में आने वाले विभिन्न उपसर्गों का वर्णन है।

4. स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन में स्त्री सम्बन्धी अनुकूल उपसर्गों को सहन करते हुये साधक को ब्रह्मचर्य में स्थिर रहने की प्रेरणा दी गयी है।

5. नरकविभक्ति अध्ययन में नरक के दारूण दु:खों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

6. वीरस्तुति अध्ययन में परमात्मा महावीर की लोक की सर्वोत्तम उपमाओं से स्तुति की गयी है।

7. कुशील परिभाषा अध्ययन में शील-अशील तथा कुशील का वर्णन है।

8. वीर्य अध्ययन में पण्डितवीर्य तथा बालवीर्य को व्याख्यायित किया गया है।

9. धर्म अध्ययन में वीतराग प्ररूपित लोकोत्तर धर्म का प्रतिपादन है।

10. समाधि अध्ययन में ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप भाव समाधि को उपादेय बताया गया है।

11. मार्ग अध्ययन में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप प्रशस्त भाव मार्ग को आचरणीय बताया गया है।

12. समवसरण अध्ययन सूत्रकृतांग सूत्र का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्ययन है। इसमें तत्कालीन क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी-इन चारों वादों के 363 भेदों का उल्लेख करते हुए स्वाग्रही होने से उन्हें मिथ्या बताया गया है तथा इन वादों की दार्शनिक समालोचना करते हुये स्वमत की स्थापना द्वारा सापेक्ष दृष्टिकोण को सम्यक् बताया गया है।

13. याथातथ्य अध्ययन में प्रत्येक सूत्र के अर्थ-भावार्थ-परमार्थ आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को सम्यक्तया समझकर उसका प्ररूपण तथा तदनुसार आचरण करने की प्रेरणा दी गयी है।

14. ग्रन्थ अध्ययन में बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थों (गाँठ) के त्याग का उपदेश है।

15. यमकीय अध्ययन में विवेक की दुर्लभता, संयम के सुपरिणाम, साधना की सुपद्धति का निरूपण है, जिसका आदान (ग्रहण) करके साधक अपने कर्मों का क्षय करता है। यह अध्ययन यमक अलंकार में रचित है।

16. गाथा नामक षोडश अध्ययन गद्यात्मक होने पर भी गेय है। निर्युक्तिकार[44] तथा वृत्तिकार ने गाथा छन्द की विभिन्न प्रकार से मीमांसा की है -

अ. जिसका उच्चारण कर्णप्रिय, मधुर तथा सुन्दर हो, वह मधुरा भी गाथा है।

ब. जो मधुर अक्षरों में प्रवृत्त करके गायी जाती हो, वह भी गाथा है।

स. जिसमें अलग-अलग स्थित अर्थसमूह का एकत्रीकरण किया गया हो, वह भी गाथा है।

द. जो छन्दोबद्ध न होकर भी गायी जाती हो, वह गाथा है।

इ. जो सामुद्र (गाथा) छन्द में रचित मधुर प्राकृत शब्दावली से युक्त हो, वह भी गाथा है।

निर्युक्तिकार[45] के द्वारा प्रयुक्त सामुद्रछन्द का लक्षण छन्दोनुशासन के 6ठें अध्याय में इस प्रकार बताया गया है, 'ओजे सप्त समे नव सामुद्रकम्॥' यह लक्षण प्रस्तुत अध्ययन की गाथाओं पर लागू नहीं होता। अत: यह शोध का विषय है।

वृत्तिकार ने[46] गाथा का सामुद्रछन्द की दृष्टि से इस प्रकार अर्थ किया है - जो अनिबद्ध है, छन्दोबद्ध नहीं है, उसे संसार में पण्डितों ने गाथा नाम दिया है। गाथा छन्द की उपर्युक्त समस्त व्याख्याओं के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत गाथा अध्ययन में पूर्वोक्त अध्ययनों का अर्थ समूह एकत्रकर समाविष्ट किया है। अत: इसे गाथा षोडषक कहा जाता है। तथा पद्यात्मक न होने पर भी गाथा छन्द में निबद्ध है, अत: गेय होने से भी इसका नाम गाथा रखा गया है। इस अध्ययन में माहन, श्रमण, भिक्षु तथा निर्ग्रन्थ का स्वरूप प्रशंसात्मक रूप से बताया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

1. पुण्डरीक नामक प्रथम अध्ययन में संसार रूप पुष्करिणी, कर्मरूप जल, कामभोग रूप कीचड़, पुण्डरीक कमलरूप राजा, धर्मतीर्थ रूप तट, कुशल भिक्षु रूप धर्म की प्रतीकात्मक कल्पना की गयी है। इस पुष्करिणी के मध्य में पुण्डरीक कमल है, जिसे पाने के लिये चार दिशाओं से चार पुरुष क्रमशः तज्जीवतच्छरीरवादी, पंचभूतवादी, ईश्वरकारणवादी तथा नियतिवादी आते है। वे सभी संसार रूप पुष्करिणी के कामभोग रूप कीचड़ में फँसकर पुण्डरीक कमल को पाने में असफल रहते है। अन्त में एक निस्पृह, अनासक्त, अहिंसादि पंचमहाव्रतों का पालन करने वाला साधक ही उस श्रेष्ठ कमल को प्राप्त करता है। इस रूपक की मनोरम व्याख्या के साथ उपर्युक्त चार वादों का यहाँ विस्तृत विश्लेषण हुआ है।

2. क्रियास्थान अध्ययन में कर्मबन्ध की कारणभूत बारह क्रियाओं का और कर्मबन्ध से मुक्त होने की तेरहवीं क्रिया का वर्णन होने से इसका नाम 'क्रियास्थान' है।

3. आहार परिज्ञा अध्ययन में द्रव्य तथा भाव आहार की विस्तृत चर्चा करते हुये श्रमण को मर्यादापूर्वक, निर्दोष, कल्पनीय आहार ग्रहण करने की बात पर विशेषरूप से बल दिया गया है।

4. प्रत्याख्यान क्रिया नामक अध्ययन में समस्त पाप कर्मों का बन्ध रोकने के लिये प्रत्याख्यान रूप संवर द्वारा आत्मा को अनुशासित करने की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है।

5. आचार श्रुत व अणगार श्रुत इस अध्ययन के ये दो नाम उपलब्ध होते है। इसमें साधु के अनाचार का निषेधात्मक रूप से वर्णन करते हुये उनसे सम्बन्धित आचारों का वर्णन होने से ये दोनों ही नाम सार्थक प्रतीत होते है।

6. आर्द्रकीय अध्ययन में अनार्य देशोत्पन्न आर्द्रकुमार के जीवन की घटना का निर्युक्तिकार तथा वृत्तिकार ने विस्तृत उल्लेख किया है। जब आर्द्रकुमार मुनिदीक्षा लेकर परमात्मा महावीर के समवसरण की ओर प्रस्थान करते है, तब रास्ते में गोशालक, बौद्धभिक्षु, सांख्यमतवादी, एकदण्डी, हस्तीतापस आदि के साथ वाद-विवाद होता है। आर्द्रक मुनि युक्तियुक्त वचनों के द्वारा इन पाँचों के मतों का प्रखरता के साथ निरसन करते है।

7. नालन्दीय अध्ययन में गणधर गौतम तथा पार्श्वापत्यीय पेढालपुत्र उदक की धर्म चर्चा का वर्णन है। अन्त में गौतम के द्वारा समाहित होने पर पेढालपुत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चातुर्याम धर्म को छोड़कर प्रतिक्रमणसहित पञ्चमहाव्रत रूप धर्म को स्वीकार करता है।

इन समस्त अध्ययनों तथा वादों का विस्तृत वर्णन तथा दार्शनिक विश्लेषण अगले अध्ययन में किया जायेगा।

सूत्रकृतांग सूत्र का व्याख्या साहित्य

मूल ग्रन्थों के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिये उस पर व्याख्यात्मक साहित्य लिखने की परम्परा प्राचीन भारतीय साहित्यकारों में विशेष रूप से विद्यमान रही है। वे मूलग्रन्थ के प्रत्येक शब्द की विवेचना एवं आलोचना करते तथा उस पर एक छोटी या बड़ी टीका लिखते। इस प्रकार के साहित्य से दो प्रयोजन सिद्ध होते है। व्याख्याकार को अपनी लेखनी से ग्रन्थकार के अभीष्ट अर्थ का विश्लेषण करने में असीम आत्मोल्लास होता है तथा कहीं-कहीं उसे अपनी मान्यता प्रस्तुत करने का अवसर भी मिलता है। दूसरी ओर पाठक को ग्रन्थ के गूढार्थ तक पहुँचने के लिये अनावश्यक श्रम भी नहीं करना पड़ता। इस प्रकार व्याख्याकार का परिश्रम स्व-पर-उभय के लिये कल्याणकारी तथा उपयोगी सिद्ध होता है।

प्राचीनतम जैन व्याख्यात्मक साहित्य में आगमिक व्याख्याओं का अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है। इन व्याख्याओं को हम पाँच कोटियों में विभक्त कर सकते है - 1. निर्युक्ति 2. भाष्य 3. चूर्णि 4. टीका तथा 5. लोकभाषाओं में रचित व्याख्याएँ।

अंगसूत्रों के क्रम में सूत्रकृतांग सूत्र का द्वितीय स्थान होने पर भी दार्शनिक साहित्य की दृष्टि से इसकी महत्ता और मूल्यवत्ता आचारांग सूत्र की अपेक्षा भी अधिक है। इसमें तत्कालीन अन्य मतों एवं दार्शनिक वादों का जो विस्तृत वर्णन एवं गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत हुआ है, उसी को लक्ष्य में रखकर अनके श्रुतधर आचार्यों ने इस पर व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण किया है, जो इस प्रकार है -

1. सूत्रकृतांग निर्युक्ति

रचनाकार -

जैनागमों के सर्वप्रथम व्याख्याकार कहलाने का श्रेय निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) को है। जिस प्रकार वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिये यास्क महर्षि ने निघण्टुभाष्यरूप निरूक्त लिखा, उसी प्रकार जैनागमों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिये आचार्य भद्रबाहु ने प्राकृत पद्य में 10 निर्युक्तियों की रचना की, जिसमें सूत्रकृतांगनिर्युक्ति का 5वाँ स्थान है। यह सूत्रकृतांगसूत्र का सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या ग्रन्थ है।

रचनाकाल -

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति के कर्त्ता निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु, छेदसूत्रकार, चतुर्दशपूर्वधर आर्य भद्रबाहु से भिन्न है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने अपनी दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति एवं पंचकल्पनिर्युक्ति के प्रारम्भ में छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार किया है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर के सहोदर माने जाते है। ये अष्टांग निमित्त तथा मंत्रविद्या में पारंगत नैमित्तिक भद्रबाहु के रूप में भी प्रसिद्ध है। उपसर्गहर स्तोत्र तथा भद्रबाहुसंहिता भी इन्हीं की रचनाएँ है। वराहमिहिर वि.सं. 532 में विद्यमान थे, क्योंकि 'पंचसिद्धान्तिका' के अन्त में शक संवत् 427 अर्थात् वि.सं. 562 का उल्लेख है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु का भी लगभग यही समय है। अत: निर्युक्तियों का रचना काल वि.सं. 500-600 के बीच में मानना युक्तियुक्त है।[47]

निर्युक्ति की व्याख्यापद्धति बहुत प्राचीन है। निर्युक्तिकार ने इन आगमिक निर्युक्तियों में जैन परम्परागत अनेक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या की है, जिसमें उन्होंने निक्षेपपद्धति का आधार लिया है। निक्षेपपद्धति में किसी एक शब्द के समस्त सम्भावित अर्थों का निर्देश करके प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने अपनी निर्युक्तियों में प्रस्तुत अर्थ के निश्चय के साथ ही तत्सम्बद्ध अन्य बातों का भी निर्देश किया है।

विषयवस्तु -

सूत्रकृतांग निर्युक्ति में 205 गाथाएँ है, जो प्राकृत में निबद्ध है। इसमें सूत्रकृतांग में आये शब्दों की व्याख्या न करके निर्युक्तिकार ने अध्ययनगत शब्दों की व्याख्या अधिक की है। निर्युक्ति के प्रारम्भ में सूत्रकृतांग के आधार पर सूत्र एवं कृत की व्याख्या करते हुए गाथा दो में इसके तीन गुण निष्पन्न नामों का उल्लेख किया गया है। कालकरण की व्याख्या भी ज्योतिष् की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस निर्युक्ति में मुख्य रूप से समय, उपसर्ग, स्त्री, पुरुष, नरक, स्तुति, धर्म, वीर्य, शील, समाधि, मार्ग, ग्रहण, पुण्डरीक, सूत्र, आर्द्र, अलं, आदि पदों का निक्षेप-पद्धति से विशद विवेचन हुआ है। इसमें समय, वीर्य, मार्ग आदि शब्दों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की व्याख्या अनेक आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक रहस्यों को प्रकट करने वाली है। इस विस्तृत व्याख्या के पीछे दो तथ्य स्पष्ट होते है -

1. उस समय में कुछ शब्दों के विविध अर्थ विस्मृत होने लगे होंगे।

2. उस समय में निक्षेप परम्परा का प्रारंम्भ हो चुका होगा।

सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम 'समय' अध्ययन में अनेक दार्शनिक वादों का वर्णन है, तथापि निर्युक्तिकार ने पंचमहाभूतवाद और अकारवाद इन दो वादों के खण्डन में ही अपने तर्क प्रस्तुत किये है। पाँचवें नरक विभक्ति अध्ययन की विवक्षा में पन्द्रह परमाधार्मिक देवों के कार्यों का वर्णन रोमांच पैदा करने वाला है। सूत्रकृतांग के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'समवसरण' अध्ययन की विवक्षा में 119वीं गाथा में निर्युक्तिकार ने 363 मतान्तरों का निर्देश किया है, जिसमें 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी तथा 32 प्रकार के विनयवादी है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम पौण्डरीक अध्ययन की निर्युक्ति में संसार की विविध सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं की गणना करवा दी गयी है।

निर्युक्तिकार का यह शैलीगत वैशिष्ट्य है कि वे पर्यायवाची शब्दों की ओर विशेष ध्यान नहीं देते तथा कथा का भी विस्तार नहीं करते तथापि छठे अध्ययन में प्रसंगवशात् आर्द्रकुमार की कथा का विस्तृत उल्लेख किया है।

सातवें तथा अन्तिम नालन्दा अध्ययन में 'अलं' शब्द की नामादि चार निक्षेपों द्वारा विविध प्रकार से व्याख्या करते हुए नालन्दा में हुई गौतम तथा पार्श्वापत्यीय श्रमण उदक की चर्चा का वर्णन किया है।

इस प्रकार आकार में अत्यन्त लघुकाय ग्रन्थ होने पर भी निर्युक्तिकार ने इसमें प्रत्येक पद की जो महत् और स्फुट व्याख्या की है, वह उस महापुरुष की प्रचण्ड प्रतिभा और प्रखर प्रज्ञा को ही उजागर करती है।

2. सूत्रकृतांग चूर्णि

आगमों की प्राचीनतम पद्यात्मक व्याख्याएँ निर्युक्ति तथा भाष्य के रूप में प्रसिद्ध है, जोकि प्राकृत में रचित है। जैनाचार्यों को पद्यात्मक व्याख्याओं के साथ गद्यात्मक व्याख्याओं की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी आवश्यकता की पूर्ति के रूप में आगम तथा आगमेतर साहित्य पर प्राकृत अथवा संस्कृत मिश्रित प्राकृत में व्याख्याएँ लिखी गयी, जो चूर्णियों के रूप में प्रसिद्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचनाकार -

चूर्णिकार के रूप में जिनदासगणिमहत्तर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके जीवन चरित्र के सम्बन्ध में विशेष सामग्री अनुपलब्ध है। निशीथ विशेष चूर्णि के अन्त में चूर्णिकार का नाम जिनदास बताते हुये प्रारम्भ में उनके विद्यागुरु के रूप में प्रद्युम्न, उत्तराध्ययन चूर्णि के अन्त में उनके धर्मगुरु का नाम वाणिज्य कुलीन कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपाल गणिमहत्तर बताया गया है। नन्दी चूर्णि के अन्त में भी चूर्णिकार द्वारा दिया गया परिचय अस्पष्ट ही है।

रचनाकाल -

जिनदास के समय के विषय में इतना कहा जा सकता है कि ये भाष्यकार आचार्य जिनभद्र के बाद तथा वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र के पूर्व हुए है। इसका प्रमाण यह है कि आचार्य जिनभद्र के भाष्य की अनेक गाथाओं का उपयोग इनकी चूर्णियों में हुआ है जबकि आचार्य हरिभद्र ने अपनी टीकाओं में इनकी चूर्णियों का पूरा उपयोग किया है। आचार्य जिनभद्र का समय वि.सं. 600-660 के निकट है। तथा आचार्य हरिभद्र का समय वि.सं. 757-827 के बीच का है। ऐसी दशा में चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर का समय वि.सं. 650-750 के बीच में मानना चाहिये।[48] नन्दी चूर्णि के अन्त में उसका रचनाकाल शक् संवत 598 अर्थात् वि. सं. 733 निर्दिष्ट है।[49] इससे भी यही सिद्ध होता है। इन्होंने वस्तुत: कितनी चूर्णिया लिखी, यह अद्यावधि पर्यन्त अनिश्चित है। तथापि परम्परा से निम्नांकित चूर्णियाँ जिनदासगणि महत्तर की मानी जाती है - निशीथविशेष चूर्णि, नन्दी चूर्णि, अनुयोगद्वार चूर्णि, आवश्यक चूर्णि, दशवैकालिक चूर्णि, उत्तराध्ययन चूर्णि और सूत्रकृतांगचूर्णि।

विषयवस्तु -

सूत्रकृतांगचूर्णि[50] सूत्रकृतांग निर्युक्ति के आधार पर लिखी गयी है। आचारांगचूर्णि तथा सूत्रकृतांगचूर्णि की शैली में अत्यधिक साम्यता है। यह चूर्णि संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में निबद्ध है तथापि संस्कृत का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। विषय विवेचन संक्षिप्त होने पर भी स्पष्ट है। निर्युक्ति में जिन विषयों पर विवक्षा की गयी है, उन्हीं विषयों की चूर्णि में कुछ विस्तृत रूप से व्याख्या की गयी है। निर्युक्ति का अनुसरण करते हुये इस चूर्णि में जहाँ प्रत्येक अध्ययन के नाम का निक्षेपपूर्वक विवेचन किया गया है, वहीं विवक्षित विषय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को और अधिक स्पष्ट करने के लिये उद्धरण के रूप में संस्कृत तथा प्राकृत गाथाओं के भी यत्र-तत्र दर्शन होते है। कहीं-कहीं नागार्जुनी वाचना के पाठान्तर भी दृष्टिगत होते है।

इस चूर्णि में मंगल चर्चा, तीर्थसिद्धि, संघात, विस्रसाकरण, बन्धनादिपरिणाम, भेदादि परिणाम, क्षेत्रादिकरण, आलोचना, परिग्रह, ममता, पञ्चमहाभूतिक, एकात्मवाद, तज्जीव तच्छरीरवाद, अकारकवाद, स्कन्धवाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद, त्रिराशिवाद, लोकविचार, प्रतिजुगुप्सा (गोमांस, मद्य, लहसुन, पलांडु आदि के प्रति अरूचि), वस्त्रादि प्रलोभन, सुरविचार, महावीरगुण स्तुति, कुशीलता-सुशीलता, वीर्य निरूपण, समाधि, दान, समवसरण, वैनयिकवाद, नास्तिकमत, सांख्यमत, ईश्वरकर्तृत्व चर्चा, भिक्षु के आहार का वर्णन, वनस्पतिभेद, पृथ्वीकायिकभेद, स्याद्वाद, आजीवकमत निरास, गोशालकमत निरास, बौद्धमत निरास तथा जातिवाद निरास आदि विषयों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

3. सूत्रकृतांग टीका

निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि की रचना के बाद जैनाचार्यों ने संस्कृत में आगमों पर अनेक टीकाओं की रचना की। टीका का अभिप्राय संस्कृत विवरण से है। इन टीकाओं के निर्माण से आगमिक साहित्य के क्षेत्र में काफी विस्तार हुआ। प्रत्येक आगम पर कम से कम एक टीका तो लिखी ही गयी। टीकाकारों ने इन टीकाओं में निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य आदि के विषयों का विस्तृत विवेचन तो किया ही, साथ ही नये-नये हेतुओं द्वारा उन्हें पुष्ट भी किया।

रचनाकार -

सूत्रकृतांग टीका के रचयिता आचार्य शीलांक मूर्धन्य टीकाकार थे। वे निवृत्ति कुलीन थे तथा इनका अपर नाम शीलाचार्य तथा तत्वादित्य भी था।[51] कहा जाता है कि इन्होंने नौ अंगों पर टीकाएँ लिखी थी[52], किन्तु वर्त्तमान में केवल आचारांग व सूत्रकृतांग की टीकाएँ ही उपलब्ध है।

रचनाकाल -

आचारांग तथा सूत्रकृतांग इन दोनों वृत्तियों में कहीं पर भी उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं मिलता तथापि आचारांगटीका की विभिन्न प्रतियों में उल्लिखित भिन्न-भिन्न समय के आधार पर उनके समय का निश्चित निर्धारण किया जा सकता है। किसी प्रति में शक् संवत 772 का उल्लेख है, तो किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में शक् संवत 784 का। किसी में शक् संवत 798 का उल्लेख है, तो किसी में गुप्त संवत 772 का[53]। इससे यही सिद्ध होता है कि आचार्य शीलांक शक् की 8वीं अर्थात् विक्रम की नवीं-दशवीं शताब्दी में हुए होंगे।[54]

विषयवस्तु -

आचार्य शीलांक द्वारा लिखित सूत्रकृतांगवृत्ति मूल तथा निर्युक्त्यनुसारी है। टीकाकार ने अपना विवरण शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं रखा है, अपितु प्रत्येक विषय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। इस टीका में दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता होने पर भी विवेचन क्लिष्ट न होकर सहजगम्य है। विषय के स्पष्टीकरण के लिये यत्र-तत्र पाठान्तर प्रस्तुत किये है। साथ ही संस्कृत तथा प्राकृत के अनेक श्लोक व गाथाओं को भी उद्धृत किया है परन्तु कहीं पर भी उनके रचयिता अथवा तत्संबद्ध ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं किया है। 'तदुक्तम्' 'तथा-चोक्तम्', 'उक्तञ्च', 'अन्यैरप्युक्तम्' इत्यादि पदों के द्वारा ही समस्त उद्धरणों को प्रयुक्त किया है।

टीकाकार ने टीका के प्रारम्भ में जिनेश्वरदेव को नमस्कार करते हुये प्रस्तुत विवरण लिखने की प्रतिज्ञा की है। पश्चात् अनके वादों का नामनिर्देशपूर्वक दार्शनिक-शैली में खण्डन- मण्डन किया है। स्वमत-परमत की मान्यताओं का निरूपण करते हुए स्वमत की महत्ता का अनेक युक्तियों द्वारा प्रतिपादन तथा परमत का अनेक हेतुओं द्वारा निरसन उनकी विलक्षण प्रतिभा को उजागर करता है। टीका के अन्त में टीकाकार ने इसके लेखन में वाहरिगणि के आत्मीय सहयोग का भी उल्लेख किया है।[55] प्रस्तुत टीका का ग्रन्थमान 12850 श्लोक प्रमाण है। तथापि 13000, 13325, 14000 होने का भी उल्लेख मिलता है।[56]

सूत्रकृतांग की अन्य टीकाएँ

शीलांकाचार्य के अतिरिक्त और भी अनेक श्रुतधर आचार्यों ने सूत्रकृतांगसूत्र पर टीका साहित्य का निर्माण किया है, जो इस प्रकार है -

1. वि. सं. 1583 में हर्षकुलगणि ने सूत्रकृतांगदीपिका की रचना की, जिसका ग्रन्थमान 6600, 8600, 7100, तथा 7000 आदि भिन्न-भिन्न श्लोक प्रमाण माना जाता है। यह संख्या मूल के साथ मानी गयी है। इसका अनुवाद तथा सम्पादन भीमसिंह माणेक द्वारा एवं प्रकाशन वि.सं. 1936 में मुंबई द्वारा हुआ है।[57]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. वि.सं. 1599 में परमसुविहित-खरतरगच्छविभूषण पाठकप्रवर-श्रीमत्साधुरङ्गगणि ने विस्तृत टीका के रूप में 13416 श्लोकमान सूत्रकृताङ्ग दीपिका की रचना की है, जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं अपनी दीपिका की समाप्ति में किया है। इसका प्रकाशन गोडीपार्श्व जैन ग्रन्थामाला द्वारा सन् 1950 में हुआ है।[58]
3. 20वीं शती में स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्री घासीलालजी म. ने भी सूत्रकृतांग-सूत्र पर बहुत ही विस्तृत संस्कृत टीका की रचना की है, जिसका राजस्थानी मिश्रित गुजराती में शब्दार्थ तथा हिन्दी अनुवाद भी कर दिया गया है।[59] उनकी शैली व्यासात्मक है तथा कहीं-कहीं पुनरावृत्ति भी हुई है। इस टीका में अनेक ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत करने के साथ जहाँ लेखक का स्वतन्त्र चिन्तन अभिव्यक्त हुआ है, वहीं परम्परागत मान्यताओं को पुष्ट करने का प्रयास भी हुआ है।

सूत्रकृतांगवार्तिक (टबा)

जैनागमों पर विपुल संस्कृतसाहित्य होते हुये भी जैनाचार्यों ने साधारण पाठकों के हित की दृष्टि से लोकभाषा में सरल व सुबोध आगमिक व्याख्याएँ लिखी है, जिन्हें बालावबोध कहा जाता है। इनकी भाषा तत्कालीन अपभ्रंश अर्थात् राजस्थानी मिश्रित प्राचीन गुजराती है -

1. साधुरत्नसूरि के शिष्य पार्श्वचन्द्रगणि ने वि. सं. 1572 में 8 हजार श्लोक प्रमाण सूत्रकृतांग बालावबोध की रचना की है, जिसका प्रकाशन वि.सं. 1936 में मुंबई द्वारा हो चुका है। इस प्रकाशन में शीलांककृत टीका, हर्षकुलकृत दीपिका, तथा पार्श्वचन्द्रकृत बालावबोध- इन तीनों का समाहार है।
2. विक्रम की 18वीं शताब्दी में लोंकागच्छीय टबाकार मुनि धर्मसिंहजी ने 27 आगमों पर टबे लिखे है। सूत्रकृतांगबालावबोध में रचनाकार ने मूलसूत्र पर बहुत ही सरल व्याख्या प्रस्तुत की है। परन्तु कहीं-कहीं सूत्रों का प्राचीन टीकाओं से अभिप्रेत अर्थ को छोड़कर स्व-सम्प्रदाय सम्मत अर्थ किया गया है, जो स्वाभाविक ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग सूत्र के अनुवाद

सूत्रकृतांग सूत्र पर मुख्य रूप से तीन भाषाओं में अनुवाद उपलब्ध होते हैं– हिन्दी, गुजराती तथा अंग्रेजी ।

हिन्दी अनुवाद

1. सूत्रगडांग सूत्र का सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद लगभग सवासौ वर्ष पूर्व का उपलब्ध होता है, जिसके कर्त्ता भीमसिंहमाणक है। इस अनुवाद में शीलांकवृत्ति, हर्षकुलकृत दीपिका एवं पार्श्वचन्द्रकृत बालावबोध का भी समावेश है। इसकी लिपि एवं भाषा शैली दोनों में शताब्दी पूर्व का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। सम्भवत: संक्षिप्त रूप से ही सही, परन्तु खड़ी बोली में सूत्रकृतांग का यह पहला-पहला ही अनुवाद होगा, जिसमें तीन टीकाओं का आधार लिया गया हो।[60]
2. सूत्रकृतांग का दूसरा हिन्दी अनुवाद स्थानकवासी परम्परा के आचार्य अमोलक ऋषिजी म. ने किया है।[61] आज से लगभग आठ दशक पूर्व इन्होंने एकाकी आगम बत्तीसी का प्राकृत से हिन्दी में अनुवाद कर श्रुतोपासना का अद्‌भुत कार्य किया है। इनके द्वारा अनूदित सूत्रकृतांग सूत्र मात्र मूल पाठ पर आधृत होने से अत्यन्त संक्षिप्त है। अत: गूढ शब्दों के रहस्य सुस्पष्ट तथा सहजगम्य नहीं है तथापि सामान्य रूप से आगम ज्ञान प्राप्ति में सहायक होने से तथा शुद्ध हिन्दी में प्रथम अनुवाद होने से इसका स्वत: महत्त्व है।
3. इसी कड़ी में सूत्रकृतांग सूत्र का विस्तृत हिन्दी अनुवाद आचार्य श्री जवाहरलाल म. के तत्त्वावधान में पण्डित अम्बिकादत्त ओझा द्वारा हुआ है। इन्होंने सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भद्रबाहुकृत निर्युक्ति तथा शीलांकवृत्ति का अक्षरश: हिन्दी अनुवाद किया है, जो सरल और आगम के मर्म को समझने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसमें मूल सूत्र की संस्कृत छाया, व्याकरण, अन्वयार्थ तथा भावार्थ के द्वारा सूत्रकृतांग सूत्र की गूढ विषय-वस्तु सहजतया सुस्पष्ट हो गयी है। भाषा में प्रांजलता न होने का कारण अक्षरश: अनुवाद है तथापि पण्डित ओझा का प्रगाढ पाण्डित्य तथा विषय सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध का अनुवाद वृत्ति सहित है तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के मूल मात्र का अनुवाद है, जो चार भागों में प्रकाशित है।[62]

4. गोपालदास जीवाभाई पटेल ने सूत्रकृतांग सूत्र का हिन्दी छायानुवाद किया है, जो बम्बई से प्रकाशित है।[63]
5. स्थानकवासी परम्परा के पण्डित मुनि उमेशचन्द्रजी म. ने भी अति संक्षेप में सूत्रकृतांग के मूल पाठ का हिन्दी अनुवाद किया है।[64]
6. अनुवाद की इस शृंखला में सूत्रकृतांग का सबसे महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट अनुवाद प्रवचनभूषण अमर मुनिजी म. द्वारा हुआ है। इसमें हेमचन्द्रजी म. ने अनुवाद सह विद्वत्तापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसका सम्पादन अमर मुनिजी म. ने अमर- सुखबोधिनीव्याख्या द्वारा किया है। प्रस्तुत संस्करण सूत्रकृतांग सूत्र का विराट्काय संस्करण है, जो दो भागों में प्रकाशित है।[65] इसमें सर्वप्रथम शुद्ध मूलपाठ है, तदनन्तर संस्कृत छाया, पदान्वयार्थ, मूलार्थ और विस्तृत विवेचन है, जिससे मूल का स्पष्ट अर्थ- बोध हो जाता है। यह विवेचन निर्युक्ति तथा शीलांकवृत्ति पर आधारित होने पर भी अत्यन्त सरस एवं सुबोध है। बिन्दुरूप मूलपाठ का सिन्धु रूप विशद विश्लेषण विवेचनकार की पाण्डित्य पूर्ण विवेचना शक्ति एवं प्रखर वैदुष्य को उजागर करता है।
7. सूत्रकृतांग सूत्र के हिन्दी अनुवाद का आधुनिक सम्पादन युवाचार्य मधुकरमुनिजी म. के प्रधान सम्पादकत्व में हुआ है, जो दो भागों में प्रकाशित है।[66]
8. सूत्रकृतांग सूत्र का महत्त्वपूर्ण युगीन हिन्दी अनुवाद किया है आचार्य महाप्रज्ञ ने। प्रस्तुत आगम दो भागों में प्रकाशित है।[67] इसका हिन्दी अनुवाद मूलस्पर्शी है। मूलपाठ के साथ संस्कृत छाया तथा टिप्पण भी लिखे गये है। ये टिप्पण चूर्णि तथा वृत्ति को लक्ष्य में रखकर ही दिये गये है, जिसमें गाथागत शब्दों की विस्तृत व्याख्या पाठान्तर के साथ प्रस्तुत की गयी है। यह अनुवाद टिप्पण सहित होने से विद्वज्जनों तथा शोधार्थियों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।
9. सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का हिन्दी अनुवाद मुनि ललितप्रभ सागरजी ने भी किया है, जो मूल पाठानुसारी है।[68]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुजराती अनुवाद

1. सूत्रकृतांग सूत्र का सर्वप्रथम गुर्जर भाषान्तर त्रिभोवनदास रूघनाथदास कृत प्राप्त होता है। यह अनुवाद एक शती पूर्व का है, जो दो भागों में प्रकाशित है।[69] प्रथम भाग में प्रथम श्रुतस्कन्ध तथा द्वितीय भाग में द्वितीय श्रुतस्कन्ध अनूदित है, जो मूलपाठ से रहित मात्र गुजराती भाषान्तर है तथापि सूत्र के शब्दार्थ व भावार्थ को स्पष्ट करने का यथासम्भव प्रयास इसमें दृष्टिगोचर होता है।
2. गुर्जर भाषा में द्वितीय अनुवाद माणेकमुनि ने किया है। सम्भवत: यह गुजराती भाषा में प्रथम अनुवाद होगा, जो शीलांकवृत्ति पर आधृत हो। यह अनुवाद निश्चय ही सम्पूर्ण प्रकाशित हुआ होगा परन्तु कितने भागों में प्रकाशित हुआ, इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि मुझे विभिन्न ज्ञानभंडारों में खोज करने पर भी मात्र प्रथम (2 अध्ययन) व द्वितीय (3 से 7 अध्ययन) भाग ही उपलब्ध हो सके है।[70] इस अनुवाद में माणेकमुनि ने संक्षेप में भी विषयगत रहस्य को स्पष्ट करने का सार्थक पुरुषार्थ किया है। यह अनुवाद 8 दशक पूर्व का है।
3. अनुवाद की शृंखला में सूत्रकृतांग सूत्र का तृतीय गुजराती अनुवाद भीखालाल गिरधरलाल शेठ से किया है। यह अनुवाद मूलपाठ तथा शीलांकवृत्ति के आधार पर ही किया गया है, जो चार भागों में विभक्त है। तीन भाग में प्रथम श्रुतस्कन्ध तथा चतुर्थ भाग में द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रकाशित है।[71]
4. लींबडी स्था. संप्रदाय के तपस्वी पं. डुंगरशी म. ने भी सूत्रकृतांग के मूलपाठ का गुजराती भाषांतर किया है।[72]
5. गोपालदास जीवाभाई पटेल ने सूत्रकृतांगसूत्र का हिन्दी के साथ गुजराती छायानुवाद भी किया है। यह अनुवाद 'महावीर स्वामीनो संयम-धर्म' नामक पुस्तिका के रूप में अहमदाबाद से प्रकाशित है।[73] इसमें मूलपाठ नहीं दिया गया है। मात्र गाथाओं का अतिसंक्षेप में गुजराती छायानुवाद है। कहीं-कहीं पर विषय की स्पष्टता के लिये अध्ययन के अन्त में टिप्पण भी दिये गये है। सूत्रकृतांग के दोनों श्रुतस्कन्ध इस लघुकाय पुस्तिका में समाविष्ट है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के प्रधान सम्पादकत्व में सूत्रकृतांग सूत्र के मूल पाठ का गुजराती अनुवाद हुआ है ।[74]
7. स्थानकवासी परम्परा की गोण्डलगच्छीय महासती उर्मिलाबाई ने भी सूत्रकृतांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्ध का गुजराती अनुवाद किया है, जो दो भागों में प्रकाशित है।[75] यह अनुवाद मूल, शब्दार्थ, भावार्थ व विवेचन सहित है, जो गुजराती भाषियों के अध्ययन में उपयोगी साबित होगा।
8. मुनि दीपरत्नसागरजी ने भी आगमदीप के प्रथम विभाग में आचार, सूत्रकृत, स्थान तथा समवाय इस आगमचतुष्क का गुर्जर छायानुवाद किया है, जोकि मूलपाठ सहित अतिसंक्षेप में है।[76]

अँग्रेजी अनुवाद

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् हर्मन याकोबी ने सूत्रकृतांग सूत्र का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। पाश्चात्य विद्वान् द्वारा जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण दार्शनिक आगम-ग्रन्थ का आंग्ल भाषा में किया गया यह अनुवाद अपने आपमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।[77]

प्रकाशन

सूत्रकृतांग सूत्र के मूलपाठ, निर्युक्ति, चूर्णि तथा टीकाओं का सम्पादन प्रकाशन भी समय-समय पर होता है।

1. सूत्रकृतांग सूत्र का भद्रबाहुकृत निर्युक्ति व शीलांककृत वृत्ति सहित प्रकाशन वि. सं.1973; ई.स. 1917 में आगमोदय समिति, मेहसाणा द्वारा हुआ है।
2. भद्रबाहुकृत निर्युक्ति व शीलांकवृत्ति सहित सूत्रकृतांग सूत्र का दो भागों में प्रकाशन जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई द्वारा भी हुआ है।
3. सूत्रकृतांग सूत्र के मूलपाठ, निर्युक्ति व वृत्ति का नवीन प्रकाशन आगम श्रुत प्रकाशन के द्वारा आगम सुत्ताणि (सटीकं) भाग-2 में हुआ है, जिसके संशोधक व संपादक मुनि दीपरत्न सागरजी है। इन्होंने अभिनव श्रुत प्रकाशन द्वारा लघु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित 'सूयगडो' के मूलपाठ का भी संपादन किया है।
4. सूत्रकृतांग के मूलपाठ व निर्युक्ति मात्र का प्रकाशन पूना द्वारा हुआ है, जिसके सम्पादक पी.एल वैद्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. निर्युक्ति व वृत्ति सहित सूत्रकृतांग के मूलपाठ का प्रकाशन वि.सं. 1950 में श्री गोडीपार्श्व जैन ग्रंथमाला द्वारा दो भागों में हुआ है। इस प्रति का संशोधन- सम्पादन चन्द्रसागरजी गणी ने किया है।
6. सूत्रकृतांगचूर्णि का प्रकाशन ऋषभदेव केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम द्वारा 1941 में हुआ है।
7. आगमप्रभाकर पुण्यपुरुष पुण्यविजयी म. ने सूत्रकृतांग सूत्र की निर्युक्ति व चूर्णि का सम्पादन-संशोधन किया है, जिसका प्रकाशन प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी द्वारा 1975 में हुआ है।
8. आगम-मर्मज्ञ मुनिप्रवर श्री जम्बुविजयजी म. ने सूत्रकृतांग सूत्र का बहुत ही सुक्ष्मता एवं श्रमपूर्वक सम्पादन किया है। यह महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई द्वारा सन् 1978 में प्रकाशित है।
9. आचारांग-सूत्रकृतांग की निर्युक्ति तथा वृत्ति का सम्मिलित सम्पादन पूज्य जम्बु विजयजी म. ने किया है, जिसका प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली द्वारा हुआ है।
10. श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला के द्वारा तीन विभाग में प्रकाशित सूत्रकृतांग का संशोधन संपादन आचार्य जिनेन्द्र सूरि ने किया है। इसमें भद्रबाहु कृत निर्युक्ति, जिनदासगणि कृत चूर्णि, श्री शीलाङ्काचार्य- श्री हर्ष कुलगणि- श्री साधुरंगगणि कृत टीकाओं का समावेश है। इसके प्रथम तथा द्वितीय भाग में प्रथम श्रुतस्कन्ध व तृतीय भाग में द्वितीय श्रुतस्कन्ध है।
11. 'अंगसुत्ताणि' नामक ग्रन्थ में आचारांग, सूत्रकृतांग आदि प्रारम्भिक आगमचतुष्क का मूलपाठ संकलित है। इसका सम्पादन आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा तथा प्रकाशन जैन विश्व भारती, लाडनूँ द्वारा हुआ है।
12. 'निर्युक्ति पंचक खण्ड-3' नामक ग्रन्थ में पाँच निर्युक्तियों में सूत्रकृतांग निर्युक्ति भी समाविष्ट है। इसका सम्पादन समणी कुसुमप्रज्ञा ने तथा हिन्दी अनुवाद मुनि दुलहराजजी ने किया है। इसमें पाँच निर्युक्तियों के मूलपाठ पाठान्तर सहित है तथा पीछे हिन्दी-अनुवाद एवं निर्युक्तिगत कथाओं का भी समावेश है।
13. सूत्रकृतांग की हर्षकुलकृत दीपिका का प्रकाशन श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई द्वारा दो भागों में वि.सं. 2049 में हुआ है। इसके संशोधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व संपादक मुनिद्वय श्री कल्याणबोधिविजय एवं संयमबोधिविजय है।

14. 'आगमगुण मंजुषा' नामक विराट्काय ग्रन्थ का सम्पादन आचार्य गुणसागरसूरि ने किया है, जिसमें सूत्रकृतांग सहित पैंतालीस आगमों का मूलपाठ प्रकाशित है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *(अ) समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सू. - 88*
   (ब) नन्दी सूत्र - 80
   (स) अनुयोगद्वार सूत्र - 50
2. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 2*
3. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 2*
   (अ) सूतमुत्पन्न अर्थरूपतया तीर्थकृद्भ्यस्ततः कृतं ग्रन्थ रचनया गणधरैरिति।
   (ब) सूत्रानुसारेण तत्त्वबोधः क्रियते अस्मिन्निति सूत्रकृतम्।
   (स) स्वपर समयार्थ सूचनं सूचा, साऽस्मिन् कृतेति सूचाकृतम्।
4. *(अ) समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सू. - 90*
   (ब) नन्दी सू. - 82
5. *जै. सा. बृ. इ. भाग - 1 पृ. - 173*
6. *कषायपाहुड, भाग - 1 पृ. - 134*
7. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृष्ठ - 3 : इह चरणाणुओगेण अधिकारो।*
8. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 1: तत्राचाराङ्गं चरणकरणप्राधान्येन व्याख्यातम्, अधुनाअवसरायातं द्रव्यप्राधान्येन सूत्रकृताख्यं द्वितीयमङ्गं व्याख्यातुमारभ्यत इति।*
9. *समवायांग वृत्ति पत्र - 102, : चरणम् - व्रतश्रमण धर्म संयमाद्यनेकविधम्। करणम् - पिण्डविशुद्धि समित्याद्यनेकविधम्।*
10. *सूत्रकृतांग चूर्णि - पृ. - 3 : कालिय सुयं चरणकरणाणुओगो, ... दिट्ठिवातो दव्वाणुजोगोत्ति।*
11. *(अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 18*
    (ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 6
12. *(अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 22*
    (ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 8
13. *History of Indian Lilerature, Part - II, Page - 441*
14. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा 142-143*
15. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 308*
16. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 267 : इहानन्तर श्रुतस्कन्धे योऽर्थः समासतोऽभिहितः असावेवानेन श्रुतस्कन्धेन सोपपत्तिको व्यासेन अभिधियते, त एव विधयः सुसंगृहीता*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवन्ति येषां समासव्यासाभ्यामभिधानमिति, यदिवा पूर्वश्रुतस्कन्धोक्त एवार्थोऽनेन दृष्टान्तद्वारेण सुखावगमार्थं प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धे-नायातस्यास्य श्रुतस्कन्धस्य सम्बन्धिनि सप्तमहाध्ययनानि प्रतिपाद्यन्ते।

17. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 7
18. दशवै. निर्युक्ति गाथा - 169
19. दशवै. हारिभद्रीया वृत्ति पत्र - 87
20. दशवै. निर्युक्ति गाथा - 170
21. (अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 38
    (ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 53
22. (अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 38
    (ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 53
23. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा 22 : 'दो चैव सुतक्खंधा'
24. वही
25. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 15
26. (अ) समवाओ, पइण्णगसमवाओ सू. 90:
    (ब) नन्दी सूत्र - 82
    (स) उत्तराध्ययन सूत्र 31/16
    (द) आवश्यक सूत्र - 4
27. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग - 1 पृ. - 173
28. विशेषावश्यक भाष्य गाथा - 1003
29. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. - 355
30. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा 22
31. (अ) समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सू. - 90
    (ब) कसायपाहुड, जयधवला भाग- 1 पृ. - 85
    (स) नन्दी सूत्र - 84
    (द) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. - 358
32. नन्दी सूत्र - 84
33. अनुयोगद्वार हारिभद्रीया वृत्ति पत्र - 26 : इहाध्ययनार्थकथन विधिरनुयोगः।
34. विशेषावश्यक भाष्य गाथा - 908/909
35. आचारांग वृत्ति पत्र - 2-3
36. बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति भाग - 1 पृ. - 2
37. समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सूत्र - 90
38. नन्दी सूत्र - 47
39. (अ) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास - भाग - 1 पृ. - 173
    (ब) षट्खण्डागम, धवला - भाग - 1 पृ. - 99

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

40. तत्वार्थ राजवार्तिक - 1/2
41. कसायपाहुड, जयधवला, भाग - 1 पृ. - 122
42. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 24-28
43. (अ) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 53
(ब) सूत्रकृतांग सूत्र भाग - 1 अम्बिकादत्त ओझा कृत अनुवाद पृ. - 194
44. (अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 139/140
(ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 262
45. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग - 1, पृ. - 199
46. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र. - 262 : तच्चेदं छन्दः = अनिबद्धं यत् लोके गाथेति तत्पण्डितैः प्रोक्तम्।'
47. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग - 3 पृ. - 6/7
48. गणधरवाद, प्रस्तावना - पृष्ठ - 32-3
49. (अ) नन्दी चूर्णि - (प्रा. टे.सो.) पृ. - 83
(ब) A History of Canonical Literature of Jainas.
50. सूत्रकृतांग चूर्णि, श्री ऋषभदेवजी केसरीमल श्वे. संस्था, रतलामं, सन् 1941 पृ. - 191
51. आचारांग वृत्ति पत्र 287 : निवृत्तिकुलीन श्री शीलाचार्येण तत्वादित्यापर नाम्ना वाहरिसाधु सहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति।
52. प्रभावक चरित्र : श्री अभयदेवसूरि प्रबन्ध, का. 104-105
53. A History of Canonical Literature of Jainas, P. No. - 197
54. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास - भाग - 3, पृ. - 352.
55. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र 427 (जंबुविजयजी द्वारा सम्पादित) 'कृताचेयं शीलाचार्येण वाहरिगणि सहायेन।'
56. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग - 1 पृ. - 30
57. श्री सूयगडांग सूत्र - भीमसिंह माणेक, रायधनपतसिंह बहादुर, कलकत्ता - प्रस्तावना - पृ. - 6 वि. सं. 1936
58 श्री सूत्रकृतांग दीपिका (प्र.श्रु.), गोडीपार्श्व जैन ग्रन्थमाला मुंबई, सन् - 1950 'श्रीमत्खरतरगच्छ, श्रीमज्जिनदेवसूरिसाम्राज्ये। श्री भुवनसोमसद्गुरु-शिष्यैः श्री साधुरङ्गा-ख्यैः॥' प्रशस्ति गा. - 22
59. श्री सूत्रकृतांग सूत्र, कन्हैयालालजी म., जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
60. श्री सूयगडांग सूत्र, भीमसिंह माणेक, रायधनपतसिंह बहादुर, कलकत्ता- वि.सं.- 1936
61. श्री सूत्रकृतांग सूत्र, अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया, तृ. सं. ई. स. 2002
62. सूत्रकृतांग सूत्र, महावीर जैन ज्ञानोदय सोसाइटी, राजकोट -बेंगलोर, वि. सं. -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1997 वि. सं. - 1993/1995
63. सूत्रकृतांग सूत्र, श्वे. स्था. जैन कोन्फरेन्स, बम्बई, सन् - 1938
64. सूत्रकृतांग सूत्र, श्री अ. भा. साधुमार्गी जै. सं. रक्षक संघ, सैलाना, वि. सं. - 2013
65. सूत्रकृतांग सूत्र, आत्मज्ञान पीठ, मानसा मण्डी, पंजाब
66. सूत्रकृतांग सूत्र, संपा. युवाचार्य मधुकरमुनि
आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई. स. 1982
67. सूयगडो, भाग-1-2 सम्पा. आचार्य महाप्रज्ञ
जैन विश्वभारती, लाडनूँ, प्र. भा. 2002, द्वि. भा. 1986
68. सूयगड सुत्तं, मुनि ललितप्रभसागर, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 1990
69. सूत्रकृतांग सूत्र, त्रिभोवनदास रूघनाथदास, आकाश शेठना कूंवा नी पोल, अहमदाबाद, 1899
70. सूत्रकृतांग सूत्र - मुनिमाणेक - श्रीमन् मोहनलालजी जैन श्वेताम्बर ज्ञान भण्डार गोपीपुरा, सुरत, सन् 1922
71. श्री सूत्रकृतांग सूत्र भाग - 1, 2, 3, 4, (टीका सहित गुर्जर अनुवाद)
72. श्री सूयगडांग सूत्र (गुजराती) पं. डुंगरशी म. मुंबई सन् 1976
73. महावीर स्वामी नो संयम धर्म, गोपालदास जीवाभाई पटेल, पूजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद वि. सं. - 1922
74. सूत्रकृतांग सूत्र, पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, श्री प्रेम जिनागम प्रकाशन समिति, घाटकोपर, मुंबई ।
75. सूत्रकृतांग सूत्र - 1 सम्पा. महासती उर्मिलाबाई - गुरुप्राण फाउन्डेशन
श्री रोयल पार्क स्था.जैन मोटा संघ, राजकोट - ई.स. 2000
76. आगमदीप, आगमदीप प्रकाशन, अहमदाबाद - ई. स. - 1997
77. H. Jacobi, S.B.E. Series, Vol. - 45, Oxford, 1895

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3

सूत्रकृतांग सूत्र का सर्वांगीण अध्ययन

प्रथम श्रुतस्कन्ध

1. समय अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के प्र. श्रु. के प्रथम अध्ययन का नाम 'समय' है। शब्दकोष में समय के कई अर्थ प्रतिपादित किये गये है, यथा - काल, शपथ, सौगन्ध, आचार, सिद्धान्त, आत्मा, अंगीकार, स्वीकार, संकेत, निर्देश, भाषा, सम्पत्ति, आज्ञा, शर्त, नियम, अवसर, कालविज्ञान, समय-ज्ञान, नियम बाँधना, शास्त्र, प्रस्ताव, आगम, नियम, सर्वसूक्ष्मकाल, रिवाज, सामायिक, संयमविशेष, सुन्दर परिणाम, मत, परिणमन, दर्शन, पदार्थ आदि।

प्रस्तुत सूत्र में "समय" शब्द सिद्धान्त, आगम, आचार, शास्त्र, मत, दर्शन तथा नियम आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[1]

निर्युक्तिकार ने "समय" शब्द के 12 निक्षेप प्रस्तुत किये हैं - 1. नाम समय, 2. स्थापना समय 3. द्रव्य समय 4. काल समय 5. क्षेत्र समय 6. कुतीर्थ समय 7. संगार (संकेत) समय 8. कुल समय (कुलाचार) 9. गण समय (संघाचार) 10. संकर समय (सम्मिलित एकमत) 11. गण्डी समय (विभिन्न सम्प्रदायों की प्रथा) 12 भाव समय (विभिन्न अनुकूल-प्रतिकूल समय)।[2]

चूर्णिकार[3] तथा वृत्तिकार ने इनकी व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है -

1. **नाम समय** - किसी का नाम 'समय' हो।

2. **स्थापना समय** - किसी वस्तु में 'समय' की आरोपणा करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. **द्रव्य समय** - सचित्त या अचित्त द्रव्य का स्वभाव-गुणधर्म। जैसे- जीव द्रव्य का उपयोग, धर्मास्तिकाय का गति स्वभाव। अथवा - जिस द्रव्य का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के माध्यम से जो स्वभाव अभिव्यक्त होता है, वह 'द्रव्य-समय' कहलाता है। जैसे- (क) वर्ण से भ्रमर काला है, हल्दी पीली है, चन्द्र श्वेत है। (ख) गन्ध से- चन्दन सुगन्धयुक्त है, लहसुन दुर्गन्धयुक्त है। (ग) रस से- नीम तिक्त है, गुड मीठा है, नींबू खट्टा है। (घ) स्पर्श से- पाषाण कर्कश है, भारी है, पक्षी की पाँख हल्की है, बर्फ ठण्डा और आग गरम है। अथवा- जिस द्रव्य का जो उपयोग-काल है वह भी 'द्रव्य समय' कहलाता है। जैसे- दूध के उष्ण-अनुष्ण के आधार पर उसका उपयोग करना। वर्षा ऋतु में लवण, शरद ऋतु में जल, हेमन्त में गाय का दूध, शिशिर में आँवले का रस, वसन्त में घृत, ग्रीष्म में गुड- ये सारे अमृत-तुल्य होते है।[4]

4. **क्षेत्र समय** -

(क) आकाश का स्वभाव।

(ख) ग्राम, नगर आदि का स्वभाव।

(ग) देवकुरू आदि क्षेत्रों का स्वभाव-प्रभाव, जैसे- वहाँ के सभी प्राणी सुन्दर, सदा सुखी और वैर रहित होते है।

अथवा- क्षेत्र आदि को संवारने का समय।

अथवा- ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक्लोक का स्वभाव।

5. **काल समय** - काल में होने वाला स्वभाव। जैसे- सुषमा आदि काल में द्रव्यों का होने वाला स्वभाव।

6. **कुतीर्थ समय** - अन्य तीर्थिकों की धार्मिक मान्यता। जैसे- कुछ दार्शनिक हिंसा में, तो कुछ स्नान, उपवास, वनवास में ही धर्म मानते है।

7. **संगार समय** - संकेत का समय। जैसे- पूर्वकृत संकेतानुसार सिद्धार्थ नामक सारथि ने बलदेव को सम्बोधित किया था।

8. **कुल समय** - कुल का धर्म- आचार-व्यवहार। जैसे- शक जातिवालों के लिये पितृशुद्धि, आभीरकों के लिए मन्थनी शुद्धि।

9. **गण समय** - गण की आचार व्यवस्था।

10. **संकर समय** - भिन्न-भिन्न जातिवालों का समागम और उनकी एकवाक्यता।

11. **गण्डी समय** - उपासनापद्धति। जैसे- भिक्षु को प्रात: पेज्जागंडी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्याह्न में भावण गण्डी, अपराह्न में धर्मकथा तथा सन्ध्या में समिति का आचरण करना।[5]

वृत्तिकार ने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की प्रथा को गंडी समय माना है। जैसे- शाक्यभिक्षु भोजन के समय गंडी का ताडन करते है।[6]

12. **भाव समय** - यह अध्ययन जो क्षयोपशम भाव का उद्‌बोधक है।

निर्युक्ति के अनुसार इन निक्षेपों में से मात्र भाव समय ही प्रस्तुत अध्ययन में उपादेय है, अन्य सभी मात्र ज्ञेय है।

प्रस्तुत अध्ययन 4 उद्देशकों में विभक्त है, जिसमें 88 गाथाएँ निबद्ध है। इन समस्त गाथाओं में स्वपर मत, स्वपर दर्शन, स्वपर सिद्धान्त तथा स्वपर आचार का विस्तृत प्ररुपण किया गया है।

प्रथम उद्देशक में 27 गाथाएँ है। प्रारम्भ की 6 गाथाओं में बन्ध तथा मोक्ष का स्वरूप समझाते हुये श्रमण भगवान महावीर ने बन्धन से मुक्त होने का उपाय भी बताया है। कर्म बन्धन के मुख्य हेतु है - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग अथवा परिग्रह और आरम्भ आदि। मध्य की गाथा चतुष्क में सचित्त तथा अचित्त दोनों ही प्रकार के परिग्रह से मुक्त होने का सन्देश दिया गया है। परिग्रह से ममत्त्व तथा आसक्ति बढ़ती है। इसी आसक्ति के वशीभूत हुआ जीवात्मा प्राणियों का वध करता है तथा शत्रुता का सर्जन कर दुख पाता हुआ अनंत संसार बढ़ाता है। जो बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों परिग्रह से मुक्त होता है, वह जीव समस्त कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

छठी गाथा में "एए गंथे विउक्कम्म" पद द्वारा परसमय का निरूपण किया गया है। जो श्रमण (शाक्यभिक्षु) तथा माहण (लोकायतिक) मिथ्या अभिनिवेश या आग्रहपूर्वक अपने सिद्धान्तों से चिपके हुए हैं, वे स्वच्छन्द होकर कामभोगों का सेवन करते हुये मिथ्यात्व, अविरति आदि हेतुओं के द्वारा सदैव कर्म बंधन करते है।

7 से 27 तक की 20 गाथाओं में विभिन्न वादों के वर्णन के साथ प्रथम उद्देशक समाप्त हो जाता है।

द्वितीय उद्देशक में 30 गाथाएँ है, जिसमें भी कुछ वादों का वर्णन तथा परवादी मत का निरसन पाया जाता है।

तृतीय उद्देशक का प्रारम्भ श्रमण की आहार विधि से होता है कि साधु कैसा आहार ग्रहण करें, जिससे उसके आचार में निर्मलता तथा पवित्रता सदैव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्धमान रहे। इसके पश्चात् विभिन्न कृतवादों का तथा स्वमत प्रशंसकों का वर्णन करते हुये शास्त्रकार ने इन्हें प्रावादुकों के रूप में उल्लिखित किया है।

चतुर्थ उद्देशक में परवादियों की असंयमी गृहस्थों के आचार के साथ समानता बताते हुये अन्त में अविरतिरूप कर्मबन्धन से बचने के लिये अहिंसा, समता आदि स्वसमय (सिद्धान्त) का प्रतिपादन किया गया है।[7]

इस अध्ययन में वर्णित विभिन्न वाद संक्षेप में इस प्रकार है -

1. पंचमहाभूतवाद - इस वाद के अनुसार पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा आकाश इन पाँचों के संयोग से जीवात्मा की उत्पत्ति तथा इन पाँचों के विनाश से जीव का विनाश हो जाता है।

2. एकात्मवाद - के अनुसार जैसे एक ही पृथ्वीपिण्ड नानारूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा नानारूपों में दिखायी देता है, परन्तु वह आत्मा एक ही है।

3. तज्जीव-तच्छरीरवाद - वही जीव है और वही शरीर है अर्थात् शरीर ही जीव है। इससे भिन्न किसी आत्मतत्त्व का अस्तित्व नहीं है।

4. अकारकवाद - के अनुसार आत्मा कर्मों का अकर्त्ता होने पर भी भोक्ता है। इस मत में आत्मा न स्वयं किसी क्रिया को स्वतन्त्र करता है, न करवाता है। इस प्रकार वह अकारक है।

5. आत्मषष्ठवाद - इस जगत में अचेतन पंचमहाभूत तथा सचेतन छठा आत्मा है। इस मत में लोक तथा आत्मा को शाश्वत तथा नित्य माना गया है। तथा पूर्वोक्त पदार्थ सहेतुक और अहेतुक दोनों प्रकार से कभी विनष्ट नहीं होते। तथा असत् की कभी उत्पत्ति नहीं व सत् का कभी विनाश भी नहीं होता।

6. क्षणिकवाद - यह मत दो रूपों में प्रतिपादित है। प्रथम प्रकार के मतवादी क्षणमात्र स्थिर रहने वाले रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार तथा विज्ञान रूप 5 स्कन्ध मानते है। इनसे भिन्न-अभिन्न, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष व ज्ञानादि के आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं मानते है। जबकि द्वितीय मतवादियों के अनुसार पृथ्वी, अप्, तेज तथा वायु ये चारों धातु जगत का धारण पोषण करते है। ये जब एकाकार होकर भूतसंज्ञक रूप स्कन्ध बन जाते है, तब इनकी जीव संज्ञा होती है।

अन्तिम गाथाओं में सांख्यादि मत की निस्सारता बताते हुये शास्त्रकार कहते है पंचभूतात्मवादी से लेकर चातुर्धातुवादी पर्यन्त सभी दर्शन अपने मत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से बद्ध होकर दु:खों से मुक्ति का आश्वासन देते है। परन्तु जो स्वयं हिंसा, झूठ, चोरी तथा प्रपंच में रचे-पचे है, वे दूसरों की मुक्ति कैसे दिला सकते है?

7. नियतिवाद - द्वितीय उद्देशक का प्रारम्भ नियतिवाद से ही होता है। इस वाद के अनुसार नियति ही समस्त जागतिक पदार्थों का कारण है।

8. अज्ञानवाद - यहाँ दो प्रकार के अज्ञानवादियों का निरूपण है। एक तो वे है, जो थोड़ा-सा ज्ञान पाकर गर्वोन्मत बन जाते है कि वे ही सर्वज्ञ है जबकि उनका ज्ञान मात्र पल्लवग्राही होता है। दूसरे वे है, जो अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानते है, क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान न होने पर वाद-विवाद, संघर्ष, कलह आदि प्रपंच से मुक्त रहने पर मन कषायी नहीं बनेगा।

9. कर्मोपचय निषेधवाद - इन एकान्त क्रियावादियों के अनुसार कोई भी क्रिया, भले ही उसमें हिंसादि हो परन्तु यदि वह चित्तशुद्धि पूर्वक सम्पादित होती है, तो कर्मबंध नहीं होता। इस प्रकार की कर्म चिन्ता से दूर रहने वालों को एकान्त क्रियावादी कहा गया है, जो बौद्धों का मत है।

10. जगत्कर्तृत्ववाद - इसकी चर्चा तृतीय उद्देशक में की गयी है। जगत् की रचना के विषय में अज्ञानवादियों के प्रमुख 7 मतों का निरूपण है, जिनके अनुसार जगत् देव, ब्रह्मा, ईश्वर, प्रकृति, स्वयंभू, यमराज द्वारा कृत है या अण्डे से उत्पन्न हुआ है।

11. अवतारवाद - धर्म का ह्रास तथा अधर्म का अभ्युत्थान होने पर मुक्त-शुद्ध आत्मा का क्रीड़ा तथा प्रदोष के कारण पुन: संसार में अवतरित होना। यहाँ आत्मा धर्मशासन की पुन: प्रतिष्ठा करने के लिये रजोगुण युक्त होकर अवतार लेता है।

स्व-स्व प्रवाद प्रशंसा एवं सिद्धि का दावा

शास्त्रकार ने इन पृथक्-पृथक् मतवादियों को प्रावादुक कहा है, जो मात्र अपने ही मत की प्रशंसा करते हुये निरोगता तथा सिद्धि देने का दावा करते है। इनका मत कार्य-कारण विहीन तथा युक्ति रहित होने पर भी ये इसे श्रेष्ठ बताकर जगत् को भ्रमित करते है।

परमत निरसन

पूर्वोक्त विभिन्न वादों, एकान्त दर्शनों तथा दृष्टियों को सत्य मानते हुए सुखशीलता में आसक्त होकर अपने-2 दर्शन को ही श्रेष्ठ तथा अपना शरण (रक्षक)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानने वाले की भर्त्सना करते हुये शास्त्रकार कहते है कि जिस प्रकार जन्माध व्यक्ति नाना छिद्रों वाली नौका में सवार होकर पार होना चाहते हुये भी पार न होकर बीच में ही डूब जाता है, उसी प्रकार ये मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी श्रमण संसार सागर पार करना चाहते हुये भी मिथ्याभिनिवेश से बार-बार संसार में परिभ्रमण करते रहते है।

आधाकर्मदोष

तृतीय उद्देशक के प्रारम्भ में मुनि की आहारचर्या का भी वर्णन किया गया है। आहार शुद्धि पर जोर देते हुए शास्त्रकार कहते है कि अगर साधु के आहार में एक भी कण आधाकर्मी आहार का मिल जाये तो वह आहार दूषित, मिश्रित तथा अपवित्र कहा जायेगा। यदि आहार दूषित होगा तो विचार, संस्कार तथा अन्त:करण के दूषित होने की प्रबल सम्भावना रहेगी। यदि आधाकर्म दोष से दूषित आहार साधु ग्रहण करेगा तो वह गाढ़ कर्म-बन्धन के फलस्वरूप नरक, तिर्यंच आदि दुर्गतियों में दु:ख को भोगेगा। उसकी दुर्दशा उस वैशालिक मत्स्य जैसी होगी, जो बाढ़ के जल के प्रभाव से सूखे तथा गीले स्थान पर पहुँचकर मांसार्थी डंक (चील) तथा कंक (गिद्ध) आदि से सताया जाता है।

मुनिधर्मोपदेश

यहाँ शास्त्रकार ने मुनियों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि अन्यतीर्थी साधु काम-क्रोधादि तथा आरम्भ-परिग्रह आदि से पराजित होने के कारण शरण योग्य नहीं है, क्योंकि पूर्व संयोग (गृहस्थ के बन्धु-बाँधव) से मुक्त होने पर भी वे अन्य परिग्रह आदि से आसक्त है। विद्वान मुनि उनके मतवादों को जानकर उनमें आसक्त न बने। इन परिग्रही तथा महारम्भीयों को छोड़कर मोक्षार्थी मुनि अपरिग्रही तथा अनारम्भी निर्ग्रन्थ भिक्षु की शरण में जाये तथा आहार संबंधी गवेषणा, ग्रहणैषणा तथा ग्रासैषणा अनासक्त, गृद्धिरहित होकर तथा मानापमान के भाव से मुक्त होकर करे।

लोकवादी मान्यता तथा उसका खण्डन

लोकवादियों की मान्यता है कि लोक अनन्त, नित्य, अविनाशी तथा शाश्वत है। त्रस सदैव त्रस के रूप में तथा स्थावर सदैव स्थावर के रूप में ही उत्पन्न होता है। पुरुष मृत्यु पश्चात् पुरुष तथा स्त्री मृत्यु पश्चात् स्त्री ही रहती है। इसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्डन शास्त्रकार ने किया है कि यदि लोक कूटस्थ नित्य है, तो जड़-चेतन में जो प्रतिक्षण परिवर्तन नजर आता है, वह प्रत्यक्ष विरूद्ध है। इस जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो सदैव एक ही रूप में विद्यमान रहे। प्रत्येक वस्तु का पर्याय रूप से सदैव उत्पाद तथा व्यय होता रहता है।

दूसरी मान्यता भी अयुक्त है। यदि जो जैसा है, वह उसी रूप में उत्पन्न हो तो इस जगत में अव्यवस्थाएँ तथा कुकर्म फैल जायेंगे। दान-दया-जप-तप-यम-नियम आदि अनुष्ठानों का कोई अर्थ ही न होगा।

अहिंसाधर्म निरूपण

लोकवाद की मान्यता से भ्रमित श्रमण अहिंसा से विरत न हो जाये एतदर्थ यहाँ अहिंसा धर्म का निरूपण किया गया है कि -

इस दृश्यमान त्रस-स्थावर जीव रूप जगत की मन-वचन-काय रूप प्रवृत्तियाँ तथा बाल्य-यौवन-वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ स्थूल है तथा समस्त जीव विपर्यय (पर्याय) को प्राप्त होते है। सभी जीवों को दु:ख अकान्त (अप्रिय) है, अत: किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिये।

चारित्र शुद्धि के लिये उपदेश

प्रथम अध्ययन का उपसंहार करते हुये मुनि को चारित्र शुद्धि का उपदेश दिया गया है। अहिंसा विषयक गाथाओं को छोड़कर सम्पूर्ण अध्ययन में ज्ञान तथा दर्शन की विशुद्धि का प्ररूपण है। इसमें चारित्र शुद्धि का उपदेश है, जो मुनि के लिये अनिवार्य है। क्योंकि ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र इस रत्नत्रयी का सम्मिलित परिणाम ही मोक्ष है। मुनि की चारित्र शुद्धि के लिये इस गाथात्रयी में दश विवेकसूत्रों का प्रतिपादन किया गया है, जो इस प्रकार है -

1. साधु दशविध समाचारी में स्थित रहें ।
2. आहार में गृद्ध न बने।
3. ज्ञान-दर्शन- चारित्र की सम्यक् आराधना करे।
4. चलने-फिरने-सोने, गमनागमन, शयनासन आदि के सम्बन्ध में सदैव उपयोग रखे।
5. इर्या समिति, आदाननिक्षेपण समिति तथा एषणा समिति, इन तीनों स्थानों में सतत सचेत रहें ।
6. क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारों कषायों का परित्याग करें ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. सदा पांच समितियों से युक्त होकर रहें ।
8. पंचमहाव्रत रुप पांच संवर से संवृत्त रहें ।
9. गृहपाशबद्ध गृहस्थों में आसक्त न हो ।
10. मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त संयम में उद्यम करें ।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *(क) पाइअसद्दमहण्णवो पृ. - 866*
   (ख) शब्दरत्नमहोदधि - पृ. - 2009
   (ग) अभिधान राजेन्द्रकोष - भाग-7, पृ. 417
   (घ) जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष - भाग-4, पृ. 328
2. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 29*
3. *(अ) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 19-20*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 10-11
4. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 19*
5. *वही*
6. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र-11*
7. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 30-32*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र-11-12

2. वैतालीय अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के (प्र. श्रु.) द्वितीय अध्ययन का नाम 'वैतालीय' या 'वैतालिक' है।

निर्युक्तिकार के अनुसार इसका निरूक्तगत नाम 'वैदारिक' तथा छन्दगत नाम 'वैतालीय' है। प्रस्तुत अध्ययन वैतालीय छन्द में रचित होने के कारण इसका नाम वैतालीय है। कर्मों के विदारण का निरूपण होने से इसका दूसरा नाम वैदारिक है।[1] 'वि' उपसर्गपूर्वक 'दृ'-विदारणे' धातु से क्रियावाचक विदारण (नष्ट) करने के अर्थ में विदार शब्द बनता है। 'विदारक' यह क्रियापदवाचक नाम है। क्रियापद के सर्वत्र तीन घटक होते है- कर्त्ता, करण तथा कर्म। इसके आधार पर विदार के तीन घटक बनते है -[2]

1. विदारक - काष्ठ विदारण करने वाला।
2. विदारण - काष्ठ विदारण का साधन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. विदारणीय - विदारण करने योग्य काष्ठ।

निर्युक्तिकार के अनुसार इन तीनों के नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव ये चार-चार निक्षेप है। नाम-स्थापना सुगम है।

द्रव्य विदारक वह है, जो काष्ठ आदि का विदारण करता है।

भाव विदारक वह है, जो जीव ज्ञानावरणीयादि अष्ट कर्मों का विदारण करता है।

द्रव्य विदारण है - परशु आदि साधन।

भाव विदारण दर्शन, ज्ञान, तप तथा संयम है, क्योंकि इनमें ही कर्म विदारण का सामर्थ्य है।

द्रव्य विदारणीय काष्ठ आदि है।

भाव विदारणीय आठ प्रकार के कर्म है।

चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने भी इस अध्ययन का अर्थ वैतालीय तथा वैदारिक के रूप में किया है। विदार का अर्थ है 'विनाश'। यहाँ राग-द्वेष रूप संस्कारों का विनाश विवक्षित है। जिस अध्ययन में राग-द्वेष के विदार का वर्णन हो, उसका नाम भी वैदारिक है। कर्म विदारण के आधार पर इसको वैदारिक मानना केवल काल्पनिक प्रतीत होता है, क्योंकि अन्य अध्ययन भी कर्मविदारण में निमित्तभूत बनते है। इस दृष्टि से इसका 'वैतालीय' नाम छन्द रचना की अपेक्षा से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

इस अध्ययन की पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए निर्युक्तिकार तथा वृत्तिकार कहते है-[3]

'जब भगवान् ऋषभ अष्टापद पर्वत पर अवस्थित थे, तब भरत चक्रीश्वर द्वारा उपहत अट्ठानवे पुत्र ऋषभ के पास आकर बोले - 'भन्ते ! भरत हमें आज्ञा मानने के लिये बाध्य कर रहा है। परन्तु हमारा स्वाभिमान उसकी अधीनता स्वीकारने की आज्ञा नहीं देता। आप हमारा मार्गदर्शन करें।' भगवान ने अंगारदाहक के दृष्टान्त के द्वारा उन्हें समझाया कि भोगेच्छा कभी शान्त नहीं होती। अग्नि में घृत डालने की भाँति और अधिक ही बढ़ती है। तथा इस अर्थ के प्रतिपादक प्रस्तुत अध्ययन को सुनाया। विषयों के कटुविपाक तथा नि:सारता को सुनकर उन्मत्त हाथी के कर्ण की भाँति चपल आयु तथा पर्वतीय नदी के वेग की तरह यौवन को अस्थिर जानकर, भगवद् आज्ञा ही श्रेयस्करी है, ऐसी अवधारणा कर वे सभी पुत्र भगवान् के पास प्रव्रजित हो गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत अध्ययन में तीन उद्देशक तथा 76 श्लोक है - प्रथम उद्देशक में 22, दूसरे में 32 तथा तीसरे में 22 श्लोक है।

निर्युक्तिकार के अनुसार इन तीन उद्देशकों का प्रतिपाद्य (अर्थाधिकार) इस प्रकार है-[4]

प्रथम उद्देशक - हित-अहित, हेयोपादेय का बोध तथा अनित्यता की अनुभूति का प्रतिपादन।

द्वितीय उद्देशक - अहंकार वर्जन के उपायों का निर्देश तथा इन्द्रिय-विषयों की अनित्यता का प्रतिपादन।

तृतीय उद्देशक - अज्ञान द्वारा उपचित कर्मों के नाश के उपायों का प्रतिपादन, आरम्भ तथा पापासक्त प्राणियों की मनोदशा का वर्णन तथा यतिजनों के लिए सदा सुख-प्रमाद के वर्जन का प्रतिपादन।

भरत के द्वारा पीड़ित अपने सांसारिक पुत्रों को भगवान् ऋषभ ने जो संबोध दिया, शास्त्रकार उसे प्रथम गाथा से ही प्रस्तुत करते है -संबुज्झह ! किं न बुज्झह।' अर्थात् हे भव्य ! तुम संबोधि को प्राप्त करो। तुम बोध को क्यों नहीं प्राप्त करते हो ? यहाँ बोध का तात्पर्य सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रयी से है। क्योंकि यही उत्तम बोध और उत्कृष्ट धर्म है। आर्य देश, कर्मभूमि, उत्तम कुल, स्वस्थ शरीर, तेजस्वी इन्द्रियाँ, प्रखर बुद्धि सब कुछ मिलने के बाद भी 'संबोहि खलु पेच्चहा' अर्थात् बोधि प्राप्त होना दुर्लभ है। इस जीवन का क्षय (मरण) भी निश्चित है। जो व्यक्ति माता-पिता आदि के मोह में अन्ध बनता है, वह अपना जीवन हार जाता है और परलोक में भी उसे संबोधि प्राप्त नहीं होती।

संबोधि के दो रूप है, एक द्रव्य संबोधि और दूसरी भाव संबोधि। द्रव्य निद्रा से जागना द्रव्य संबोधि है, परन्तु भाव निद्रा अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शून्यता या प्रमाद से जागना भाव संबोधि है। जो साधक भाव संबोधि को प्राप्त होता है, वही संसार की अनित्यता का दर्शन कर पाता है।

सूत्रकार यहाँ एक सुन्दर उपमा द्वारा जीवन की क्षणभगुंरता का प्रतिपादन करते है कि जिस प्रकार बंध से छुटा हुआ तालफल जमीन पर गिर जाता है, उसी प्रकार कामभोगों में आसक्त देव, असुर, गन्धर्व तथा राजा, सेठ, साहूकार आदि मनुष्य एवं समस्त तिर्यंच भी आयुष्य रूपी डोर के टूटने पर न चाहते हुये भी दु:खी मन से मरण को प्राप्त हो जाते है, अत: साधक प्रत्येक कदम पर जागृत रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी क्रम में कर्म विपाक की भी व्याख्या की गयी है। जो श्रमण बहुश्रुत (शास्त्रों में पारंगत) होने पर भी यदि प्रच्छन्न मायाचार में रत है और मात्र मोक्ष का भाषण करता है, वह धर्म क्रियाओं से युक्त होने पर भी दाम्भिक है, जो कर्ममुक्त होने के बदले और अधिक घोर कर्म बन्धन करता है तथा कर्मों से पीड़ित होता है। साधक ऐसे अन्यतीर्थिक मायाचारियों का आश्रय लेकर लोक-परलोक को नहीं जान सकता, क्योंकि जो व्यक्ति माया, कपट, दम्भ तथा कषायों से युक्त है, वह निर्वस्त्र, निष्किञ्चन, पंचाग्नि-तप से कृश शरीर वाला, दीर्घ तपस्वी होने पर भी अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है। अत: साधक नि:शल्य बनकर समस्त अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों और परीषहों का जेता बने।

इस उद्देशक का उपसंहार करते हुये जो उपदेश दिया गया है, वह साधुत्व में पूर्ण दृढ़ तथा अचल रहने के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। माता, पिता, पुत्र, स्त्री आदि पारिवारिकजनों के दीन, करूणवचन तथा कामभोगों का प्रलोभन उसे विचलित कर सकता है। परंतु साधु स्वजनों की प्रार्थना सुनकर डिगे नहीं। मारपीट आदि से भयाक्रान्त न बने। बल्कि प्रत्येक स्थिति में वह अपने आचार-विचार में परम पराक्रम दिखायें। इस प्रकार का वीर साधक ही कर्मों का विदारण कर मोक्षरूपी महापथ को प्राप्त करता है।

द्वितीय उद्देशक के प्रारम्भ में मद त्याग का उपदेश है। जो अष्टविध मद से मुक्त है, वही सच्चा साधक है। जिस प्रकार तक्षक (सर्प) केंचुली का त्याग करता है, उसी प्रकार साधक श्रमण गोत्र, कुल आदि का त्याग करे। इस दृष्टान्त के द्वारा जो उपदेश दिया गया है, वही साधु जीवन का लक्ष्य एवं सार है। गृहस्थ जीवन के ऐश्वर्य, राजसुख, कुल, जाति आदि का परित्याग कर देने पर भी साधु उच्च कुलवान, जातिवान, शक्तिमान्, रूपवान होने के सूक्ष्म अभिमान से मुक्त नहीं हो पाता। इस अभिमान के वशीभूत हुआ वह अन्यों की निन्दा भी कर डालता है।

प्रारम्भिक गाथात्रयी में यही उपदेश संकलित है कि साधु मदान्ध होकर अश्रेयस्कारिणी निन्दा (इक्षिणी) न करे। तृतीय गाथा में एक बात विशिष्ट है कि गृहस्थ में रहे प्रभुता के भावों को ऋजुता तथा लघुता में कैसे परिणत करे। जैसे किसी के घर में दास का जीवन व्यतीत करने वाला संयोग से पूर्व में दीक्षित हो जाये तथा उसी घर का नायक (मुखिया) पश्चात् संयमी बने तो वह नायक अपने उच्चकुल तथा जाति का मद न करते हुये विनयपूर्वक, बिना लज्जा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूतपूर्व दास रहे वर्तमान मुनि को वन्दना करे तथा वह मुनि भी अपने उस अतीत के नायक की वन्दना स्वीकार करने में लज्जा या हीनता का भाव न रखे। क्योंकि यहाँ न कोई दास है, न कोई स्वामी है, न कोई उच्च है, न कोई नीच है। जो मुनिपद में स्थित है, वे सभी मद त्यागी है, समता के आराधक है तथा अपने से संयम पर्याय में लघु मुनि द्वारा पूजनीय है। इसलिये साधु मदत्यागी बन उत्कर्ष या अपकर्ष दोनों ही स्थितियों से उपरत रहता हुआ अपने आचार-विचार में सदैव जागृत रहे।

मद त्याग के पश्चात् मुनि समत्व में स्थित कैसे रहे, इसका भी यहाँ रोचक वर्णन किया गया है। साधु जब तक मद-मान से मुक्त न होगा, तब तक साधुत्व या समता को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि ये दोनों ही एक-दूसरे के विरोधी तथ्य है। मद का अभाव ही समता का सद्भाव है। और समता ही साधु का स्वभाव है। स्वभाव में स्थित श्रमण सदैव 'समियाधम्ममुदाहरे' (गाथा-6) अपनी इन्द्रियों तथा कषायों पर विजय प्राप्त करता हुआ समता धर्म का ही उपदेश देता है। इस प्रकार शास्त्रकार यहाँ क्रमशः जो मुनिचर्या को प्रस्तुत कर रहे है, वह एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक भी है, क्योंकि इसकी क्रमबद्धता में व्यक्ति के मानसिक भावों का आकलन है। जो मदत्यागी होता है, वही समता का आराधक होता है और जो समभावों का साधक होता है, वही अहिंसा, अपरिग्रह आदि गुणों का धारक होता है।

इस उद्देशक में परिग्रह त्याग की प्रेरणा भी इतनी ही हृदयस्पर्शी है। धर्म का पारगामी मुनि बाह्य तथा आभ्यन्तर एवं सजीव तथा निर्जीव दोनों प्रकार के परिग्रह का त्यागी होता है। वह अतिपरिचय रूप परिगोप से पूर्णतः असंस्पृष्ट रहता है क्योंकि यह परिगोप (कीचड़) 'सुहु में सल्ले दुरुद्धरे' अर्थात् इतना सूक्ष्म तथा दुरुद्धर शल्य है, जिसमें धँस या फँस जाने पर पार पाना बहुत मुश्किल है। अतः साधु अतिपरिचय रूप कीचड़ में न फँसकर एकाकी, निर्बंध और निराबाध होकर विचरण करे। जहाँ भी सूर्यास्त हो, अक्षोभ तथा उपसर्गों से अभय होकर शून्य गृहों में निवास करे। यहाँ एकल बिहारी मुनि की चर्या का अत्यन्त कठोर वर्णन किया गया है।

तृतीय उद्देशक संयम की महिमा से मण्डित है। जिस भिक्षु ने अज्ञान अवस्था में कर्मों का बंध किया है, वह संयम के द्वारा क्षीण करके परम पद मोक्ष को प्राप्त होता है तथा जो साधक काम व कामिनी की अभिलाषा से मुक्त है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वही वास्तविक अर्थ में संयमी है। जिस प्रकार वणिकों, व्यापारियों द्वारा सुदूर प्रदेशों से लाई अनमोल वस्तुओं को राजा-महाराजा ग्रहण करते है, ठीक उसी प्रकार ये श्रमण भी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रात्रिभोजनसहित पंच महाव्रतों को स्वीकार करते है।

'जे विण्णवणाहिऽझोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया' जो साधक प्रार्थना (विज्ञापना) करने वाली कामिनियों के संसर्ग से मुक्त है, वे साधक संसार में होते हुये भी मुक्त ही जानना चाहिये। इस पंक्ति से यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि काम में आसक्त जीवात्मा संसार ही नहीं बढ़ाता अपितु आत्मा को नरकादि गतियों के भयंकर दु:ख स्वरूप महासागर में धकेल देता है। काम विजेता श्रमण सदैव अपनी उर्ध्वदृष्टि से आत्मा को उर्ध्वदिशा की ओर ले जाता है।

इस उद्देशक में सम्यक्दर्शन के साधक बाधक प्रमाणों की विवेचना भी की गयी है। असर्वज्ञदर्शी सर्वज्ञ पुरुष के कथन में दृढ़ श्रद्धान करता हुआ 'आयतुलं पाणेहि संजए' समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य मानता है। जैन दर्शन का यह सूत्र वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान में जो अशान्ति, क्लेश, हिंसा का बोलबाला है, यदि व्यक्ति इस सूत्र से समस्त प्राणियों को देखे, तो न वह किसी को पीड़ा पहुँचा सकता है, न किसी के प्राणों का घात कर सकता है। आत्मतुला से संचालित जीवन से स्व-पर का भेदभाव, स्वजीवन मोह, स्वसुख में आसक्ति, परदु:ख तत्परता ये समस्त विषम भाव स्वत: तिरोहित हो जायेंगे। क्योंकि आत्मदृष्टा समस्त प्राणियों में अपनी ही आत्मा का दर्शन करेगा। ये भाव ज्यों-ज्यों दृढ़ तथा घनीभूत होते जायेंगे, त्यों-त्यों आत्मा स्वत: हिंसा, चोरी आदि दुर्गुणों से उपरत होता हुआ अपनी ही शरण में चला जायेगा। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव जहाँ धन, सम्पत्ति तथा स्वजनों को शरणभूत मानकर दु:ख पाता है, वही सम्यग्दृष्टि 'विदु मंता सरणं न मन्नती' उन सबको शरण योग्य नहीं मानता है, क्योंकि जो स्वयं चंचल, विनश्वर तथा क्षणभंगुर है, वह लक्ष्मी अथवा शरीर किसी के लिये त्राण रूप कैसे हो सकते है? स्वजन न तो आधि, व्याधि तथा उपाधि से मुक्त कर सकते है, न जन्म, जरा, मृत्यु के दु:ख से छुटकारा दिला सकते है। अत: इस संसार में कोई किसी का संरक्षक या त्राता नहीं है। एक मात्र वीतराग सर्वज्ञ कथित धर्म ही शरण रूप है।

प्रस्तुत उद्देशक के साथ अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार गम्भीर चेतावनी देते है कि यही अवसर है बोध-प्राप्ति का। आत्मदृष्टा मुनि एक पल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का भी प्रमाद न करते हुए इस जन्म में सायास संबोध को प्राप्त जाये क्योंकि अन्य गतियों में अतिसुख अथवा अतिदु:ख रूपी स्थितियाँ होने से बोधि प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। जो हाथ में आये अवसर को खो देता है, वह संसार रूपी महासागर में अनन्तकाल तक भटकता रहता है।

यह उपदेश भगवान ऋषभदेव ने अपने 98 पुत्रों को जागृत करने के लिये दिया था और यही उपदेश ज्ञातपुत्र महावीर ने भी दिया है। इस प्रकार के वचन सुधर्मगणधर अपने शिष्य जम्बु से कहते है।

इस प्रकार इस वैतालिय अध्ययन के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि इसमें मुख्य रूप से श्रमणधर्म को ही इंगित करते हुये उपदेश दिया गया है। भगवान द्वारा 98 पुत्रों को दिया गया संबोध समस्त प्राणियों की भाव निद्रा को तोड़ने में पूर्ण सक्षम है। इसमें निहित भाव शाश्वत है, जो सर्वकाल में सर्व तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित किये गये है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 38*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 53
2. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 36/37*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 53
3. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 39*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 54
4. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 40-41*

3. उपसर्ग परिज्ञा अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र (प्र. श्रु.) के तृतीय अध्ययन का नाम उपसर्ग परिज्ञा है। उपसर्ग का स्वरूप निर्युक्तिकार इस प्रकार बताते है -[1]

'आगंतुगो य पीलागरो य जो सो उवसग्गो।'

अर्थात् जो किसी देव, मनुष्य या तिर्यंच आदि अन्य पदार्थों द्वारा आता है और देह अथवा संयम को पीड़ित करता है, वह उपसर्ग है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि साधक के साधना काल में मनुष्य, देव या तिर्यंचकृत विघ्नों, कष्टों तथा बाधाओं को उपसर्ग कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिज्ञा अर्थात् इसका यथातथ्य ज्ञान। साधक ज्ञ परिज्ञा द्वारा सम्यक्तया जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा उनका धीरज तथा समतापूर्वक प्रतिकार करे।

निर्युक्तिकार[2] ने उपसर्ग शब्द के 6 निक्षेप किये है - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव।

1. **नाम उपसर्ग** - किसी का गुणशून्य उपसर्ग नाम रखना नाम उपसर्ग है।

2. **स्थापना उपसर्ग** - उपसर्ग सहन करने वाले की या सहन करते समय की अवस्था का चित्रण करना या कोई प्रतीक रखना स्थापना उपसर्ग है।

3. **द्रव्य उपसर्ग** - उपसर्ग कर्ता द्रव्य उपसर्ग है। यह दो प्रकार का है-

चेतनद्रव्यकृत - अचेतनद्रव्यकृत। मनुष्य, देव या तिर्यंच आदि सचेतन प्राणी शरीर के अंगों का घात करके जो पीड़ा देते है, वह चेतन-द्रव्यकृत उपसर्ग है। लकड़ी आदि अचित्त द्रव्यों द्वारा किया गया घात अचेतन-द्रव्यकृत उपसर्ग है।

4. **क्षेत्र उपसर्ग** - जिस क्षेत्र में सामान्यत: अनेक भयस्थान होते है, (जैसे - क्रूर, हिंसक जीव, चोर आदि तथा लाढ आदि देश के क्षेत्र) वह क्षेत्रोपसर्ग है।

5. **काल उपसर्ग** - जिस काल में एकान्त दु:ख ही होता है, वह दु:षम आदि काल कालोपसर्ग है तथा जो शीत, ग्रीष्म आदि अपने-अपने काल में जो दु:ख उत्पन्न करते है, वह भी कालोपसर्ग है।

6. **भाव उपसर्ग** - ज्ञानावरणीयादि कर्मों का उदय भाव उपसर्ग है। यह उपसर्ग औधिक तथा औपक्रमिक भेद से दो प्रकार का है। अशुभ कर्म प्रकृति से उत्पन्न भावोपसर्ग औधिक भाव उपसर्ग है तथा दण्ड, चाबुक आदि शस्त्र द्वारा अशातावेदनीय का उदय होना औपक्रमिक भाव उपसर्ग है।

औपक्रमिक शब्द 'उपक्रम' से ही निर्मित है, जिसका अर्थ है - जो कर्म उदय प्राप्त नहीं है, उनका उदय होना। अत: औपक्रमिक उपसर्ग का अर्थ है - जिस द्रव्य का उपयोग करने से अशातावेदनीयादि अशुभ कर्मों का उदय होता है, जिससे अल्प सत्ववान् साधक के संयम में विघात या विघ्न उत्पन्न होता है, उस द्रव्य से उत्पन्न बाधा को औपक्रमिक उपसर्ग कहते है।

इस अध्ययन में संयमविघातकारी औपक्रमिक उपसर्ग ही विवक्षित है। यह द्रव्य से चार प्रकार का है - देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत तथा आत्मसंवेदनकृत। इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद होने से कुल 16 प्रकार का है यथा -

1. **देवकृत उपसर्ग** - हास्य से, द्वेष से, परीक्षा या अन्य कारणों से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. **मनुष्यकृत उपसर्ग** - हास्य, द्वेष, परीक्षा या कुशील सेवन के निमित्त से।

3. **तिर्यंचकृत उपसर्ग** - भय, द्वेष, आहार तथा सन्तान आदि की रक्षा के निमित्त से।

4. **आत्मसंवेदनकृत उपसर्ग** - अंगों के परस्पर रगड़ने से, अँगुली आदि अवयवों के कट जाने अथवा सट जाने से, स्तम्भन अर्थात् रक्त संचार रूक जाने से, गिर जाने से अथवा वात, पित्त, कफ तथा इनके विकार समूह से उत्पन्न- ये चतुर्विध उपसर्ग भी आत्म संवेदनकृत उपसर्ग कहलाते है। देवकृत आदि चारों प्रकार के उपसर्ग अनुकूल तथा प्रतिकूल के भेद से आठ प्रकार के होते है।

प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक है। प्रथम उद्देशक की 17 गाथाओं में प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन है। द्वितीय उद्देशक में स्वजन, बंधु, बांधवकृत अनुकूल उपसर्गों का विवेचन है। तृतीय उद्देशक में अन्यतीर्थियों के तीक्ष्ण वचन से आत्मा में विषाद पैदा करने वाले उपसर्गों का निरूपण है। तथा चतुर्थ उद्देशक में हेतु सदृश प्रतीत होने वाले हेत्वाभासों में वस्तु स्वरूप को विपरीत रूप में ग्रहण करने से जिनका चित्त विभ्रान्त तथा मोहित हो गया है, ऐसे शीलस्खलित साधकों को स्वसिद्धान्त, युक्तिसंगत हेतुओं द्वारा यथार्थ स्वरूप का बोध देकर इन उपसर्गों में स्थितप्रज्ञ रहने का उपदेश है।[3]

प्रथम उद्देशक में समस्त प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि साधना के पथ पर गतिशील साधक किस प्रकार इन उपसर्गों का विजेता बने। शास्त्रकार प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में ही उदाहरण देते हुये यह समझाते है कि नवदीक्षित साधु किस प्रकार से इन उपसर्गों से हार जाता है।

'सूरं मन्नति अप्पाणं जाव लूहं न सेवई'

साधक अपने आपको तब तक ही शूरवीर मानता है, जब तक कि वह लूहं-(रूक्ष-संयम) निरतिचार संयमी जीवन का आचरण नहीं करता। यहाँ वृत्तिकार ने संयम को रूक्ष[4] कहा है, क्योंकि यह राग तथा द्वेष रूपी स्निग्धता से रहित है।

शास्त्रकार इस सटीक उदाहरण के द्वारा उन साधुओं की ओर संकेत कर रहे है, जो साधुत्व के आचार-विचार तथा कठोर उपसर्गों को सहने की बातें तो करते है, परन्तु समय आने पर स्वयं भी उन उपसर्गों के तीक्ष्ण प्रहारों से उसी प्रकार खदेड़ दिये जाते है, जिस प्रकार महारथी कृष्ण ने कायर शिशुपाल को खदेड़ा था। आगे की गाथाओं में क्रमशः उपसर्गों की भयानकता का मार्मिक वर्णन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायर तथा संयम में शिथिल, अल्पपराक्रमी साधक हेमन्त ऋतु की बर्फीली, कलेजे को चीरने वाली हवाओं से उसी प्रकार आहत हो जाता है, जैसे राज्यविहिन राजा। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु के प्रचण्ड ताप में विक्षिप्त तथा खिन्न मानस वाला होकर उसी प्रकार सन्ताप करता है, जैसे जलाशय के अत्यल्प जल में तड़फती मछलियाँ सन्ताप करती है। शीत तथा उष्ण परीषह से पराजित साधक यह सोचकर घोर मानसिक क्लेश पाता है कि घर-बार, सुख, भोग-उपभोग, स्त्री, स्वजन आदि सभी को छोड़कर मैं यहाँ असह्य दारूण कष्टों को भोग रहा हूँ।

इसी क्रम में याचना से उत्पन्न आक्रोश उपसर्ग का वर्णन है। साधु सदैव निरवद्य भिक्षाचर्या द्वारा अपना जीवन-यापन करता है। परन्तु अभिमानी, संयम में अन्यमनस्क साधु को प्रत्येक वस्तु की याचना दु:खदायी लगती है। साथ ही अज्ञानी लोग उन्हें भिक्षार्थ भ्रमण करते देखकर यह कहते है कि 'कम्मता दुब्भगा' 'बिचारे माँग-माँग कर पेट भरके अपने पूर्वकृत कर्मों का बोझ उतार रहे है', इस प्रकार के शब्द उसे कर्णशूल की तरह खटकते है तथा भयंकर आक्रोश भी उत्पन्न करते है। उस समय साधु की मानसिक स्थिति इतनी खिन्न और दयनीय होती है, जैसे - संग्राम स्थल में तलवारों के चलने या शस्त्राशस्त्रों के उछलने पर भगौड़े सैनिकों की होती है।

शास्त्रकार इन परीषहों और उपसर्गों की व्याख्या करते हुये यह बताते है कि पराक्रमी मुनि डँटकर धीरज तथा समतापूर्वक इन उपसर्गों का सामना करे। जो मुनि इन परीषहों से हार जाता है, वह अपना जीवन भी हार जाता है। अत: अज्ञानीजनों के वचन सुनकर मुनि हीन भावना से ग्रस्त न हो।

डाँस, मच्छर आदि तिर्यंचकृत तथा तृणस्पर्श का परीषह भी दुर्बल मनोवृत्ति वाले साधु को इतना विचलित कर देता है कि ' न में दिट्ठे परेलोए' वह परलोक की मान्यता से विमुख होकर सुकुमार तथा असंयमी जीवन में ही आनन्द और सुख ढूँढता है।

संयमी जीवन का सबसे दुष्कर परीषह है- केश लुंचन। इन्द्रियविषयों से पराजित मुनि केशलुंचन में कदाचित विजय प्राप्त कर ले, तब भी ब्रह्मचर्य पालन में असमर्थ मुनि अपने जीवन में उसी प्रकार क्लेश पाता है, जैसे जाल में फँसी मछलियाँ।

इस उद्देशक का उपसंहार करते हुये शास्त्रकार कहते है कि ये सारे परीषह 'कसिणाफासाफरूसादूरहियासया' कठोर एवं दु:सह है। इनसे विवश होकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वेच्छाचारी, पौरुषहीन, कायर साधक लाचार होकर घर की और वैसे ही पलायन कर जाते है, जैसे (संग्राम में) बाणों से बींधा हुआ हाथी पलायन कर जाता है परन्तु जो पराक्रमी, दृढ़ मनस्वी श्रमण होते है, वे किसी भी स्थिति से आहत न होते हुये सदैव निर्द्वन्द्व तथा निर्भय होकर विचरण करते है।

द्वितीय उद्देशक में अनुकूल उपसर्गों का वर्णन प्रतिपादित है। भगवान महावीर ने इसमें स्वजनों तथा बंधु-बांधवों के द्वारा करूण-विलाप तथा भोग-उपभोग का निमन्त्रण देकर अदूरदर्शी साधक को विचलित करने वाली विकट स्थितियों का वर्णन किया है।

'सुहुमा संगा भिक्खूणं जे दुरूत्तरा' प्रथम गाथा में अनुकूल उपसर्गों को दुस्तर बताया गया है, क्योंकि प्रतिकूल उपसर्गों में तो साधक समर्थ होकर समत्ववृत्ति तथा धैर्य धारण कर लेता है परन्तु अनुकूल उपसर्ग रूप सूक्ष्म तथा स्निग्ध बहाव में मन की धारा कब प्रवाहित होने लगती है, इसका ज्ञान ही नहीं रहता। बंधु-बांधव के मधुर तथा स्नेहिल संसर्ग उसके कोमल मानस को विचलित कर उसी प्रकार बांध लेते है, जैसे वन में उत्पन्न वृक्ष को लता वेष्टित कर लेती है। राजा, मंत्री आदि द्वारा विविध भोग्य पदार्थों का आकर्षण उसके मानस में लोभ पैदा करता है और मूढ साधक उस भँवरजाल में फँसकर उत्कृष्ट संयम पालन में अपने आपको असमर्थ मानता हुआ उसी प्रकार विषाद को प्राप्त होता है, जैसे ऊँची चढ़ाई में बूढ़े बैल।

शास्त्रकार ने दुर्बल तथा शिथिलाचारी साधक की मनोवृत्ति को सटीक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है। भोगों में उलझा, स्त्रियों में गृद्ध, संयम का बोझ उठाने में अक्षम वह साधु अंत में हारकर गृहवास की ओर प्रयाण कर जाता है।

तृतीय उद्देशक में 21 गाथाएँ है। इन गाथाओं में उन निर्बल, अल्प सत्ववाले साधकों की मानसिकता का वर्णन किया गया है, जो आत्मा में उठी भय, कुशंका आदि संवेदनाओं से परास्त हो जाते है। स्वयं के अस्वस्थ चिन्तन तथा विकृत मानसिकता से वे उसी प्रकार ध्वस्त हो जाते है, जैसे युद्ध के समय कायर पुरुष। प्रारम्भिक गाथाओं में भिक्षु की अस्थिर, संकल्प-विकल्पों से आक्रान्त मानसिकता का यथार्थ चित्रण है। जो भिक्षु इन संवेदनाओं पर विजय पा लेता है, वह उन वीर योद्धाओं की तरह पराक्रमवान् है, जो संग्राम समय में 'किं परं मरणं सिया' मृत्यु की चिन्ता नहीं करता।

इसी उद्देशक में परवादियों के आक्षेप रूप उपसर्गों का भी वर्णन है। वृत्तिकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा चूर्णिकार का तात्पर्य यहाँ आजीवक तथा दिगम्बर परम्परा के भिक्षुओं से है। वे इस प्रकार के आक्षेप करते है कि जो आपस में मूर्च्छित होकर गृहस्थों के समान आचरण करते है, रुग्ण को रागवश भोजन लाकर देते है, एक-दूसरे के वशवर्ती है, वे 'नट्ठ-सप्पह-सब्भावा' सत्पथ तथा सद्भाव रूप परमार्थ से भ्रष्ट है, जो संसार से पार नहीं हो सकते।

मोक्षविशारद साधु प्रत्याक्षेप द्वारा उन्ह तीर्थिकों से कहे कि व्रण को अधिक खुजलाना ठीक नहीं बल्कि दोषकारक ही है। वह बहुगुणप्रकल्प साधु उन्हें समझायें कि गृहस्थ के धातु के भाजन में भोजन करना, सचित्त हरित, शीत, जलादि तथा ओद्देशिक आदि दोषयुक्त आहार का सेवन, रोगी के लिये गृहस्थ से आहार मँगवाना आदि कार्यों द्वारा आप मात्र दोषों का ही सेवन करते है। प्रसन्नता पूर्वक ग्लान की सेवा करना ही सेवा धर्म है।

बावीस गाथाओं में ग्रथित चतुर्थ उद्देशक में अन्य तीर्थियों के हेत्वाभासों का वर्णन है, जिनसे साधक विमोहित तथा संयम भ्रष्ट हो जाता है। साधक के मन को विचलित तथा चित्त को विभ्रान्त करने वाले कुछ शिथिल साधकों के ऐसे कुतर्कों का वर्णन किया गया है, जो पूर्वकालिक महापुरुषों की दुहाई देकर अपने अनाचार को आचार में समाविष्ट करने का प्रयास करते है।

शास्त्रकार उन विचलित साधकों को समझाने के लिये वस्तु स्वरूप का यथातथ्य प्ररूपण करते है। प्रारम्भिक गाथाओं में कुछ ऋषियों के नामोल्लेख के साथ संयम भ्रष्ट करने वाले उपसर्गों का भी वर्णन है। जैसे कुछ अज्ञानी यह मानते है कि प्राचीन समय में कई महापुरुषों ने सचित्त जल पीते हुये भी मोक्ष प्राप्त किया है। नमिविदेही आहार का त्यागकर के, रामगुप्त आहार का उपभोग करके, बाहुक तथा तारागण सचित्त जल का उपभोग कर मोक्ष में गये है। आसिल-देविल, द्विपायन तथा पाराशर ऋषि ने सचित्त जल, बीज, हरी वनस्पति आदि का आहार करते हुये भी सिद्धि प्राप्त की है। ये सभी ऋषिपुरुष जैन दर्शन में भी मान्य है तथा इन सभी ने 'भोच्चा बीओदगं सिद्धा' अर्थात् शीतजल-फलादि वनस्पति का उपभोग करके भी सिद्धि प्राप्त की है।[5] इस प्रकार की मिथ्या तथा बुद्धि को भ्रमित करने वाली धारणाएँ शिथिल साधक के मन को भ्रष्ट तथा साधना से च्युत करने वाली है। निश्चय ही ये महापुरुष शीतोदक आदि का उपयोग करते थे परन्तु जिस समय उन्हें सर्वविरति भाव की प्राप्ति हुई, उस समय ही केवलज्ञान उपलब्ध हुआ। यह बात चूर्णि तथा वृत्ति में पूर्ण स्पष्ट है।[6]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे कुतीर्थि यह नहीं जानते कि किन भावों में प्रवर्त्तमान होने पर उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई। इन कुतर्कों के जाल में उलझा साधक उसी प्रकार दु:ख पाता है, जैसे पीठ पर भार वहन किये हुए गर्दभ दु:ख का अनुभव करते है। यहाँ चलायमान साधु को गधे की उपमा दी गयी है, जो संयमरूपी भार को वहन करने में असमर्थ होकर तीव्र पीड़ा का अनुभव करते है।

इसी क्रम में सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है, इस बौद्ध मत का उल्लेख है। इसिभासियाइं में भी इसी मान्यता का उल्लेख मिलता है। 'जिस सुख से सुख उपलब्ध होता है, वही आत्यन्तिक (मोक्ष) सुख है परन्तु जिससे दु:ख का समागम होता है, मुझे उसका समागम न हो।' यह सातिपुत्र का कथन है। मनोज्ञ भोजन और शयनासन का सेवन करके जो मनोज्ञ घर में ध्यान करता है, वही समाधि है। तथा अमनोज्ञ-भोजन, शयनासन, गृह में जो भिक्षु ध्यान करता है, वह दु:ख ही ध्यान है। यह शाक्यपुत्र बुद्ध अथा शारिपुत्र (बौद्ध शिष्य) द्वारा कहा गया है। ऐसा चूर्णिकार मानते है। इन्हीं भावों का अंकन इन गाथाओं में किया गया है।[7]

इस मिथ्यावाद के प्ररूपक प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन तथा परिग्रह का सेवन करने से असंयमी है। अत: साधु इस मिथ्या मान्यता का शिकार न बने। जो व्यामूढमति साधु 'सातं सातेण विज्जई' सुख से ही सुख की प्राप्ति रूप मिथ्या उपसर्ग में उलझता है, वह अर्हत प्ररूपित परम समाधिमय मार्ग को छोड़ देता है। जिनशासन पराङ्मुख कुशील साधु अपनी कामभोगेच्छा की तृप्ति के लिये तीन प्रकार के तर्क देता है कि -

(1) स्त्री-परिभोग गांठ या फोडे को दबाकर मवाद निकालने जैसा निर्दोष है।

(2) स्त्री-परिभोग मेंढे के जल पीने की क्रिया की तरह निर्दोष है। इसमें दूसरे को पीड़ा नहीं होती और स्वयं को भी सुख की अनुभूति होती है।

(3) स्त्री-परिभोग पिंगपक्षिणि के उदकपान की तरह निर्दोष है। वह आकाश से नीचे उड़ान भरकर पानी की सतह से चोंच में पानी भरकर प्यास मिटा देती है। शरीर से पानी को न छूती है और न उस पानी को हिलाती-डुलाती है।[8]

जिस प्रकार मेंढा तथा कापिञ्जल पक्षिणी बिना सिर हिलाये, पानी को बिना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गन्दा किये स्थिरतापूर्वक धीरे-धीरे पीते है, उसी प्रकार रागरहित, उदासीन चित्त से स्त्री के साथ समागम करने में कोई दोष नहीं है। वृत्तिकार ने इन मतवादियों में नील वस्त्रधारी विशिष्ट साधकों, नाथवादिक मण्डल में प्रविष्ट शैव साधकों तथा स्वयूथिक कुशील पार्श्वस्थों का समावेश किया है।[9]

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों का निरसन करते हुए निर्युक्तिकार कहते है -[10]

(1) जैसे कोई व्यक्ति मंडलाग्र (तलवार) से किसी मनुष्य का सिर काटकर पराङ्मुख होकर बैठ जाये तो भी क्या वह अपराधी के रूप में पकड़ा नहीं जायेगा?

(2) कोई व्यक्ति विषपान करके किसी अन्य को कष्ट न दे अथवा उदासीन या माध्यस्थवृत्ति में स्थित होकर बैठ जाये और यह सोचे कि मुझे किसी ने नहीं देखा, तो भी क्या वह नहीं मरेगा ?

(3) कोई राजा के खजाने से रत्न चुराकर निश्चित भाव से बैठ जाये, तो भी क्या वह राजपुरुषों द्वारा पकड़ा नहीं जायेगा ?

इन तीनों क्रियाओं में कोई उदासीन होकर बैठ जाये, फिर भी वह तद्-तद् विषयक परिणामों से नहीं बच सकता, उसी प्रकार कितनी ही उदासीनता तथा निर्लेपता से स्त्री-समागम क्यों न किया जाय, वह निर्दोष या निरवद्य नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा करने से पूर्व, करते समय तथा करने के पश्चात्- तीनों ही समय में तीव्र राग की उत्पत्ति होती है[11] और यह राग तीव्र मोह का बंधन करवाता है, परन्तु कुशील, पाशस्थ (स्त्रियों के जाल में बद्ध), कामान्ध साधु इन मिथ्याभासों के द्वारा अपनी वासना पूर्ति में तत्पर हो जाते है। शास्त्रकार ने इन गाथाओं में उनकी स्खलित मानसिकता का हू-ब-हू वर्णन किया है।

आगे की गाथाओं में उन अदूरदर्शी साधकों का वर्णन है, जो 'अणागयमपस्संता पच्चुप्पन्नगवेसगा' भविष्य के दु:खों को न देखने वाले मात्र वर्तमान के सुखों में आसक्त है। वे इन उपसर्गों के शिकार होकर, यौवन के क्षीण हो जाने पर, शरीर के रोगों से घिरने पर 'पच्छा परितप्पंति' पीछे पश्चाताप करते है, परन्तु जो समय रहते ही जागृत हो धर्म में पराक्रम करते है, वे बंधनमुक्त, धीर-पुरुष असंयमी जीवन की झंखना नहीं करते।

उद्देशक की समाप्ति में उन कामविजेताओं का वर्णन है, जो वैतरणी नदी से भी दुस्तर, दुर्लंघ्य स्त्री-संयोग रूप अनुकूल तथा प्रतिकूल समस्त उपसर्गों को ज्ञ परिज्ञा से सम्यक्तया जानकर तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उनसे मुक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर मोक्षप्राप्ति पर्यन्त संयम में पराक्रम करते है। अन्तिम गाथाद्वय (तृतीय उद्देशक के अन्त में भी यही दो गाथाएँ है) की पुनरावृत्ति के द्वारा शास्त्रकार ने इस बात पर विशेष बल दिया है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 45*
2. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 45-48*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 77-78
3. *(अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 49-50*
   (ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 78-79
4. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र. 79*
5. *सूयगडो, 1/3/4/1-4*
6. *(अ) सूत्रकृतांग सूत्र (जम्बूविजयजी) प्रस्तावना पृ. - 15*
   (ब) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 96
   (स) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 96
7. *(अ) इसिभासियाइं अ. 38, पृ. - 85*
   (ब) सूडगडांग सूत्र (जम्बू विजयजी) प्रस्तावना पृ. - 16
   (स) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 96
8. *सूयगडो, 1/3/4/10-12*
9. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 98*
10. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 53/54/55*
    (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 99

4. स्त्री परिज्ञा अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र (प्र. श्रु.) के चतुर्थ अध्ययन का नाम इत्थि परिण्णा अर्थात् स्त्री परिज्ञा है।

स्त्री शब्द का अर्थ स्पष्ट है। परिज्ञा अर्थात् तद्विषयक समस्त पहलुओं का ज्ञान। स्त्री के हाव-भाव-स्वभाव आदि को सभी दृष्टियों से जानकर उनसे अपेक्षित दूरी बनाये रखना ही स्त्री परिज्ञा का भावार्थ है।

परिज्ञा शब्द से दो अर्थ ग्रहित होते है -

1. ज्ञ परिज्ञा द्वारा वस्तु तत्त्व का यथार्थ ज्ञान करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा उसका सम्यक् स्वरूप जानकर मोह-ममत्व का परित्याग करना।

चूँकि इस अध्ययन में स्त्रियों के स्वरूप को जानकर उससे विरक्त होने का सन्देश है, अत: इस अध्ययन का स्त्रीपरिज्ञा नाम सार्थक है।

पूर्वोक्त अध्ययन में अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों के प्रकार तथा उनको सहने के उपाय निर्दिष्ट थे। अनुकूल उपसर्गों को सहना कठिन होता है। उनमें भी स्त्रियों द्वारा उत्पादित उपसर्ग अत्यन्त दु:सह, दुर्जेय और दुस्तीर्ण होने से इस अध्ययन में साधक को स्त्रियों से पूर्णत: दूर रहते हुए कामविजयी होने का उपदेश दिया गया है।

निर्युक्तिकार ने स्त्री शब्द के पाँच निक्षेप किये है -[1] द्रव्यस्त्री, अभिलापस्त्री, चिह्नस्त्री, वेदस्त्री तथा भावस्त्री।

1. **द्रव्यस्त्री** - द्रव्यस्त्री के दो भेद है - आगमत: और नो अगमत:

जो स्त्री पद के अर्थ को जानने वाला परन्तु उसके उपभोग से रहित है, वह आगमत: द्रव्यस्त्री है।

नो आगमत: द्रव्य स्त्री के तीन भेद है -

ज्ञशरीर, भव्यशरीर, ज्ञशरीर भव्यशरीर व्यतिरिक्त।

ज्ञशरीर भव्यशरीर व्यतिरिक्त द्रव्य स्त्री के तीन भेद है -

(अ) एकभविका - जो जीव एक भव पश्चात् स्त्री शरीर को प्राप्त करने वाला है।

(ब) बद्धायुष्का - जिसने स्त्री आयुष्य का बंध कर लिया है।

(स) अभिमुख नाम गोत्रा - जिस जीव के स्त्री नाम, गोत्र अभिमुख है।

2. **अभिलापस्त्री** - स्त्रीलिंगवाची शब्द, जैसे - सिद्धि, शाला, मालादि।

3. **चिह्नस्त्री** - चिह्न मात्र से जो स्त्री होती है, जैसे - स्तन, वस्त्र आदि। अथवा जो स्त्रीवेद से शून्य हो गया है, वैसा छद्मस्थ, केवली या अन्य कोई स्त्रीवेशधारी व्यक्ति।

4. **वेदस्त्री** - जिसे पुरुष समागम की अभिलाषा रूप स्त्रीवेद का उदय हो।

5. **भावस्त्री** - स्त्रीवेद का अनुभव करनेवाली। इसके दो प्रकार है - आगमत: तथा नोआगमत:।

जो स्त्री पदार्थ को जानता हुआ उसमें उपयोग रखता है, वह आगमत:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव स्त्री है तथा जो स्त्रीवेद रूप वस्तु में उपयोग रखता है अथवा स्त्रीवेदोदय प्राप्त कर्मों में उपयोग रखता है, वह नो आगमत: भावस्त्री है।

निर्युक्तिकार ने स्त्री के विपक्षभूत पुरुष शब्द के भी 10 निक्षेप किये है[2], जिसका चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने विशद् वर्णन किया है -

1. **नाम पुरुष** - नाम का अर्थ है संज्ञा। जिनकी संज्ञा पुल्लिग हो, जैसे- घट, पट आदि। अथवा जो संज्ञा मात्र से पुरुष है, वह नाम पुरुष है।

2. **स्थापना पुरुष** - लकड़ी आदि की बनायी हुई प्रतिमा में किसी का आरोपण कर देना स्थापना पुरुष है। जैसे- यह महावीर की प्रतिमा है।

3. **द्रव्य पुरुष** - जो द्रव्य (धन) में अत्यन्त आसक्त है, ऐसा धन प्रधान पुरुष, जैसे- मम्मण सेठ आदि।

4. **क्षेत्र पुरुष** - क्षेत्र से संबोधित होने वाला पुरुष, जैसे - सौराष्ट्रिक आदि।

5. **काल पुरुष** - जो जितने काल तक पुरुष वेद का अनुभव करता है।

6. **प्रजनन पुरुष** - जिसके केवल पुरुष का चिह्न (लिंग) है, किन्तु उसमें पुंस्त्व नहीं है, वह प्रजनन पुरुष है।

7. **कर्म पुरुष** - जो अत्यन्त पौरुष युक्त कार्य करता है।

8. **भोग पुरुष** - भोगप्रधान पुरुष, जैसे- चक्रवर्ति आदि।

9. **गुण पुरुष** - पुरुष के चार गुणों का उल्लेख चूर्णिकार ने किया है[3], व्यायाम, विक्रम, वीर्य तथा सत्व।

10. **भाव पुरुष** - पुरुष वेद के उदय का अनुभव करने वाला भाव पुरुष है।

स्त्री परिज्ञा अध्ययन में चिह्न स्त्री, वेद स्त्री अर्थ ही विवक्षित है। निर्युक्तिकार के अनुसार[4] प्रस्तुत अध्ययन में दो उद्देशक है। प्रथम उद्देशक में 31 तथा द्वितीय उद्देशक में 22 गाथाएँ है। प्रथम उद्देशक का प्रतिपाद्य है - स्त्रियों के साथ संस्तव तथा संलाप करने से शील की स्खलना होती है। दूसरे उद्देशक में स्खलित व्यक्ति की इसी जन्म में होने वाली दुर्दशा तथा कर्मबन्धन का विवेचन है।

स्त्री परवशता बड़े से बड़े बलवान को भी पराजित कर देती है। निर्युक्तिकार ने इसी क्रम में तीन बलों के तीन दृष्टान्त प्रस्तुत किये है।[5] बुद्धि बल, शारीरिक बल तथा तपोबल। जो व्यक्ति इन बलों से युक्त होते है, वे भी स्त्री के वश होकर नष्ट भ्रष्ट हो जाते है, जैसे -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. अभयकुमार - बुद्धिबल के धनी।

2. चण्डप्रद्योत - शरीरबल के धनी।

3. कूलबाल - तपोबल के धनी।

ये तीनों पुरुष, जो अपने आपको शूर मानते थे, वे भी कृत्रिम प्रेम का प्रदर्शन करने में प्रवीण तथा माया प्रधान स्त्रियों के वशीभूत हो गये। जो पुरुष धर्म में दृढ़मति वाला होता है, वही शूर है, वीर है और सात्त्विक है। धर्म के प्रति निरुत्साही व्यक्ति अत्यधिक शक्तिशली होने पर भी शूर नहीं होता।[6]

प्रस्तुत अध्ययन में जो स्त्रियों की निन्दा की गयी है, वह एकांगी दृष्टिकोण है। स्त्री अगर इतनी ही निन्दनीय या दोषों की खान होती, तो सोलह सतियाँ प्रात: स्मरणीय नहीं होती। वास्तव में स्वयं की विकृत मानसिकता तथा दबी हुई वासना ही इसका मूल कारण है। इसके प्रकट होने में स्त्री निमित्त कारण अवश्य हो सकती है। अत: स्त्री के संसर्ग से श्रमण में दोषोत्पत्ति के समान ही पुरुष के संसर्ग से श्रमणी में भी दोषोत्पत्ति सम्भव है। इसी तथ्य को निर्युक्तिकार तथा वृत्तिकार दोनों ने एक स्वर से स्वीकार किया है।[7] तथापि इस अध्ययन का नाम पुरुष परिज्ञा न रखकर स्त्री परिज्ञा रखने का कारण चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने बताया है कि 'पुरिसोत्तरिओ धम्मो' अर्थात् पुरुष प्रधान धर्म है। धर्म के प्रवर्त्तक पुरुष होने से वे उत्तम है, अत: इस उत्तमता को लांछित न करने के लक्ष्य से ही प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'स्त्रीपरिज्ञा' रखा गया है। परन्तु यह समाधान मात्र व्यावहारिक दृष्टि से ही संगत है। आध्यात्मिक दृष्टि से अनेकान्तवादी किसी एक को उत्तम तथा एक को अधम नहीं कह सकता। अस्तु

प्रथम उद्देशक के अर्थाधिकार में यह बताया गया है कि स्त्रियाँ किस प्रकार से साधक के पास जाकर उन्हें अपने सम्मोहन में बाँधती है। प्रथम गाथा में साधु की प्रतिज्ञा का स्मरण है। वह अपने माता-पिता, स्वजन सम्बन्धी आदि समस्त पूर्वसंयोगों का त्याग कर यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र से परिपूर्ण होकर मैथुन से विरत होता हुआ स्त्री, नपुंसक, पशुरहित, एकान्त शान्त स्थानों में विचरण करूँगा। सुसमाहित साधक का शील नाश करने के लिये स्त्रियाँ सूक्ष्म रूप से अधिक निकट में बैठती है, गूढ़ार्थ वाली कविता, पहेली सुनाती है, एकान्त में गुप्त बात कहती है, भिक्षा के निमित्त से घर बुलाकर एकान्त में आरामदेह पलंग, शय्या, आसन पर बैठने को कहती है, सुन्दर तथा कामपोषक पारदर्शी वस्त्रों को ढीले पहन कर स्वस्थ-सुडौल अंगों का प्रदर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करती है, कभी बाँहें ऊँची कर काँख दिखाती है, तो कभी पुष्ट अंगों के उभार को प्रदर्शित करती है। अपनी स्नेहपूर्ण दृष्टि से कटाक्ष करती है। इस प्रकार के अनेकविध अंग विन्यास, हावभाव तथा नाटक करके वह आत्महितैषी अणगार को अपनी ओर लुभाकर उनमें कामवासना पैदा करती है।[8] शास्त्रकार ने इन अनुकूल उपसर्गों से साधक को कई उदाहरणों द्वारा प्रेरणा देते हुये सावधान किया है।

साधु स्त्री को "विषलित्तं कंटगं नच्चा" विषलिप्त काँटे के समान समझे। जिस प्रकार विषमिश्रित खीर को खाकर मनुष्य केवल पश्चात्ताप ही करता है, उसी प्रकार स्त्री के वशीभूत हुआ मुनि लाख पश्चात्ताप के बावजूद उसके फँदे से नहीं निकल पाता।

इन गाथाओं में उन यातनाओं का भी वर्णन है, जो रंगे हाथों पकड़े जाने पर साधु को दी जाती है। सामाजिक लोग उनके हाथ-पैर काट डाल देते है अथवा माँस, चमड़ी उधेड़ ली जाती है, उसे भट्टी में डालकर जला दिया जाता है, उसके अंग छीलकर उस पर क्षार भी छिड़का जाता है। अन्त में उपसंहार करते हुये कहा है कि साधु कामिनी की समस्त प्रार्थनाओं और प्रलोभनों को सुअर को फँसाने वाले चावल के दाने के समान समझे तथा उनके आमंत्रण पर उनके घरों में जाने की इच्छा न करें। जो साधु इस विषय रूपी पाश से बँधा हुआ बार-बार मोह को प्राप्त होता है, वह निर्भय होकर विचरण करने वाले माँसलोलुपी सिंह की तरह लोगों द्वारा जाल में बाँध लिया जाता है।

द्वितीय उद्देशक में शीलभ्रष्ट साधक की दशा का करुण चित्रण किया गया है। अपने चारित्र से भ्रष्ट, स्त्री का वशवर्ती वह साधु उसके लिये एक अच्छे आज्ञाकारी नौकर सी नौकरी बजाता है और उसमें भी वह धन्यता का अनुभव करता है। वह कामिनी कभी उसके सिर पर पाद प्रहार करती है तो कभी रूठने का नाटक करती है। उसे अपने पैर रचाने, कमर दबाने, महावर लगाने, कपड़े धोने, शाक भाजी लाने, शृंगार का सामान लाने, छाते, जूते, बर्तन, खिलौने आदि लाने के अनेक आदेश देती है, जिसका पालन वह स्त्रीमोही, पुत्रपोषक बनकर इहलोक परलोक के नष्ट होने की परवाह किये बगैर करता है और जिन्दगी भर ऊँट की तरह गृहस्थी का भार ढोता रहता है।[9]

एक निस्पृह, निरपेक्ष, निर्बंध साधक की यह विडम्बनाजनक स्थिति राग के कारण होती है, अत: शास्त्रकार इस उद्देशक का प्रारम्भ ही "ओएसया ण रज्जेज्जा" इस सूत्र से करते है। ओए-ओज अर्थात् साधक कदापि राग न करे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि राग ही आसक्ति और मोह का मूल है।[10] शास्त्रकार ने इन स्त्रीलोलुपी साधकों की तुलना दास, जाल में फँसे मृग, नौकर, पशु तथा अधम व्यक्तियों से की है।[11]

अन्तिम गाथाचतुष्क द्वारा उद्देशक की परिसमाप्ति करते हुये स्त्रीसंग त्याग की प्रेरणा दी गयी है। साधु स्त्री के संसर्ग, संवास से उत्पन्न पापकारी वज्रवत् कामभोगों का त्याग करे, स्त्री तथा पशुयुक्त स्थानों में वास न करे। इस प्रकार विशुद्ध लेश्यावाला स्थितप्रज्ञ, मेधावी साधु समस्त स्पर्श (शीत, उष्ण, दंश) को त्रियोग से समतापूर्वक सहन करें। स्त्रीसम्पर्क जनित कर्मरज से मुक्त, राग-द्वेषरहित वह साधु मोक्ष पर्यन्त संयम में प्रवृत्त रहे।[12]

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते है। इनसे काम-वासना के परिणाम जानकर उनसे विरत होने की प्रबल प्रेरणा मिलती है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 56*
2. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 57*
   (ब) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 101-102
   (स) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 102-103
3. *(अ) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 102 व्यायामो विक्रमो वीर्य सत्वं च पुरुषे गुणाः।*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 103 गुणाः- व्यायामविक्रमधैर्यसत्वादिकाः।
4. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 58*
5. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 59*
6. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 61-62*
7. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 63*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 104-105
8. *सूयगडो, 1/4/1/2-3*
9. *सूयगडो, 1/4/2/2-16*
10. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 115*
11. *सूत्रकृतांग सूत्र - 1/4/2/18*
12. *सूत्रकृतांग सूत्र - 1/4/2/22*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. नरक विभक्ति अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के (प्रथम श्रुतस्कन्ध) पंचम अध्ययन का नाम 'निरय विभक्ति' अथवा 'नरक विभक्ति' है। चूर्णिकार ने नरक का निरूक्त इस प्रकार किया है-[1] पाप कर्म करने वाले प्राणियों को जहाँ ले जाया जाता है, वह नरक है। जिसमें प्राणी सुख नहीं पाते, वह नरक है।

विभक्ति अर्थात् विभाग या स्थान। इस दृष्टि से नरक विभक्ति का सम्पूर्ण अर्थ है- जिस अध्ययन में नरक के भिन्न-2 विभागों के क्षेत्रीय, असुरकृत, परस्परकृत दु:खों का वर्णन हो। इन विभिन्न नरक स्थानों में तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, शीत, उष्ण आदि स्पर्श, विकराल, वीभत्सरूप, तीव्र, कटु तथा तिक्तरस, भयंकर दुर्गन्ध, करूण चीत्कारपूर्ण शब्द तथा अशुभ विषय आदि का नारकों पर कैसा प्रभाव पड़ता है, किस प्रकार की उनकी करूण भयावह स्थिति होती है, दारूण दु:खों को किस प्रकार वे दीन, अत्राण बनकर भोगते है, इसका मार्मिक तथा हृदय विदारक वर्णन इस अध्ययन में समाविष्ट है। इस अध्ययन के दो उद्देशक है - प्रथम उद्देशक में 27 तथा द्वितीय में 25 गाथाएँ है।

वैदिक, बौद्ध तथा जैन - तीनों परम्पराओं में नरक के महादु:खों का वर्णन है। इससे यह प्रतीत होता है कि नरक की मान्यता अति प्राचीनकाल से चली आ रही है। योगसूत्र के व्यासभाष्य में छ: महानरकों का वर्णन है। बौद्ध परम्परा के पिटकग्रन्थ रूप सुत्तनिपात के कोकालिय नामक सुत्त में नरकों का वर्णन है। अभिधर्मकोष के तृतीय कोश स्थान के प्रारम्भ में आठ नरकों के नाम दिये गये है। इन सभी स्थलों को देखने से यह प्रतीत होता है कि भारतीय धर्मों की तीनों शाखाओं में नरक का वर्णन एक-दूसरे से काफी मिलता जुलता है। उनकी शब्दावली भी बहुत कुछ समान है।[2]

निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन का प्रतिपाद्य बतलाते हुए नरक-उत्पत्ति के अनेक कारणों में से दो कारणों - उपसर्ग-भीरूता तथा स्त्री-वशवर्तीता का उल्लेख किया है।[3]

स्थानांग सूत्र में नरक गमन के चार कारणों का उल्लेख पाया जाता है-[4] महारम्भ, महापरिग्रह, पंचेन्द्रिय प्राणीवध तथा माँसाहार। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार महारम्भ तथा महापरिग्रह ये नरकायु बंध के कारण है।[5]

निर्युक्तिकार ने नरक पद के छह निक्षेप किये है - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव।[6]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. नाम नरक - किसी का नाम नरक रखना नाम नरक है।

2. स्थापना नरक - किसी पदार्थ में नरक की स्थापना करना, स्थापना नरक है।

3. द्रव्य नरक - द्रव्य नरक के दो भेद है - आगमत: तथा नोआगमत:। जो नरक का ज्ञाता हो पर उसमें उपयोग न रखता हो, वह आगमत: द्रव्य नरक है। नोआगमत: द्रव्य नरक वे जीव है, जो इसी लोक में मनुष्य या तिर्यंच जीवन में बन्दीगृह, अनिष्ट परिवार अथवा यातना स्थान में नरक के समान ही कष्ट पाते है।

द्रव्य नरक के अन्य अपेक्षा से दो भेद है।

(अ) कर्मद्रव्य-द्रव्यनरक - नरक में वेदने योग्य कर्म-बंध।

(ब) नोकर्मद्रव्य-द्रव्यनरक - वर्त्तमान जीवन में अशुभ रूप, रस, गंध, वर्ण, शब्द और स्पर्श का संयोग।

4. क्षेत्र नरक - काल, महाकाल, आदि 84 लाख विशिष्ट भू-भाग क्षेत्र नरक है।

5. काल नरक - जिस नरक में नारकों की जितनी स्थिति है, वह काल नरक है।

6. भाव नरक - नरक में स्थित या नरकायुष्य के उदय से उत्पन्न अशातावेदनीय कर्म के उदय वाले जीव भाव-नरक कहे जाते है।

निर्युक्तिकार ने 'विभक्ति' पद के भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव ये छह निक्षेप किये है।[7]

स्थानांग में नरकों के सात नाम और गोत्रों का उल्लेख है। धम्मा, वंशा, शैली, अंजना, रिष्टा, मघा और माघवती ये सात नरक है ।[8]

नरकों के गोत्र - रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा, महातमप्रभा।

अधोलोक में सात पृथिवियाँ है। इन पृथिवियों (नरकों) के एक-दूसरे के अन्तराल में सात तनुवात (पतलीवायु) और सात अवकाशान्तर है। इन अवकाशान्तरों पर तनुवात, तनुवातों पर घनवात, घनवातों पर घनोदधि और इन सात घनोदधियों पर फूल की टोकरी की भाँति चौड़ी संस्थान वाली पृथिवियाँ है।[9]

यहाँ रहने वाले नारकी जीवों की लेश्या, परिणाम, देह तथा वेदना आदि उत्तरोत्तर अशुभ, अशुभतर, अशुभतम और असह्य, असह्यतर, असह्यतम होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। देह का प्रमाण तथा विक्रिया शक्ति भी क्रमशः अधिकतर होती है।[10] नरकवासियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः 1, 3, 7, 10, 17, 22 तथा 33 सागरोपम है।[11]

नारकीय जीव नरकावासों में तीन प्रकार की वेदना का अनुभव करते है- (1) क्षेत्रविपाकी, (2) परस्परकृत तथा (3) असुरकृत।

क्षेत्रविपाकी वेदना– नारकीय प्राणी नरकावासों में तीव्र वेदना को उत्पन्न करनेवाले पृथ्वी के स्पर्श का अनुभव करते है। यह क्षेत्रजनित वेदना दूसरों के द्वारा अचिकित्स्य होती है। उनके भयंकर रूप, भौंडा शरीर, असह्य दुर्गन्ध, कटु तथा तिक्त रस, भयावनी चित्कार से उत्पन्न दारूण दुःख को कोई देव चाहे तो भी शान्त करने में समर्थ नहीं है।[12]

परस्परकृत वेदना– वे नारक एक दूसरे के द्वेष का स्मरण कर प्रतिशोध की आग में जलते हुये परस्पर कुत्तों एवं गीदड़ की तरह लड़ते है। अपनी विक्रिया शक्ति द्वारा तलवार, भाला, फरसा आदि नाना प्रकार के शस्त्रों की विकुर्वणा करके तथा अपने हाथ, पैर, दाँत और नखों से छेदन, भेदन, कर्तन, तक्षण आदि से परस्पर तीव्र दुःख और वेदना उत्पन्न करते है।

असुरकृत वेदना– तृतीय प्रकार का दुःख नरकपाल अर्थात् परमाधार्मिक असुरों द्वारा दिया जाता है। ये पन्द्रह प्रकार के असुर स्वभाव से क्रुर, रौद्र, संक्लिष्ट परिणाम वाले, नारक जीवों को परस्पर लड़ाने वाले, छेदन, भेदन तथा दहन करने में आनन्द मनाने वाले होते है। निर्युक्तिकार ने पनरह प्रकार के नरकपालों का नामोल्लेख करते हुए उनके कार्यकलापों का भी निर्देश किया है, जिसका वृत्तिकार ने विस्तार से वर्णन किया है।[13]

ये नरकपाल नारकों को मुद्गर, भाले आदि से मारते हुये, आरी और करवत से नारकों के अंग, प्रत्यंग, गुप्तांग तथा कोमल स्थानों को छिन्न-भिन्न करते हुये, भट्टी में चने की तरह भुनते हुये, तेल की कड़ाही में तलते हुये, खून, मवाद, माँस, अस्थियों से भरी वैतरणी नदी में बहाते हुए परम आनन्द का अनुभव करते है।

प्रथम तीन नरकों में उपरोक्त तीनों प्रकार की वेदनाएँ प्राप्त होती है। शेष चार नरक भूमियों में क्षेत्रजनित तथा परस्परजनित वेदना ही है। नारक जीव अपने पापजनित दुःखों को भोगे बिना वहाँ से छुटकारा नहीं पा सकते, क्योंकि नरकायुष्य अनपवर्तनीय होने से नारकों की अकाल मृत्यु नहीं होती।

स्थानागं सूत्र में नारकीय जीवों द्वारा भोगी जानेवाली दस प्रकार की वेदना का उल्लेख है[14] - (1) शीत, (2) उष्ण, (3) क्षुधा, (4) पिपासा, (5) खुजलाहट,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(6) परतंत्रता, (7) भय, (8) शोक, (9) जरा और (10) व्याधि।

प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा में सुधर्मा स्वामी द्वारा पूछे जाने पर श्रमण भगवान महावीर द्वारा नरक के दारुण दुःखों का विस्तार से वर्णन किया गया है। सुधर्मा स्वामी के यह पूछने पर कि - परमात्मन् ! कौन से जीव नरक में क्यों और कैसे जाते है ? इसका समाधान शास्त्रकार दूसरी गाथा में करते है कि जो जीव मन से रौद्र है, कर्म से रौद्र है, भावों तथा वचनों से भी रौद्र है, वह जीव हिताहित की विवेक बुद्धि से रहित, सघन अन्धकारमय, धधकते खैर-अँगारों से भी तीव्र अभितापयुक्त नरक में गिरता है।

विषयसुख में आसक्त, त्रस तथा स्थावर जीवों की तीव्र हिंसा करने वाले जीवों को इन दुःसह नरक भूमियों में उत्पन्न होते ही भयंकर अनिष्ट शब्द सुनाई देते है - 'यह पापी, महारम्भी, महापरिग्रही, लम्पट निश्चय ही अनेक पापकर्म करके आया है, अतः इसे मुद्गर से मारो, तलवार से काटो, शूल से बींधो, भाले में पीरो दो, इसके टुकड़े-टुकड़े कर दो, आग- भट्टी में झौंक दो।' इन मर्मभेदी शब्दों को सुनकर बिचारा नारक जीव भयातुर होकर वहीं बेहोश हो जाता है। होश आते ही भयविह्वल होकर भागने लगता है कि अब किस दिशा में जाये ? किसकी शरण में जाये ? इस प्रकार वहाँ उत्पन्न होते ही नारक जीव शब्दजन्य, क्षेत्रजन्य तथा परमाधामी असुरकृत भयंकर यातनाओं का शिकार हो जाता है।[15]

प्रथम उद्देशक में नारकों को परमाधार्मिक देवों द्वारा दी जाने वाली यातनाओं की लम्बी शृंखला का वर्णन हृदय को कम्पकम्पा देने वाला है। उसकी संक्षिप्त झाँकी इस प्रकार है- जलती हुई अँगारों की राशि तथा जाज्वल्यमान ज्योति (ज्वाला) सहित तप्त भूमि सदृश नरक भूमि पर चलते हुये नारक करुण रूदन करते है। कई बार उन्हें रक्त, मवाद तथा अस्थियों से बहती वैतरणी नदी में कूदने के लिये बाध्य कर दिया जाता है, जिससे उस नदी की उस्तरे के समान तीक्ष्ण धार से नारकों के अंग कट जाते है। उससे उद्विग्न नारक जीव जब नौका पर चढ़ने के लिये आते है, तो नरकपाल उनके गले में कील भोंक देते है। किन्हीं के गले में बड़ी-बड़ी शिलाएँ बाँधकर उन्हें अगाध जलराशि में डूबो देते है। किन्हीं जीवों को अत्यन्त तपी हुई मुर्मुराग्नि में घुमाते तथा पकाते है। इन नरकों में अग्नि की लपटें चारों दिशाओं में निरन्तर प्रज्ज्वलित रहती है। उस धधकती लपटों में नारक जीव जीते जी डाल दिये जाते है, जो मछलियों की तरह तपते, तड़फते आर्त्तस्वर में रूदन करते है, पर वहाँ उनका कोई रक्षक नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरक में 'संतक्षण' नामक एक महान् संतापकारी नरकावास है, जहाँ हाथ में कुठार लिये हुए नरकपाल अशुकर्मवाले उन नैरयिकों के हाथों और पैरों को बाँधकर उन्हें फलक की भाँति छील डालते है, तथा खुन से सने, मल से लथपथ हुए नैरयिकों को उलट-पुलट करते हुए उन्हें जीवित मछलियों की भाँति लोहे की कडाही में पकाते है। उनकी खोपड़ी चूर-चूर कर दी जाती है। नरकपालों द्वारा पीछे जाने पर छुपने के लिये इधर-उधर दौड़ते हुए नारक मलभरे नरकावास में जा पड़ते है। वे भूख से पीड़ित होकर अपने ही मल-मूत्र आदि का भक्षण करते है, तथा चिरकाल तक उसी मल-मूत्र भरी जगह में निवास करते है।

नरकपाल उन्हें उनके पूर्वजन्म के समस्त पापों का स्मरण करवाकर नाना प्रकार के दण्ड देते है। उनकी नासिका, होंठ, कान उस्तरे से काट डालते है। जीभ को तपी हुई गरम-गरम संडासी से खिंचकर बाहर निकाल देते है। इस दारूण त्रासदी से छटपटाते, विवेकमूढ, संज्ञाहीन (बेहोश) नारक रात-दिन रोते-चिल्लाते रहते है। उनके कटे अंगों से खून टपकता रहता है, जिस पर क्षार छिड़ककर नरकपाल उन्हें आकुल-व्याकुल करके अपना क्रूर मनोरंजन करते है। वे कुतुहली असुर रक्त तथा मवाद पकाने वाली, अभिनवप्रज्वलित अग्नि से युक्त कुम्भी नामक नरक में 'अट्टस्सरे कलुणं रसंते' आर्त्तस्वर में करुण पुकार करते हुए उन अज्ञानी नारकी जीवों को डालकर पकाते है। प्यास से व्याकुल होने पर उबला हुआ गर्मागर्म ताँबा और सीसा उनके मुँह में जबरन उण्डेल दिया जाता है।

यहाँ पर एक शंका हो सकती है कि इतना वर्णनातीत, असह्य दु:ख भोगने पर भी वे नारक जीवित कैसे रहते है ? प्राणलेवा यातनाओं से क्या वे मृत नहीं हो जाते ? इसका समाधान शास्त्रकार ने "नो चेव ते तत्थ मसीभंवति ण मिज्जई तिव्वभिवेयणाए"[16] इन शब्दों में किया है कि वे इस तीव्र वेदना से न भस्म होते है, न मरते है। वे नारक जब तक अपने पूर्वजन्मकृत हिंसा, अनाचरण आदि पापकर्मों का सम्पूर्ण भुगतान नहीं कर लेते, तब तक उनका आयुष्य क्षय नहीं होता। क्योंकि नारक जीवों के वैक्रिय शरीर होता है।

वैक्रिय शरीर वह है, जो मारने, काटने पर या छिन्न-भिन्न कर देने पर पारे के समान बिखर जाता है तथा जमीन पर गिरते ही पुन: एक हो जाता है, जिसमें एक-अनेक, छोटा-बड़ा आदि नाना प्रकार की विक्रिया करने की शक्ति होती है। वैक्रिय शरीर उपपात जन्म से पैदा होता है।[17] उपपात जन्म अर्थात् स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध बिना उत्पत्ति स्थान में रहे हुए वैक्रिय पुद्गलों को पहले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहल शरीर रूप में परिणत करना।'[8] उपपात जन्म से पैदा होकर वैक्रिय शरीर को धारण करने वाले देव तथा नारक जीव ही होते है।

इन औपपातिक (उपपात जन्मवाले) नारकों के अनपवर्त्तनीय आयुष्य (जो घटाई न जा सके) का उदय होने से वे प्रभूत काल तक उन नरक भूमियों में असुरों द्वारा विविध रूप से सताये जाते है।

द्वितीय उद्देशक के प्रारम्भ में नरक को 'सासयदुक्खधम्मा' अर्थात् 'शाश्वतदु:ख धर्मा' कहा है अर्थात् सम्पूर्ण आयुपर्यन्त जीव जहाँ निरन्तर, प्रतिपल दु:ख ही पाता है या जीवन क्षय होने तक दु:ख देना ही जिसका स्वभाव है। क्योंकि नारकी जीवों को नरक में आँख की पलक झपके उतने समय का भी सुख नहीं है। इस उद्देशक में पूर्वोक्त से कुछ विशेष यातनाओं का निरूपण है तथा समाप्ति में नरक से बचने के उपायों का भी उल्लेख है।

नरकपाल नारकी जीवों के हाथ पैरों को बाँधकर तेज धारवाले शस्त्रों से उनका पेट फाड़ देते है। लाठी आदि विविध शस्त्रों के प्रहार से उनके पीठ की चमड़ी भी उधेड़ देते है। उनकी भुजा को मूल से काट देते है। मुँह को फाड़कर उसमें तपते हुए लोहे के बड़े-बड़े गोले डालकर मुँह को जला देते है तथा उन्हें एकान्त में ले जाकर पूर्वजन्मकृत पापों का स्मरण कराते है कि पूर्वजन्म में शराब और माँस का सेवन करने वाले अब गर्मा-गर्म सीसा पीते हुये और अपना ही माँस खाते हुये क्यों घबराते हो ? बिचारे परवश नारकी जीव उन असुरों की किसी भी बात का प्रतिकार नहीं कर पाते। वे नरकपाल कभी तपी हुई गाड़ी में उन्हें जोतते है, तो कभी कीचड़ एवं काँटों से भरी जमीन पर जबरन चलाते है। रुकने पर डण्डे, चाबूक से उन पर तीव्र प्रहार करते है। कभी-कभी सामने से गिरती हुई बड़ी-बड़ी शिलाओं से कुचल दिये जाते है। कभी गेंदाकार में बनी कुम्भी में पकाये जाते है, तो कभी चने की तरह भूने जाते हुए जब उपर उछलते है, तब लोहमयी चोंचवाले काक उन्हें नोचकर खा जाते है। वे नरकपाल उनको हाथी की तरह भार वहन कराते हैं या दो-तीन नारकों को उनकी पीठ पर चढ़ाकर चलाते है। न चलने पर मर्मस्थानों में तीखा नोंकदार शस्त्र चुभोया जाता है। उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर उन्हें नगरबलि की तरह चारों दिशाओं में फैंक दिया जाता है। कभी सदाजला नामक विषम और दुर्गम नदी में, जिसका पानी रक्त, मवाद एवं क्षार के कारण मैला व पंकिल है, के पिघले हुए तरल लोह के समान अत्यन्त उष्ण जल में तिराया जाता है, तो कभी वैतालिक नामक अत्यन्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊँचा आकाशस्थ पर्वत, जो सदा अतिगर्म रहता है, उस पर उन्हें चिरकाल तक मारा-पीटा जाता है।

इन समस्त यातनाओं को भोगते हुये तथा नरकपालों द्वारा टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाने पर भी ये नारक पुन:-पुन: जीवन पा जाते है। इसलिये इसी उद्देशक में नरक को संजीवनी भी कहा गया है।[19] संजीवनी वह औषधि है, जो मरते हुये मनुष्य को जीवन प्रदान करती है। नरक भी संजीवनी है क्योंकि वह भी प्राणघातक यातना देने पर भी आयुष्य शेष होने से नारकों को पुन: जीवन प्रदान कर देती है।

बौद्ध परम्परा के आठवें नरक 'संजीव' का वर्णन भी उपरोक्त वर्णन की तरह ही है। संजीव नरक में पहले शरीर भग्न होते है, फिर रज:कण जितने सुक्ष्म हो जाते है। पश्चात् शीतल वायु से वे पुन: सचेतन हो जाते है।[20]

अन्तिम गाथाओं में यह बताया गया है कि नरक में वे ही जीव आते है, जो जन्मान्तर में तीव्र पापकर्म का उपार्जन करते है।

वस्तुत: यह अध्ययन अठारह पापों के आचरण के प्रति विरक्ति पैदा करता है। सूत्रकार के अनुसार नारकीय वेदना से मुक्त होने के उपाय है -

1. हिंसा निवृत्ति, 2. सत्य का आचरण, 3. असंग्रह का पालन, 4. कषाय-निग्रह, 5. अठारह पापों से निवृत्ति, 6. चारित्र का अनुपालन।[21]

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग चूर्णि. पृ. - 136*
2. *जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग - 1 पृ. - 146*
3. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 25*
4. *ठाणं, 4/6*
5. *तत्त्वार्थ सूत्र, 6/15*
6. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 64-65*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 121-122
7. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 66*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 122
8. *ठाणं, 7/23-24*
9. *वही, 7/14-22*
10. *(अ) तत्वार्थ सूत्र, 3/4*
    (ब) सवार्थ सिद्धि, अ. 3, पृ. 156

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

11. तत्वार्थ सूत्र, 3/6
12. (अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 67
(ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 124
13. (अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 68-84
(ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 125-126
14. ठाणं, 10/108
15. सूयगडो, 1/5/1/6
16. सूयगडो, 1/5/1/16
17. तत्वार्थ सूत्र - 2/47
18. तत्वार्थ सूत्र पृ. 124/पं. सुखलालजी
19. (अ) सूयगडो, 1/5/2/9
(ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 137
20. अभिधम्म कोश, पृ. 372 आचार्य नरेन्द्रदेवकृत
21. सूयगडो, 1/5/2/24

6. महावीर स्तव (वीरस्तुति) अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र (प्र. श्रु.) के षष्ठ अध्ययन का नाम 'महावीर स्तव' है। इस अध्ययन का नाम 'महावीर स्तव' इसलिये रखा गया क्योंकि इसमें श्रमण भगवान महावीर की अनेक श्रेष्ठ उपमाओं के द्वारा स्तुति की गयी है। समवायांग में इसका नाम 'महावीर स्तुति' उपलब्ध है।[1] 'स्तव' और 'स्तुति' दोनों एकार्थक ही हैं।

जिन्होंने बन्धन के हेतुभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योगों का रोध कर दिया है, जिन्होंने ज्ञानावरणीयादि चार घाती कर्मों का विदारण कर दिया है, जिन्होंने अनुकूल-प्रतिकूल समस्त उपसर्गों को पराजित कर दिया है तथा जो नरकादि चारों गतियों के बंध कारणों से मुक्त हो गये है, उन श्रमण शिरोमणि भगवान महावीर के ज्योर्तिमय जीवन की आदर्श झाँकी का प्ररूपण प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है।

पूर्व प्रतिपादित पाँचों अध्ययनों में साधक के राग-द्वेष, अविरति, अब्रह्म, आसक्ति से होने वाले प्रगाढ़ कर्म बन्धन, उनके फलस्वरूप प्राप्त नरक के दु:खों का विस्तार से वर्णन तथा उनसे बचने के उपायों का सांगोपांग निरूपण किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया। इस अध्ययन में उन समस्त दोषों से विरत, उपसर्गजेता, आत्महितैषी साधक के आदर्श, अनुत्तर योगी, श्रमण तीर्थंकर महावीर को परमनायक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

शास्त्रों में भगवान महावीर के तीन नाम प्राप्त होते है - वर्धमान, श्रमण तथा महावीर।[2] महावीर स्तव में निहित महा+वीर+स्तव इन तीनों शब्दों के निर्युक्तिकार ने क्रमशः छह, चार तथा चार निक्षेप किये है।[3] महत् शब्द के चूर्णिकार ने दो अर्थ किये है- प्रधान तथा बहुत।[4] यहाँ यह प्राधान्य अर्थ में गृहित है। इसके नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव ये छह निक्षेप है।

वीर का अर्थ है- वीर्यवान्, शक्तिशाली। इसके चार निक्षेप इस प्रकार है-

1. **द्रव्यवीर** - सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य के वीर्य, शक्ति को द्रव्यवीर कहा जाता है।

(क) सचित्तद्रव्यवीर के तीन प्रकार है -

(अ) द्विपद - तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव का शारीरिक वीर्य।

चूर्णिकार ने आवश्यक निर्युक्ति की पाँच गाथाओं को उद्धृत कर शलाका पुरुषों के बल का वर्णन करते हुए तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि के बल की व्याख्या इस प्रकार की है- तीर्थंकर अपने शारीरिक बल (वीर्य) का प्रदर्शन नहीं करते, किन्तु उनमें इतनी शारीरिक क्षमता है कि वे इस लोक को उठाकर एक गेंद की तरह अलोक में फेंक सकते है। वे मंदर पर्वत को छत्र का दंड बनाकर रत्नप्रभा पृथ्वी को छत्र की तरह धारण कर सकते है।[5] यह वास्तविकता का काल्पनिक निदर्शन है। ऐसा न होता है, न कोई करता है। पर तीर्थंकर में इतनी शक्ति होती है।

कोई चक्रवर्ती कूप के तट पर स्थित है। उनको सांकल से बाँधकर, बत्तीस हजार राजा अपनी चतुरंगिणी सेना के सहारे खींचते है, फिर भी वे उन्हें टस से मस नहीं कर सकते। प्रत्युत चक्रवर्ती अपने वामहस्त से सांकल को खींचकर उन सबको गिरा सकते है। इसी प्रकार चक्रवर्ती से आधी शक्ति वासुदेव में और वासुदेव से आधी शक्ति बलदेव में होती है। परन्तु तीर्थंकर की शक्ति चक्रवर्ती की शक्ति से भी अधिक और अपरिमित होती है। वे अनंत बल-वीर्य से युक्त होते है।

(ब) चतुष्पद - सिंह आदि का बल।

(स) अपद - अप्रशस्त-विष आदि की शक्ति तथा प्रशस्त-संजीवनी औषधि आदि की शक्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) मिश्रद्रव्य- औषधि का वीर्य

2. **क्षेत्रवीर** - जो अपने क्षेत्र में अद्भुत पराक्रमी है, वह क्षेत्रवीर है।

3. **कालवीर** - जो अपने समय या काल में अपूर्व प्रभावशाली होता है अथवा जो काल (मृत्यु) पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह कालवीर है।

4. **भाववीर** - क्षायिक वीर्य से सम्पन्न व्यक्ति, जिसने क्रोधादि कषायों एवं परीषहों पर विजय प्राप्त कर ली है, वह भाववीर है।

प्रस्तुत अध्ययन में भाववीर ही विवक्षित है, क्योंकि वर्धमान महावीर अनुकूल-प्रतिकूल आदि समस्त परीषहों तथा उपसर्गों से अपराजित है, अत: महावीर शब्द व्यक्ति वाचक होने पर भी वीरता के गुणों से युक्त होने के कारण यहाँ गुणवाचक है।

निर्युक्तिकार ने स्तुति शब्द के भी चार निक्षेप किये है। नाम तथा स्थापना प्रसिद्ध है। आभूषण, पुष्पमाला, चन्दन आदि सचित्त-अचित्त द्रव्यों द्वारा जो स्तुति की जाती है, वह द्रव्य स्तुति है तथा विद्यमान गुणों का कीर्तन-स्तवन करना भाव स्तुति है।[6]

प्रस्तुत अध्ययन में जम्बूस्वामी द्वारा पूछे जाने पर सुधर्म गणधर ने श्रमण भगवान महावीर के महिमामण्डित भगवद् स्वरूप का अनेक श्रेष्ठताओं द्वारा वर्णन किया है, जिससे हमें उनके विराट् स्वरूप का सहज ही ज्ञान हो जाता है।

वे ज्ञातपुत्र महावीर संसार के प्राणियों के दु:खों के ज्ञाता होने से खेदज्ञ, अष्टविध कर्म विदारण में कुशल, आशुप्रज्ञ, निरामगंधी, अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी, धृतिमान, भूतिप्रज्ञ, अप्रतिबद्ध विहारी है। सूर्य की भांति अनुपम प्रभास्वर, वैरोचनेन्द्र (प्रदीप्त अग्नि) की भाँति अंधकार में प्रकाश करनेवाले, ऋषभादि जिनवरों के अनुत्तर धर्म के नेता, सहस्र देवों से भी अधिक प्रभावशाली है। स्वयंभूरमण समुद्र के समान प्रज्ञा से अनन्त पार, समुद्रजल की भाँति परम निर्मल ज्ञान युक्त, कषायों से सर्वथा रहित है।

पूर्वोक्त विशेषणों में भगवान को खेदज्ञ, धृतिमान्, भूतिप्रज्ञ, निरामगंधी, स्थितप्रज्ञ आदि विशिष्टताओं से युक्त बताया गया है। खेदज्ञ अर्थात् जो क्षेत्र (आकाश) को जानने वाले है। आकाश में लोक तथा अलोक दोनों का समावेश होने से वे लोकालोक के ज्ञाता है। सुख-दु:ख आदि को समतापूर्वक सहन करने से वे धीर या धृतिमान है। भूतिप्रज्ञ का तात्पर्य है कि जो विश्वहितकरी, मंगलमयी विशिष्ट बुद्धि से युक्त है। इसी प्रज्ञा के कारण परमात्मा प्राणी मात्र के कल्याण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की कामना से युक्त बनते है। अभय अर्थात् समस्त भयों का जिनमें अभाव हो गया है। निरामगंधी अर्थात् वे निर्दोषभोजी है। स्थितप्रज्ञ-जिनकी प्रज्ञा पूर्णत: स्थित हो गयी है अर्थात् मान-अपमान, सुख-दु:ख की समस्त स्थितियों में भी जो तटस्थ और निश्चल चित्त वाले है।

जिस प्रकार लम्बे पर्वतों में निषध पर्वत तथा वलयाकार पर्वतों में रुचक पर्वत श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त प्रज्ञापुरुषों में श्रमण महावीर श्रेष्ठ है। जैसे वृक्षों में शाल्मली वृक्ष, वनों में नन्दनवन, शब्दों में मेघगर्जन, तारागण में चन्द्रमा, गंधों में चन्दन, धर्मों में निर्वाण, समुद्रों में इक्षुरस, पक्षियों में गरुड़, मृगों में मृगेन्द्र, हाथियों में ऐरावण, पर्वतों में सुमेरू, दानों में अभयदान, सत्य वचनों में निरवद्य वचन, तप में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ तथा उत्तम है, उसी प्रकार निर्वाणवादियों में भगवान महावीर श्रेष्ठ है।

भगवान महावीर को प्रस्तुत अध्ययन में निर्वाणवादी कहा गया है। निर्वाणवादी अर्थात् मोक्षवादी। प्राचीनकाल में दार्शनिक जगत् में दो परम्पराएँ मुख्य रही है- निर्वाणवादी परम्परा और स्वर्गवादी परम्परा। श्रमण परम्परा निर्वाणवादी परम्परा है। उसमें साधना का लक्ष्य निर्वाण है और वही उसका सर्वोच्च आदर्श है। भगवान महावीर ने इस आदर्श को सर्वाधिक मुल्य दिया, इसलिये वे निर्वाणवादियों में श्रेष्ठ कहलाएँ और उनकी परम्परा निर्वाणवादी परम्परा कहलाई। इस परम्परा में साधना के वे ही तथ्य मान्य है, जो कि निर्वाण के पोषक, संवर्धक है। स्वर्गवादी परम्परा में ऐसा नहीं है। याज्ञिक परम्परा स्वर्गवादी परम्परा है।[7]

जैसे सभाओं में सुधर्मा सभा, योद्धाओं में विश्वसेन चक्रवर्ती तथा क्षत्रियों में दन्तवक्त्र श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त ऋषियों तथा ज्ञानियों में श्रमण महावीर श्रेष्ठ है।

महाभारत सभापर्व में दन्तवक्त्र नामक क्षत्रिय का उल्लेख है। इसे राजाओं का अधिपति और महान् पराक्रमी माना है।[8]

भगवान महावीर पृथ्वी के समान समस्त प्राणियों के आधारभूत, विगतगृद्धि- (बाह्याभ्यन्तर आसक्ति से रहित), चारों कषायों के वन्ता, न पाप करते है, न करवाते है। वे क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी तथा अज्ञानवादियों के समस्त वादों को सम्यक्तया जानकर आजीवन संयम में स्थित है। भगवान महावीर के समय में तीन सौ तिरेसठ मत प्रचलित थे। जैनागमों में उन सबका समाहार उपरोक्त चारों वादों में किया गया है। इन वादों की विस्तृत मीमांसा अगले अध्याय में करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत अध्ययन की उपान्त्य गाथा ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'श्रमण महावीर ने स्त्री-सम्पर्क तथा रात्रिभोजन का वर्जन किया।' इस कथन से यह ध्वनित होता है कि महावीर से पूर्व चातुर्याम की परम्परा प्रचलित थी, जिसके प्रवर्त्तक थे पार्श्व। भगवान महावीर ने चातुर्याम की परम्परा को बदलकर पंचमहाव्रतों की परम्परा का प्रचलन किया। उसमें परिग्रह विरमण महाव्रत का विस्तार कर ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह- इन दो स्वतन्त्र महाव्रतों की स्थापना की।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *समवाओ, 16/1*
2. *दशाश्रुतस्कन्ध, पर्यूषणा नामक अष्ठम अध्ययन प्रथमाधिकार*
3. *(क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 83*
   (ख) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 142
4. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 141*
5. *वही, पृ. - 141*
6. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 84*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 143
7. *सूयगडो- 1/16, पृ. 183*
8. *महाभारत, सभापर्व 32/3*

7. कुशील परिभाषित अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के सप्तम अध्ययन का नाम कुशील परिभाषित या कुशील परिभाषा है। शील शब्द अनेकार्थक है- स्वभाव, आचार, व्यवहार, अनुष्ठान, ब्रह्मचर्य आदि।

पूर्वोक्त अध्ययन में परम सुशील महापुरुष महावीर की चर्या, ज्ञान, ध्यान, तप, त्याग आदि विशिष्ट गुणावलि की प्रशस्ति की गई। प्रस्तुत अध्ययन में इससे विरोधी आचार वाले कुशील तथा उनकी मिथ्या मान्यताओं का प्ररूपण तथा खण्डन होने से इस अध्ययन का नाम कुशील है।

इस अध्ययन के उद्देशाधिकार में इसका एक ही उद्देशक है, जो 30 गाथाओं में ग्रथित है। अर्थाधिकार में उन कुतीर्थिक, स्वयूथिक, पार्श्वस्थ कुशीलों की ओर संकेत किया गया है, जो सदाचार, सद्विचार, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युक्त न होते हुये भी अपने दोषों को गूढ़ रखकर अपने ही मताग्रहों तथा दुराचार को सत्य और सुशील बताते है।

निर्युक्तिकार[1] ने शील शब्द के चार निक्षेप किये है -

1. **नामशील**- किसी गुणशून्य का शील नाम रखना, नामशील है।

2. **स्थापनाशील**- किसी वस्तु में शील की स्थापना करना, स्थापनाशील है।

3. **द्रव्यशील**- चेतन या अचेतन, जिस द्रव्य का जो स्वभाव है या भोजन, वस्त्रादि के विषय में भी जिसकी जो प्रकृति है, वह द्रव्यशील कहलाता है।

4. **भावशील**- भावशील के मुख्यत: दो प्रकार है -

अ. ओघभावशील - पाप कार्यों से सम्पूर्ण विरत अथवा विरताविरत।

ब. आभीक्ष्ण्यसेवनाशील - निरंतर या बार-बार शील का आचरण करता है।

प्रकारान्तर से भावशील के दो प्रकार हैं - ज्ञानशील, तप:शील।

1. प्रशस्तभावशील = धर्मशील,

2. अप्रशस्तभावशील = अधर्म या क्रोध आदि में प्रवृत्ति करना।

भावअशील तथा भावकुशील में भी यह अन्तर है कि भाव से अशील किसी भी प्रकार के संयम या सदाचार के पालन में प्रवृत्त नहीं होता, न उस प्रकार का अनुष्ठान करता है। परन्तु भावकुशील संयम तथा शील पालन में प्रवृत्त तो होता है परन्तु विपरीत रूप से। अर्थात् जो धर्म की आड में अधर्म तथा दु:शील का सेवन करता है, क्रोधादि कषाय तथा अन्य पापस्थानकों में प्रवृत्त होता है, वह भावकुशील है।

प्रस्तुत अध्ययन में भावकुशील ही विवक्षित है। निर्युक्तिकार तथा वृत्तिकार ने कुशील तथा सुशील की व्याख्या करते हुये बताया है कि जिसका शील कुत्सित अर्थात् निन्दनीय है, वह कुशील है, परन्तु जिसका शील शुद्ध तथा प्रशंसनीय है, वह सुशील है।[2] इसी प्रकार जो अप्रासुक अर्थात् शीतजल, हरित, अग्नि आदि का सेवन करते है, उद्‌गमादि दोषयुक्त आहार का सेवन करते है, वे कुशील है तथा जो प्रासुक एवं अचित्त (एषणीय) आहार ग्रहण करते है, वे सुशील है।

वृत्तिकार ने मुख्यत: चार प्रकार के कुशीलों का उल्लेख किया है -[3]

1. परतीर्थिक कुशील - अन्य धर्म-सम्प्रदायों के शिथिल साधु।

2. पार्श्वापत्यिक कुशील - पार्श्व की परम्परा के शिथिल साधु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. निर्ग्रन्थ कुशील - महावीर की परम्परा के शिथिल साधु।

4. गृहस्थ कुशील - अशील गृहस्थ।

निर्युक्तिकार ने कुछ कुशीलों - (परतीर्थिक, पार्श्वस्थ तथा अविरत) के नामों का उल्लेख भी किया है, यथा - गोव्रतिक, चंडदेवगा, उपासक, वारिभद्रक, अग्निहोत्रवादी, जलशौचवादी, भागवत तथा पार्श्वस्थ, अवसन्न आदि स्वयूथिक।[4]

गोव्रतिक वे लोग है, जो प्रशिक्षित छोटे से बैल को लेकर अन्न आदि के लिये घर-घर घूमते है। चण्डी उपासक वे है, जो चण्डी की उपासना करते है या चक्रधारण करते है। वारिभद्रक अर्थात् जो सचित्त जल पीते है, नित्य शैवाल भोजी है तथा स्नान, पादधोवन आदि में रत है। अग्निहोत्रवादी वे है, जो अग्नि में होम करने से ही स्वर्ग प्राप्ति बताते है। भागवत आदि रात-दिन जलशौच में ही संलग्न रहते है, ये और इस प्रकार के अन्य, जो अप्रासुक (सचित्त) आहारभोजी है, वे सभी कुशील है। पार्श्वस्थ, अवसन्नादि जो उद्गमादि दोषयुक्त आहार का सेवन करते है, वे भी कुशील कहलाते है।

इस अध्ययन में मुख्य रूप से कुशीलों की मुख्य तीन मान्यताओं का वर्णन है - (1) आहारसंपज्जण - अर्थात् आहार में रस पैदा कर मधुरता उत्पन्न करने वाले लवण त्याग से मुक्ति की प्राप्ति मानने वाले (2) सीओदगसेवण - अर्थात् शीतल जल से मोक्ष प्राप्ति मानने वाले (3) हुएण - अर्थात् होम (यज्ञ) से मोक्ष प्राप्ति मानने वाले। इन तीनों विचारधाराओं का शास्त्रकार ने अनेक दृष्टान्तों द्वारा युक्तिसंगत खण्डन किया है, जिसका विश्लेषण आगे के अध्याय में प्रस्तुत किया जायेगा।

प्रारम्भिक गाथाओं में शास्त्रकार ने पृथ्वी, अप्, तेऊ, वायु, वनस्पति तथा त्रस इन षट्कायों का उल्लेख कर त्रस प्राणियों के चार प्रकारों का वर्णन किया है -जरायुज, अण्डज, संस्वेदज तथा रसज। दशवैकालिक में यह वर्गीकरण आठ प्रकार से पाया जाता है-[5]

1. अंडज - अंडे से उत्पन्न होने वाले मयूर आदि।

2. पोतज - 'पोत' अर्थात् शिशु। जो शिशु रूप में उत्पन्न होते है, जिन पर कोई आवरण लिपटा हुआ नहीं होता, वे पोतज है। जैसे- हाथी, चर्म-जलोका आदि।

3. जरायुज - जरायु अर्थात् गर्भवेष्टन या झिल्ली, जो शिशु को आवृत किये रहती है। जन्म के समय जो जरायु-वेष्टित दशा में उत्पन्न होते है, वे जरायुज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जैसे- गाय, भैंस आदि।

4. रसज - छाछ, दही आदि रसों में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म शरीरी जीव।

5. संस्वेदज - पसीने से उत्पन्न होने वाले खटमल, यूका- जूँ आदि जीव।

6. सम्मूर्च्छनज - इसका शाब्दिक अर्थ है- घना होने, बढ़ने या फैलने की क्रिया। जो सर्दी, गर्मी आदि बाह्य कारणों के संयोग से गर्भ के बिना उत्पन्न होते है, बढ़ते है और फैलते है, वे जीव सम्मूर्च्छनज कहलाते है। जैसे- शलभ, चींटी, मक्खी आदि।

7. उद्भिज - पृथ्वी को भेदकर उत्पन्न होने वाले पतंग, खञ्जरीट आदि जीव।

8. औपपातिक - उपपात अर्थात् अकस्मात घटित होने वाली घटना। देवता और नारकीय जीव औपपातिक कहलाते है। ये माता-पिता के संयोग से उत्पन्न नहीं होते, अत: गर्भज नहीं है। इनके मन होता है, इसलिए ये सम्मूर्च्छिम भी नहीं है। रसज, संस्वेदज तथा उद्भिज ये सभी प्राणी सम्मूर्च्छिम है।

सुख की अभिलाषा प्राणी का सामान्य लक्षण है। त्रस तथा स्थावर सभी प्राणी सुख के आकांक्षी होते है। अत: साधक सूक्ष्म-दृष्टि से विचारकर इन प्राणियों की हिंसा न करे।

जो उनके दु:ख को आत्मवत् नहीं जानता, वह इन्हीं प्राणियों में जन्म धारण करता है। अग्निकाय समारम्भ को दोषयुक्त बताते हुये कहते है कि जो अपने माता-पिता को छोड़कर, श्रमण व्रत धारण कर अग्निकाय की हिंसा करता है अर्थात् पचन-पाचन करता है, वह सर्वज्ञ द्वारा कुशील कहा गया है, क्योंकि आग जलाने वाला पृथ्वी, अप्, उड़ने वाले संपातिम जीव, संस्वेदज (पसीने से उत्पन्न) एवं काष्ठाश्रित (लकड़ी आदि) जीवों को भी जला देता है तथा अपने शरीर का पोषण करने के लिये हरी दूब, अंकुर आदि वनस्पति का छेदन-भेदन करता है, वह अज्ञानी पुरुष बहुत से प्राणियों का विनाश कर देता है। सर्वज्ञ पुरुषों ने उक्त हिंसा करने वाले को अनार्यधर्मी कहा है।[6]

उपरोक्त भाव उन परम्पराओं और रीति-रिवाजों पर प्रहार कर रहे है, जो अग्नि समारम्भ (यज्ञादि) तथा सचित्त आहार (हरी वनस्पति, फल, फूल) द्वारा मोक्ष प्राप्ति का दावा करते है। शास्त्रकार ने यहाँ पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु तथा वनस्पति में जीवों का अस्तित्व बताते हुये यह भी स्पष्ट किया है कि अपनी सुख-सुविधा तथा शरीर की शाता के लिये इन जीवों का आरम्भ-समारम्भ तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छेदन-भेदन करने वाला मोक्षार्थी निश्चित रूप से इन पापकारी कार्यों से कर्मबन्धन द्वारा अपने लिए या तो नरक का पाथेय तैयार करता है या गर्भ में ही मर जाता है अथवा स्पष्ट बोलने की उम्र आने तक या आने से पहले ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। कोई कुमार अवस्था में तो कोई यौवन की दहलीज पर चढ़कर ही चल बसता है। अत: मनुष्य भव की दुर्लभता जानकर बोध को प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि यह संसार ज्वरपीड़ितवत् एकान्त दु:खी है।

आगे की गाथाओं में मोक्षवादी कुशीलों के मत एवं उनका खण्डन करते हुये सुसाधु की चर्या का निरूपण किया गया है।

शास्त्रकार स्वयूथिक, आचारभ्रष्ट कुशील साधुओं के शिथिलाचार का निरूपण करते हुए कहते है, जो साधु गृद्ध, दीन-हीन बनकर घरों में जाता है, भाट-चारण की तरह मुखमांगलिक (स्तुति, प्रशस्ति करने वाला) बनकर लोगों को प्रसन्न करता है, वह उदरंभरी साधु विशालकाय सुअर की तरह शीघ्र विनाश को प्राप्त होता है। तथा जो माता-पिता, पुत्र, पशु आदि को छोड़कर स्वादिष्ट भोजन की लालसा में घरों की ओर दौड़ता है, औद्देशिक आदि दोष सहित आहार का भी संचय करके खाता है, कंदमूल तथा हरित आदि सचित्त का भक्षण करता है, अचित्त जल से स्नान तथा अंगविभूषा करता है, वह साधु (नामधारी) सर्वज्ञ वचनानुसार श्रामण्य गुणों से कोसों दूर है। अत: सुशील साधु अज्ञातपिण्ड से अपना निर्वाह करता हुआ मानापमान से पार, पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा न करे।

प्रस्तुत अध्याय में 'लसूणं' शब्द का प्रयोग हुआ है। वृत्तिकार[7] यहाँ स्पष्ट कहते है कि जो मद्य-माँस व लहसून खाकर के मोक्ष की परिकल्पना करते है, वे मूढ सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र रूप मोक्ष के तथाविध अनुष्ठान के असद्भाव से चातुर्गतिक संसार में ही भ्रमण करते है।

शास्त्रकार अध्ययन का उपसंहार करते हुये कहते है कि सुशील साधु पूर्वोक्त कुमतों एवं कदाग्रहों में न फँसता हुआ, मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श में राग-द्वेष बुद्धि से मुक्त होकर दु:खों की तितिक्षा करे, क्योंकि ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र में पूर्णत: जागृत, निर्भय तथा अप्रतिबद्ध विहारी साधु कर्मशत्रु का उसी प्रकार दमन करता है, जिस प्रकार सुभटपुरुष युद्ध मैदान में शत्रु का दमन करता है।

वह कर्म संहारक मुनि जन्म, जरा, मरण, उपाधि रूप संसार के चक्र को उसी प्रकार रोक देता है, जैसे गाड़ी की धुरा (अक्ष) टूट जाने पर गाड़ी रूक जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 86-87*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 153
2. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 88-89*
3. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 154*
4. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 90*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 154
5. *(अ) सूत्रकृतांग सूत्र - 1/7/1-4*
   (ब) दसवेआलियं, 4/9 टि. 22-29
6. *सूत्रकृतांग सूत्र - 1/7/5-7*
7. *(अ) सूत्रकृतांग सूत्र - 1/7/13*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 160 : तथा ते मूढाः मद्यमांसं लशुनादिकं च भुक्त्वा अन्यत्र 'मोक्षादन्यत्र' संसारे वासम् परिकल्पयन्ति।

8. वीर्य अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के अष्टम अध्ययन का नाम 'वीर्य' है। 'वीर्य' के अनेक पर्यायवाची शब्द है, जैसे - बल, पराक्रम, शक्ति, सामर्थ्य, शक्ति, आत्मबल, तेज तथा शरीर में स्थित एक प्रकार का धातु आदि।[1] इस अध्ययन के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें सभी प्रकार केवीर्य अर्थात् पराक्रम या बल का वर्णन है।

चेतन तथा अचेतन, वीर्यवान होते है, परंतु द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के आधार पर उनमें शक्तियां अभियक्त होती हैं, या न्यूनाधिक होती हैं।

निर्युक्तिकार[2] ने वीर्य शब्द के 6 निक्षेप किये है - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव। नाम, स्थापना सहजगम्य है। द्रव्य वीर्य के भी तीन भेद है - सचित्त द्रव्य वीर्य, अचित्त द्रव्य वीर्य तथा मिश्र द्रव्य वीर्य। सचित्त द्रव्य वीर्य के पुन: तीन भेद है -

अ. द्विपद - तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि का बल।
ब. चतुष्पद - अश्वरत्न, हस्तिरत्न, आदि का बल।
स. अपद - गोशीर्षचन्दनादि का शीत-उष्णकाल में उष्ण-शीतवीर्य परिणाम।

अचित्त द्रव्य वीर्य भी तीन प्रकार का है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अ. आहार - दूधादि, जिससे शरीर में स्फूर्ति तथा शक्ति का संचार होता है।

ब. आवरण - कवच, ढाल आदि शस्त्रों के प्रहार को झेलने की शक्ति आवरण वीर्य है।

स. प्रावरण - शस्त्रास्त्रों की प्रहार शक्ति प्रावरण वीर्य है।

4. क्षेत्र वीर्य - जिस क्षेत्र में जो वीर्य है, जैसे- देवकुरू आदि क्षेत्रों में समस्त पदार्थ उस क्षेत्र के प्रभाव से उत्तम वीर्यवान होते है। अत: वह क्षेत्र वीर्य है। या जिस क्षेत्र का जो वीर्य है, वह भी क्षेत्रवीर्य है।

5. काल वीर्य - एकान्त सुषमा नामक प्रथम आरा कालवीर्य है। अथवा जिस-2 काल में जो-जो वस्तु वीर्य को बढ़ाती है, वह कालवीर्य है।

6. भाव वीर्य - *शक्ति युक्त जीव की वीर्य के विषय में अनेक लब्धियाँ है, जैसे- छाती का वीर्य, इन्द्रिय वीर्य, शरीर वीर्य, आध्यात्मिक वीर्य* आदि अनेक प्रकार का वीर्य होता है। मनोवर्गणा के पुद्गलों को मन रूप में, भाषा के पुद्गलों को भाषा रूप में, काययोग्य पुद्गलों को काया के रूप में, श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करना क्रमश: मनोवीर्य, वाग्वीर्य, कायवीर्य, श्वासोच्छ्वास वीर्य कहलाता है। इन सभी के सम्भव व सम्भाव्य ये दो भेद होते है।

निर्युक्तिकार[3] ने आध्यात्मिक वीर्य के 10 प्रकार बताए है -

1. उद्यम - ज्ञानोपार्जन, तपश्चरण आदि में उत्साह।
2. धृति - संयम में स्थिर बुद्धि।
3. धीरत्व - परिषहों तथा उपसर्गों में अचल, अक्षोभ रहना।
4. शौण्डिर्य - त्याग करने का उत्कट सामर्थ्य। जैसे- चक्रवर्ती का मन अपने षट्खण्ड राज्य को छोड़ते समय भी कम्पित नहीं होता। आपदाओं में अविषण्णता।
5. क्षमावीर्य - अन्यों के आक्रोशपूर्ण व्यवहार से जरा भी क्षोभित न होना।
6. गाम्भीर्य - परीषह तथा उपसर्गों से न दबना।
7. उपयोगवीर्य - आठ प्रकार के साकारोपयोग तथा आठ प्रकार के अनाकारोपयोग से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप विषयों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानना।

8. योगवीर्य - मन, वचन, काया के व्यापार को प्रशस्त प्रवृत्ति में लगाना।

9. तपोवीर्य - 12 प्रकार के तप में पराक्रम करना।

10. संयमवीर्य - 17 प्रकार के संयम पालन में उद्यत रहना।

ये सभी आध्यात्मिक भाववीर्य है। आध्यात्मिक भाववीर्य का तात्पर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति से उत्पन्न सात्विक बल है। वीर्यप्रवाद पूर्व, जो अनन्त अर्थ वाला है, उसमें वीर्य के अनन्त प्रकार बताये गये है।

पूर्वों में वर्णित ज्ञानराशि को उपमा द्वारा इस प्रकार समझाया गया है[4]

- सभी नदियों के बालु कणों की जो संख्या है, उससे भी बहुत अधिक अर्थ वाला होता है एक पूर्व।

सभी समुद्रों के पानी का जितना परिमाण होता है, उससे भी अधिक अर्थ वाला एक पूर्व होता है।

प्रस्तुत अध्ययन में उपरोक्त आध्यात्मिक भाववीर्य 3 प्रकार से विवक्षित है। पण्डितवीर्य, बालपण्डितवीर्य, बालवीर्य।

1. **पण्डितवीर्य** - सम्पूर्ण संयम का पालन करने वाला।

2. **बालपण्डित वीर्य** - व्रतधारी संयमासंयमी देशविरति श्रावक।

3. **बालवीर्य** - अज्ञानी तपस्वी। इन तीनों को सम्यक्तया जानकर साधु को पण्डितवीर्य में पुरुषार्थ करना चाहिये।[5]

इस अध्ययन में एक ही उद्देशक है, जो 27 गाथाओं में निबद्ध है। परन्तु चूर्णि में 19वीं गाथा अधिक है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही जम्बू स्वामी के पूछने पर सुधर्म गणधर वीर्य के स्वरूप और प्रकार बताते हुए कहते है कि लोक में अकर्म तथा कर्म ये दो ही वीर्य के भेद है। कर्म का अर्थ यहाँ प्रमाद के रूप में विवक्षित है। जो अप्रमादी तथा संयम परायण है, वे अकर्म यानि पण्डितवीर्य है। जो प्रमादी एवं असंयमी है, वे कर्मवीर्य या बालवीर्य कहलाते है।

यहाँ बालवीर्य की विशेष व्याख्या करते हुए सूत्रकार कहते है कि कुछ लोग प्राणियों का वध करने के लिये धनुर्विद्या आदि सीखते है, तो कुछ मंत्रविद्या भी पढ़ते है। असंयमी व्यक्तियों के ये पराक्रम कर्मवीर्य या बालवीर्य है। क्योंकि ये प्राणी घातक, प्राणी पीड़ादायक, कषायवर्धक, शत्रु परम्परा के सर्जक तथा राग-द्वेषवर्धक है, जो अन्त में अनन्त दुःख का स्पर्श कराने वाले है।

प्रसंगवश यहाँ 'सत्थं' शब्द के निर्युक्तिकार तथा वृत्तिकार ने दो अर्थ किये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है 1. **शस्त्र**- जिससे प्राणियों का वध किया जाता है, जैसे- तलवार आदि। **शास्त्र**- जिनसे प्राणी घातक विद्या सीखी जाती है, जैसे- धनुर्वेद से धनुष चलाना, आयुर्वेद-कतिपय रोग निवारणार्थ प्राणियों के रक्त, चर्बी आदि का प्रयोग जिसमें किया जाये। इसी प्रकार अर्थ, नीति तथा कामशास्त्र के आश्रय से अज्ञजन पापकर्म में दक्ष होकर तीव्र पाप का बंध करते है।[6]

इसी प्रकार पंडित (अकर्म) वीर्य का विवेचन करते हुये कहा गया है कि पण्डित अकर्मवीर्य सम्पन्न पुरुष सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र को ग्रहण करके सदैव उसी में उद्यम करता है। चूँकि समस्त उच्चपद यथा-देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि अपने स्थानों को छोड़कर आयुक्षय होते ही मरण को प्राप्त होते है। अत: वह साधक संसार को अनित्य, अनियत मानता हुआ अनित्य, अशरणादि की अनुप्रेक्षा करता है। अपनी सन्मति से धर्म के सार को ग्रहण कर कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय होता हुआ समस्त पापों से विरत हो जाता है। कषायमुक्त, निस्पृह, त्रियोग-त्रिकरण से हिंसा से विरत, पूर्ण नि:संग होकर अपने लक्ष्य की ओर पराक्रम करता है।

संक्षेप में जो जीव अबुद्ध है, उनका अशुद्ध पराक्रम बालवीर्य है तथा जो संबुद्ध है, उनका पराक्रम पण्डितवीर्य है। अत: बालवीर्य जहाँ संसार बढ़ाता है, वहीं पण्डितवीर्य अन्त में निर्वाण सुख को उपलब्ध होता है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *पाइअसद्दमहण्णवो - पृ. - 184*
2. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 91-95*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 165-166
3. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 96*
4. *(अ) सूत्रकृतांग चूर्णि - पृ. - 165*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 167
5. *वही, गा. 97*
6. *(अ) वही, गा. 98*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 169

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

9. धर्म अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के नवम अध्ययन का नाम 'धर्म' है। यों तो धर्म का प्रसिद्ध अर्थ शुभ अनुष्ठान है, परन्तु कोष में धर्म के कई अर्थ बताये गये है- शुभकर्म, कर्तव्य, कुशल अनुष्ठान, सुकृत, पुण्य, सदाचार, स्वभाव, गुण, पर्याय, धर्मास्तिकाय, द्रव्य, मर्यादा, रीति, व्यवहार आदि।[1]

पूर्व अध्ययन में बालवीर्य तथा पण्डितवीर्य का वर्णन किया गया। पण्डितवीर्य वही साधक है, जो धर्माचरण में पुरुषार्थ करता है। इस प्रकार यहाँ पूर्वापर सम्बन्ध है।

निर्युक्तिकार के कथनानुसार इस अध्ययन में भावधर्म का अधिकार है। जो दुर्गति में जाते हुये जीव को बचाता है, वह धर्म है। दशवैकालिक सूत्र में भी इसी धर्म का प्रतिपादन किया गया है। यही भावसमाधि है और यही भावमार्ग है। भावधर्म के दो भेद है- श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्म। दशविध चारित्रधर्म ही भावधर्म है। इन गुणों की हृदय में सम्यक् स्थापना भावसमाधि है तथा सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मुक्तिमार्ग ही भाव मार्ग है।[2]

धर्म के नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव चार निक्षेप होते है।[3] नाम तथा स्थापना सुगम है। द्रव्य धर्म तीन प्रकार का है -

(अ) सचित्त द्रव्यधर्म - सचित्त अर्थात् चेतना का धर्म उपयोग रूप है।

(ब) अचित्त द्रव्यधर्म - धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का अपना-अपना स्वभाव।

(स) मिश्र द्रव्यधर्म - दूध और जल आदि का अपना जो स्वभाव है।

भावधर्म दो प्रकार का है - लौकिक तथा लोकोत्तर। पुन: लौकिक धर्म दो प्रकार का है, एक गृहस्थों का तथा दूसरा पाषण्डियों का।

लोकोत्तर धर्म ज्ञान, दर्शन, चारित्र के भेद से तीन प्रकार का है। मत्यादि की अपेक्षा से ज्ञान पाँच प्रकार का है। औपशमिकादि पाँचभेद वाला दर्शन है। तथा सामायिकादि भेद से चारित्र के भी पाँच प्रकार है।

प्रस्तुत अध्ययन में एक ही उद्देशक है, जिसमें 36 गाथाएँ निबद्ध है। इसमें ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र युक्त साधुओं के लिए भावधर्म का कथन करते हुये कहते है कि प्रज्ञावान् साधु षट्जीवनिकाय के जीवों की अहिंसा करे, निरवद्य वचन, अचौर्य, ब्रह्म, तथा अपरिग्रह इन पंच महाव्रतों का विशुद्ध पालन करे, चारों कषायों का त्याग करे।

शरीर सज्जा के लिये हाथ-पैर प्रक्षालन, वस्त्रादि रंजन, विरेचन, वमन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंजन, शृंगार, दन्त प्रक्षालन, गन्ध, माल्य, स्नान आदि को कर्मबंध का कारण जानकर त्याग करे। साधु औद्देशिक, क्रीत (खरीदा हुआ), प्रामित्य (उधार लिया हुआ), आहृत (सामने लाया हुआ), पूति कर्म (आधाकर्मी आहार से मिश्रित), तथा अनैषणीय आहार को संयम का विघातक मानकर उसका भक्षण न करे।

असंयमियों से अति संसर्ग, सांसारिक वार्तालाप, ज्योतिष सम्बन्धी प्रश्नोत्तर, जुआ- शतरंज आदि खेलना, जूते-छाते धारण करना, पँखे से हवा झलना आदि को संसार वृद्धि का कारण जानकर सुसंयत साधु इन दोषों में उलझकर संयम को दूषित न करे तथा गृहस्थ से कुशल पृच्छा भी न करे।

इस अध्ययन में मूलगुण तथा उत्तरगुणों के पश्चात् भाषा समिति तथा वचन समिति के सूत्रों का उल्लेख है। साधु जहाँ आवश्यकता हो, वहीं निर्दोष और निरवद्य वचन बोले। मर्मस्पर्शी, तुच्छ, अप्रिय सम्बोधनवाली, जीव विघातिनी, अमनोज्ञ सत्य भाषा का प्रयोग न करे। रत्नाधिक साधु के बोलने पर अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करने हेतु बीच-2 में न बोले। इस प्रकार जो साधु अपनी सुमति से प्रेक्षा करने के पश्चात् वचनोच्चार करता है, वह 'भासमाणो न भासेज्जा' अर्थात् बोलता हुआ भी मौन ही है अर्थात् वचन गुप्ति से युक्त है। इस प्रकार महामुनि, अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी भगवान महावीर ने अपने अनुभव से इस आचार शास्त्र रूप लोकोत्तर धर्म का प्रतिपादन किया है।

इस अध्ययन में चूर्णि की वाचना के अनुसार 37 गाथाएँ है जबकि वृत्ति के अनुसार गाथाओं की संख्या 36 ही है। चूर्णि तथा वृत्ति की दृष्टि से गाथाओं की वाचना में भी काफी भेद है।

संक्षेप में यह अध्ययन साधु को अनाचरणीय प्रवृत्तियों तथा दूषणों का त्यागकर संयम को भूषित करने वाले भावधर्म का सम्यक्तया पालन करने का सन्देश देता है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *पाईअसद्दमहण्णवो - पृ. - 485*
2. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 99*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 176
3. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 100/101*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 176-177

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. समाधि अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के दशम अध्ययन का नाम समाधि है। 'समाधि' शब्द चित्त की स्वस्थता, सात्विक सुख-शान्ति, सन्तुष्टि, मनोदशा का अभाव, आनन्द, प्रमोद, शुभध्यान, चित्त की एकाग्रता रूप ध्यानावस्था, समता, रागादि से निवृत्ति, आत्मप्रसन्नता आदि अर्थों में प्रयुक्त है।[1]

वृत्तिकार ने समाधि की परिभाषा इस प्रकार की है - जिस धर्म, ध्यान, श्रुत, आचार आदि की साधना द्वारा आत्मा को मोक्षमार्ग में सम्यक्तया प्रस्थापित या व्यवस्थापित किया जाता है, वह समाधि है।[2]

पूर्वोक्त 'धर्म' की साधना तभी की जा सकती है, जब आत्मा में प्रसन्नता तथा चित्त में अविकल समाधि हो। इसी कारण धर्म के पश्चात् प्रस्तुत अध्ययन में समाधि का अधिकार विवक्षित किया गया है।

1. **नाम समाधि**- किसी का नाम समाधि रखना, नाम समाधि है।

2. **स्थापना समाधि**- किसी वस्तु में समाधि स्थापना करना, स्थापना समाधि है।

3. **द्रव्य समाधि**- चार प्रकार की है -

(अ) पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में होनेवाली तुष्टि।

(ब) परस्पर अविरोधी दो द्रव्यों या अनेक द्रव्यों के सम्मिश्रण से रसोपघात (विकृत) न होकर जो रसपुष्टि होती है।

(स) जिस द्रव्य के खाने या पीने से जो समाधि होती है।

(द) तुला पर रखे गये द्रव्य से पलड़ा जब समानता को प्राप्त हो।

इन चारों प्रकारों से द्रव्य समाधि होती है।

4. **क्षेत्र समाधि** - क्षेत्र की प्रधानता से अथवा जिस क्षेत्र में रहने से जीव को समाधि प्राप्त हो, वह क्षेत्र समाधि है।

5. **काल समाधि** - जिस काल में जिस जीव को समाधि हो, वह उसके लिये काल समाधि है। जैसे - शरद् ऋतु में गाय, रात्रि में उल्लू तथा दिन में कौए को समाधि का अनुभव होता है।

6. **भावसमाधि** - भावसमाधि दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप के भेद से चार प्रकार की है। जिसने सम्यक् चारित्र में अपने आपको पूर्णतया स्थापित कर दिया है, वह चारों भाव समाधियों से युक्त समाहितात्मा कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान समाधि के कारण साधक ज्यों-ज्यों नये श्रुत और शास्त्र का अवगाहन करता है, त्यों-त्यों श्रद्धा से परम आल्हादित होता हुआ वह ज्ञान रूप भावसमाधि में स्थितप्रज्ञ हो जाता है। जो साधक दर्शन समाधि में स्थित है, वह जिन वचनों से आप्लावित, भावित अन्त:करण वाला निर्वात स्थान में स्थित दीपक के समान कुबुद्धि रूपी वायु से भ्रमित नहीं होता।

चारित्र समाधि में स्थित मुनि विषयसुख से निस्पृह होने से निष्किंचन भाव से परमसमाधि को उपलब्ध होता है। इसी प्रकार उत्कृष्ट तप से मुनि को न ग्लानि होती है, न क्षुधा, तृषा आदि परीषह उद्विग्न करते है। इस प्रकार इन चतुर्विध समाधि से युक्त मुनि सम्यक् चारित्र में स्थित होता है।

दशवैकालिक सूत्र में विनय समाधि, श्रुत समाधि, तप: समाधि और आचार समाधि- इन चतुर्विध समाधियों का वर्णन है।[4]

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *पाइअसद्दमहण्णवो पृ. - 870*
2. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 186*
3. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 103-106*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 186-187
4. *दशवैकालिक सूत्र., 9/4*

11. मार्ग अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के एकादश अध्ययन का नाम 'मार्ग' है। मार्ग शब्द का सामान्य अर्थ पथ अथवा रास्ता है। परन्तु इस अध्ययन में उस मार्ग की विवक्षा की गयी है, जिस पर गतिमान् होकर साधक मोक्षरूपी मंजिल को प्राप्त करता है।

निर्युक्तिकार ने[1] मार्ग शब्द के 6 निक्षेप किये है - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव।

नाम - स्थापना सुगम है। द्रव्य मार्ग के चौदह प्रकार है -

1. फलक मार्ग - तख्ते बिछाकर बनाया हुआ रास्ता।
2. लता मार्ग - बेल की तरह पकड़कर पार किया जाने वाला रास्ता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. आन्दोलन मार्ग - जिसे झूले में बैठकर पार किया जाये। व्यक्ति झुले के सहारे एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ पर पहुँच जाता।

4. वेत्र मार्ग - बेंत की लता को पकड़कर पार किया जाने वाला नदी मार्ग।

5. रज्जु मार्ग - रस्सी के सहारे एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने का मार्ग।

6. दवन मार्ग - दवन अर्थात् वाहन। उनके आने-जाने का मार्ग।

7. बिल मार्ग - गुफा के आकार वाले मार्ग।

8. पाश मार्ग - जिसमें व्यक्ति अपनी कमर को रज्जु से बाँधकर रज्जु के सहारे आगे बढ़ता। स्वर्ण की खदान में रज्जु के सहारे ही उतरता और पुनः बाहर आता।

9. कीलक मार्ग - जहाँ स्थान-2 पर खम्भे बनाये जाते और पथिक उन्हीं के सहारे आगे बढ़ता।

10. अजा मार्ग - जिसमें से केवल बकरी निकल सके, इतनी संकरी पगडंडी।

11. पक्षिपथ - आकाश मार्ग जिससे भारण्ड आदि विशालकाय पक्षियों के सहारे इस मार्ग का यातायात होता था।

12. छत्र मार्ग - जहाँ छत्र के बिना आना-जाना निरापद न हो।

13. जल मार्ग - नौका, जहाज आदि से यातायात करने का मार्ग।

14. आकाश मार्ग - देवपथ, जो चारणलब्धि सम्पन्न मुनियों, विद्याधरों तथा मंत्रविदों के आने-जाने का मार्ग हो।

ये सभी द्रव्यमार्ग है।

क्षेत्रमार्ग - जिस क्षेत्र में जो मार्ग है, वह क्षेत्रमार्ग है।

कालमार्ग - जिस काल में जो मार्ग है, वह कालमार्ग है।

भाव मार्ग - जिससे आत्मा को समाधि तथा शान्ति मिले, वह भाव मार्ग है। भावमार्ग प्रशस्त तथा अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का है। ये दोनों ही पुनः तीन-तीन भेद वाले है। सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप भावमार्ग प्रशस्त है। मिथ्यात्व-अविरति-अज्ञान रूप भावमार्ग अप्रशस्त है। प्रशस्त भावमार्ग सुगति फलप्रदायक है, जबकि अप्रशस्त भावमार्ग दुर्गति फल का देने वाला है।[2]

प्रस्तुत अध्ययन में सुगतिदायक प्रशस्त भावमार्ग का ही निरूपण है। दुर्गति फलदायक अप्रशस्त भावमार्ग की प्ररूपणा करने वाले 363 प्रावादुकों (पाखण्डी)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का वर्णन बारहवें समवसरण अध्ययन में किया जायेगा।

निर्युक्तिकार ने[3] द्रव्यमार्ग के चार अन्य विकल्प प्रस्तुत किये है।

1. **क्षेम-क्षेम रूप** - सिंह, चोर आदि के उपद्रव से रहित तथा वृक्षादि से आच्छन्न।
2. **क्षेम-अक्षेम रूप** - उपरोक्त उपद्रवों से रहित परन्तु पथरीला, कण्टकाकीर्ण मार्ग।
3. **अक्षेम-क्षेम रूप** - उपरोक्त उपद्रव से व्याप्त परन्तु जलाशय, फल-फूल-छाया से युक्त।
4. **अक्षेम-अक्षेम रूप** - सिंहादि उपद्रव से युक्त तथा पथरीला और उबड़-खाबड़ मार्ग।

भावमार्ग के भी चार विकल्प होते है। ये चारों भंग साधक की दृष्टि से घटित होते है-

1. **क्षेम-क्षेम रूप** - जो साधक (आन्तरिक) संयम के गुण तथा ज्ञानादि से युक्त है तथा (बाह्य) द्रव्य लिंग से भी युक्त है।
2. **क्षेम-अक्षेम रूप** - जो साधक संयमी गुणों से तो युक्त है पर द्रव्यलिंग से रहित है।
3. **अक्षेम-क्षेम रूप** - जो साधक ज्ञान तथा संयम गुणों से अयुक्त है पर द्रव्यलिंग सहित है - जैसे निह्नव।
4. **अक्षेम-अक्षेम रूप** - परतीर्थिक तथा गृहस्थ।

प्रथम विकल्प रूप प्रशस्त भावमार्ग ही साधक के लिये उपादेय है। यह प्रशस्त मार्ग चूँकि तीर्थंकरों, गणधरों द्वारा प्रणीत एवं यथार्थ वस्तु स्वरूप का प्रतिपादक है, अत: यही सत्य या सम्यग्मार्ग है। इसके विपरीत चरक, परिव्राजकों द्वारा आचीर्ण मार्ग अज्ञानमूलक होने से मिथ्या एवं अप्रशस्त है। इसी प्रकार षट्जीवनिकाय का घात करने वाला, ऋद्धि, रस तथा शाता रूप गारवत्रय का सेवन करने वाला, आधाकर्मी आहारभोजी, स्वयूथिक, पार्श्वस्थ साधु भी कुमार्ग पर ही है। परन्तु जो द्वादशविध तप, सत्रहविध संयम, अष्टादशसहस्र शील के भेद तथा नवतत्त्व से युक्त है, वह मार्ग मंगलकारी, क्षेमकारी, आत्महितकारी होने से प्रशस्त भावमार्ग है।

निर्युक्तिकार ने[4] इस प्रशस्त भावमार्ग के एकार्थक 13 शब्दों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है - पंथ, मार्ग, न्याय, विधि, धृति, सुगति, हित, सुख,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पथ्य, श्रेय, निवृत्ति, निर्वाण तथा शिवकर।

प्रस्तुत अध्ययन उद्देशक रहित 38 गाथाओं में निबद्ध है।

प्रारम्भ में साधक द्वारा यह पूछा गया है कि कौन-सा मार्ग सत्य तथा श्रेष्ठ है ? सूत्रकार साधक की जिज्ञासा को समाहित करते हुये कहते है- जो षट्जीवनिकाय की अहिंसा से युक्त है, वही मार्ग श्रेष्ठ और सुखकारी है। क्योंकि जगत के समस्त जीव इस षट्जीव निकाय में समाहित हो जाते है। इन समस्त प्राणियों को, चाहे वे सूक्ष्म हो या बादर, चर हो या अचर हो, लघुकाय हो या विशालकाय, 'सव्वे अकंतदुक्खा य' सभी को दु:ख अकान्त यानि अप्रिय है। अत: मोक्षाभिलाषी साधक को इन समस्त जीवों की हिंसा से विरत होना चाहिये। इसी के द्वारा परम शान्तिमय निर्वाण की प्राप्ति कही गयी है।[5]

सूत्रकार ने पिछले अध्ययनों में भी यही बात कही है। आचारांग के प्रथम शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में विस्तार से षट्जीवनिकाय की अहिंसा का प्रतिपादन है। इन जीवों की पुन:-2 अहिंसा का कथन इस बात पर बल देता है कि साधक के पंचमहाव्रतों में अहिंसा व्रत सर्वश्रेष्ठ है, पर इसलिये नहीं कि साधक को सर्वप्रथम अहिंसा महाव्रत धारण करवाया जाता है। बल्कि इसलिये कि अहिंसा ही अन्य महाव्रतों का प्राण है, आधार स्तंभ है। जहाँ अहिंसा महाव्रत रूपी नींव कमजोर हो जाती है, वहाँ अन्य चार महाव्रत रूपी स्तंभों पर टिका संयम रूपी भवन अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग रूपी हल्के से तूफान के आते ही चरमराकर ढह जाता है। अत: जहाँ अहिंसा है, वही सत्य है, अचौर्य है, ब्रह्म तथा अपरिग्रह है।

वर्तमान में चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत को श्रेष्ठ बताकर अन्य चार महाव्रतों को गौण तथा उपेक्षित किया जा रहा है, जो जैन समाज के लिये बहुत ही घातक सिद्ध हुआ है।

यदि एक महाव्रत की ही पालना श्रेष्ठ होती, तो श्रमण महावीर द्वारा पंचमहाव्रतों की स्थापना नहीं की जाती और न ही पाँचों के निरतिचार पालन की बात कही जाती। अत: जो साधक एक भी महाव्रत से च्युत है अथवा मात्र एक ही (चतुर्थ) महाव्रत से युक्त है, वह मोक्ष का पथिक नहीं कहा जा सकता। सर्वज्ञ महापुरुषों द्वारा सर्वत्र अहिंसा की पुनरूक्ति भी यही प्रमाणित करती है कि उन्होंने भविष्य के दोषों का साक्षात् दर्शन तथा आकलन करते हुये ही इस बात का प्रतिपादन किया होगा।

शास्त्रकार आगे की गाथाओं में भाषा समिति के कुछ सूत्रों का उल्लेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हुये कहते है कि श्रावक के स्वामित्व वाले स्थानों में ठहरा हुआ साधु श्रावकों के हिंसाजनित दानादि कार्यों की अनुमोदना न करे। जब किसी श्रद्धालु द्वारा शुभभावना से (सचित्त पदार्थों के आरम्भ-समारम्भ होने से) दानादि दिया जाता है, तो साधु उसे 'अत्थित्ति णो वए णत्थिति णो वए' पुण्य या पाप न कहे। क्योंकि यदि वह उसे पुण्य कहता है तो (आरम्भ-समारम्भ करते समय निष्पन्न हिंसा) प्राणीवध का अनुमोदन करता है और यदि वह उसे पाप कहता है, तो जिन्हें वह तथाविध (आरम्भ से बनाया गया) दान दिया जाता है, उनकी वृत्ति-छेदन द्वारा अन्तराय का भागी होता है। अत: मोक्षाभिलाषी साधक सर्वथा मौन या तटस्थ रहे।[6]

तात्पर्य यह है कि जिस दानादि शुभ क्रिया के पीछे किसी प्रकार की हिंसा न हो ऐसी अचित्त, आरम्भ रहित, अप्रासुक वस्तु का दान यदि शुभ भावों से भावित होकर कोई करता है, तो साधु उसे अवश्य पुण्य कह सकता है। प्राणियों की सुरक्षा के लिये अनुकम्पा बुद्धि से दिये जाने वाले दान का निषेध कदापि नहीं हो सकता।

भगवती सूत्र की टीका में भी यह स्पष्ट कहा है कि अनुकम्पा दान का निषेध तीर्थंकरों ने कदापि नहीं किया है।[7] इस कथन द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि साधु आरम्भ रहित अथवा निरवद्य दया का उपदेश या मार्गदर्शन कर सकता है।

आगे की गाथाओं में संयम, सदाचार, आहार शुद्धि की बात कही गयी है, जिसके आचरण द्वारा साधक भावमार्ग पर उत्तरोत्तर गतिमान रहता है। परन्तु जो दुर्बुद्धि व्यक्ति होते है, वे शुद्ध मार्ग की उपेक्षा करके उसी प्रकार महासमुद्र रूपी संसार में भटक जाते है, जिस प्रकार छिद्र वाली नाव पर सवार होकर जन्मान्ध पुरुष डूबता है।

इस प्रकार भगवान द्वारा प्रतिपादित ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तपरूप भावमार्ग में सुमेरुगिरीवत् निश्चल साधु ही अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 107*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 196
2. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 109-110*
3. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 111*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 115*
5. *सूत्रकृतांग सूत्र - 1/11/7-11*
6. *सूत्रकृतांग सूत्र - 1/11/16-21*
7. *भगवती सूत्र - 2108/उद्दे - 6/सू. 331 की टीका*

12. समवसरण अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के द्वादश अध्ययन का नाम समवसरण है। यहाँ समवसरण का अर्थ देवकृत समवसरण या समोसरण (तीर्थंकर की 12 पर्षदा रूप धर्मसभा) नहीं है।

समवसरण शब्द के पर्यायवाची कुछ शब्द है[1], जैसे - एकत्र, मिलन, मेला, समुदाय, साधु समुदाय, विशिष्ट अवसरों पर अनेक साधुओं के एकत्रित होने का स्थान, तीर्थंकर की परीषद, धर्म-विचार, आगम-विचार, आगमन आदि।

निर्युक्तिकार ने[2] समवसरण का अर्थ 'सम्यक् एकीभाव से एक जगह एकत्र होना' किया है। सम्मेलन, संगम अथवा मिलन होना समवसरण है। वृत्तिकार ने भी इसी अर्थ का समर्थन किया है। चूर्णिकार[3] के अनुसार जहाँ अनेक दृष्टियों या दर्शनों का मिलन होता है, उसे समवसरण कहते है।

समवसरण शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- सम् तथा अव् उपसर्ग पूर्वक सृ धातु को भाववाचक संज्ञा के लिये प्रयुक्त ल्युट् (अनट्) प्रत्यय लगने पर 'समवसरण' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है - सम्यक्तया एक स्थान पर एकत्र होना।

निर्युक्तिकार[4] ने समवसरण के भी नामादि 6 निक्षेप किये है। नाम, स्थापना सुगम हैं। द्रव्य समवसरण के सचित्त, अचित्त तथा मिश्र की अपेक्षा से तीन भेद है-

1. सचित्त-द्रव्यसमवसरण- इसके भी तीन भेद है - द्विपद, चतुष्पद और अपद। (अ) जहाँ तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा के प्रदेश विशेष में साधु आदि का मिलाप हो, वह (तीर्थ प्रदेश) द्विपद द्रव्य समवसरण है। (ब) जहाँ गाय आदि चतुष्पद प्राणी पानी-पीने के स्थान पर एकत्र होते हो, वह चतुष्पद द्रव्य समवसरण है।
   (स) अपद (वृक्षादि) का स्वत: समवसरण नहीं होता।
2. अचित्त-द्रव्यसमवसरण - लोहा, सूखी लकड़ी आदि अचित्त पदार्थों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का एकत्र होना या द्वयणुकों का सम्मिलन अचित्त द्रव्य समरवसरण है।

3. मिश्र-द्रव्यसमवसरण - सेनादि का एकत्र होना।

क्षेत्र-समवसरण- परमार्थत: नहीं होता है परन्तु विवक्षा से जहाँ पशुओं तथा मनुष्यों का मेला लगता है अथवा जहाँ समवसरण की व्याख्या की जाती है, वह क्षेत्रसमवसरण है।

काल-समवसरण - जिस काल में जो समवसरण होता है, वह कालसमवसरण समझना चाहिये।

भाव-समवसरण - जहाँ औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक तथा सन्निपातिक इन छ: भावों का संयोग होता है।

निर्युक्तिकार ने प्रकारान्तर से भी भावसमवसरण के भेदों का निरूपण किया है। 'जीवादि पदार्थ है' ऐसा मानने वाले क्रियावादी, इसके विपरीत 'जीवादि पदार्थ नहीं है' ऐसी मान्यता वाले अक्रियावादी, जो ज्ञान को नहीं मानते, वे अज्ञानवादी तथा विनय से ही मोक्ष की प्राप्ति मानने वाले विनयवादी- इन चारों वादों का भेद-प्रभेद सहित आक्षेप करके विक्षेप करना अर्थात् इनकी भूलों को निकालकर सुमार्ग का प्रतिष्ठापन करना भावसमवसरण है।[5]

प्रस्तुत अध्ययन में जीव, जगत तथा ईश्वर के सम्बन्ध में अपनी विभिन्न धारणाएँ स्थापित करने वाले समस्त दार्शनिक मतों को अपने में समाहित करने वाले उपरोक्त चार वादों का विस्तार से वर्णन है। समस्त दर्शनों की विभिन्न मान्यताएँ है तथा वे अपने-अपने मतानुसार आत्मादि पदार्थों की सिद्धि करते है। प्रस्तुत अध्ययन में उपरोक्त चार प्रकार के वर्गीकरण में उन्हें समाविष्ट करके चारों को ही मिथ्यादृष्टि तथा उनके मत को मिथ्यामत कहा गया है। क्योंकि ये सभी एकान्त रूप से वस्तु तत्त्व का निरूपण करते है, जो मताग्रह ही है।

क्रियावादी एकान्त रूप से जीवादि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते है कि जीवादि पदार्थ है ही। यहाँ 'ही' पर बल देकर जब जीव की एकान्त सत्ता को स्वीकार किया जाता है, तब उसके कथंचित् नास्तित्व का कथन नहीं किया जा सकता अर्थात् यही कहा जा सकता है कि वह सब प्रकार से है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी अपेक्षा से नहीं भी है। ऐसी स्थिति में जीव जैसे अपने स्वरूप से सत् है, उसी प्रकार दूसरे (घटपटादि) रूप से भी सत् होने लगेगा। ऐसा होने पर जगत के समस्त पदार्थ एक होने का दोष आ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़ेगा। उनमें कोई भेद न होने से सम्पूर्ण जगत अनेकरूप न होकर अभेद हो जायेगा। परन्तु ऐसा नहीं है। जगत के समस्त पदार्थ विभिन्न रूप में दिखायी देते है। अत: उनका कथन प्रत्यक्ष विरूद्ध होने से अभीष्ट नहीं है। क्योंकि यह एकान्तवाद है, इसलिये सूत्रकार ने इसे मिथ्यादर्शन कहा है।

इसी प्रकार जो अक्रियावादी है, वे 'जीवादि पदार्थ सर्वथा नहीं है' इस प्रकार की प्ररूपणा करते है। यह कथन भी चूँकि एकान्त है, अत: असत्य होने से मिथ्यादर्शन ही है। क्योंकि एकान्त रूप से जीव का निषेध किया जाय तो कोई निषेधकर्त्ता न होने से 'जीव नहीं है' ऐसा निषेध भी नहीं किया जा सकता। तब 'जीव नहीं है' इसके असिद्ध होने से समस्त पदार्थों का अस्तित्व स्वत: सिद्ध हो जाता है। क्रियावादी कर्मफल, आत्मा आदि मानते है, जबकि अक्रियावादी, आत्मा, कर्मफल आदि का अस्तित्व नहीं मानते।

ज्ञान को न मानने वाले अज्ञानवादी है। इनके अनुसार अज्ञान ही श्रेष्ठतम है। इस श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिये वे प्रमाण का सहारा लेते है। इस प्रकार स्वयं के मत का खुद ही खण्डन करते है।

केवल विनय को मानने वाले विनयवादी है। ये लोग किसी भी मत की निन्दा नहीं करते अपितु समस्त प्राणियों का विनयपूर्वक आदर करते है। विनयवादी गधे से लेकर गाय तक, चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक तथा समस्त जलजर, स्थलचर, खेचर प्राणियों को नमस्कार करते है। यही उनका विनयवाद है, जिसके द्वारा वे मोक्ष की प्राप्ति मानते है। परन्तु ज्ञान और क्रिया के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है, अत: यह भी अज्ञानपूर्ण होने से मिथ्या ही है।

यहाँ निर्युक्तिकार ने क्रियावाद के 180, अक्रियावाद के 84, अज्ञानवाद के 67 तथा विनयवाद के 32 भेदों का निर्देश मात्र किया गया है परन्तु वृत्तिकार ने इन भेदों की गणना प्रस्तुत की है, जो इस प्रकार है -[6]

1. क्रियावादियों के 180 भेद

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन नौ तत्त्वों के स्वत: तथा परत: की अपेक्षा से 18 भेद होते है। इन 18 भेदों के नित्य तथा अनित्य की अपेक्षा से छत्तीस भेद होते है। छत्तीस को काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा की अपेक्षा से वर्गीकृत करने पर (36X5) 180 भेद होते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. अक्रियावादियों के 84 भेद

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष के स्वत: और परत: की अपेक्षा से 14 भेद तथा इन्हें काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा की अपेक्षा से वर्गीकृत करने पर (14X6) 84 भेद होते है।

3. अज्ञानवादियों के 67 भेद

जीवादि नौ पदार्थों का सत्, असत्, सत्-असत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य, सदसदवक्तव्य इन सात पदों की अपेक्षा से विभाजन करने पर (9X7) 63 भेद होते है। शेष चार भेद इस प्रकार है - 1. सत् पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और जानने से लाभ है ? इसी प्रकार असत्, सदसत् तथा अव्यक्तव्य के सम्बन्ध में जानना चाहिये। इस प्रकार 63+4=67 भेद अज्ञानवादियों के है।

4. विनयवादियों के 32 भेद

देवता, राजा, यति, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता तथा पिता इन आठों में प्रत्येक का मन, वचन, काया और दान इन चारों अपेक्षा से विनय करना चाहिये। ये (8X4) 32 भेद विनयवादियों के है।

इस अध्ययन की उपयोगिता बताते हुये निर्युक्तिकार[12] तथा वृत्तिकार कहते है कि इस अध्ययन में पूर्वोक्त मतवादियों के द्वारा स्वेच्छा से स्वीकृत मतों का प्रतिपादन गणधरों ने इसलिये किया है कि उनके मत में जो सत्य तथ्य या परमार्थ है, उसका निर्णय हो सके। इसीलिये प्रस्तुत अध्ययन को समवसरण नाम से अभिहित किया गया है। इस समस्त वादों का समन्वयपूर्वक संगम ही इस अध्ययन का उद्देश्य है।

इन वादों में से क्रियावादी जीव को 180 भेदों द्वारा एकान्त रूप से सत् ही मानते है। तथा काल, स्वभाव आदि पाँचों वादी भी एकमात्र अपने-अपने काल आदि वाद को ही यथार्थ मानते है। इसलिये ये मिथ्यादृष्टि ही है। ये क्रियावादी यदि जीव को कथंचित रूप से सत् माने तथा काल आदि पाँचों कारणों को माननेवाले भी सिर्फ एक को न मानकर पाँचों कारणों को समवाय रूप माने तो ये सम्यग्दृष्टि कहे जा सकते है, क्योंकि एकान्तत: वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप का कथन नहीं हो सकता। यदि इन पाँचों वादों के समूहों को कारण रूप में माने तो ही वस्तु के सत्य स्वरूप का कथन सम्भव है और यही सम्यग्दर्शन है।

शेष तीनों वाद एकान्तवादी होने से मिथ्यादृष्टि है। परन्तु इन तीनों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी सापेक्ष रूप से स्वीकारना अर्थात् कथंचित अज्ञान, अक्रिया तथा विनय का अस्तित्व मानना सम्यक् है, परन्तु अन्य अपेक्षा से उनका नास्तित्व मानना उचित है। इस अनेकान्त दृष्टि से मानने पर ये तीनों वाद भी सम्यक् हो सकते है।[7]

प्रस्तुत अध्ययन उद्देशक रहित 22 गाथाओं में गुंफित है, जिसमें इन्हीं वादों की विवक्षा तथा समीक्षा की गयी है। इसका विस्तृत विश्लेषण आगे किया जायेगा।

इन चारों वादों का निरसन करते हुये शास्त्रकार ने अन्तिम गाथाओं में सम्यक् क्रियावाद की स्थापना की है, जो अनेकान्तवाद का ही स्वरूप है। इस प्रकार एकान्त आग्रह के खण्डन स्वरूप जो निष्कर्ष निकलता है, वही अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का सिद्धान्त है, वही जैन दर्शन का हार्द है।

उपान्त्य की गाथा द्वय में बताया गया है कि जो आत्मा तथा लोक को जानता है, जो जीवों की गति-आगति को जानता है, इसी प्रकार जो शाश्वत (मोक्ष) अशाश्वत (संसार) को एवं प्राणियों के नानाविध गतियों के गमन को जानता है, जो नरक की विविध प्रकार की पीड़ाओं को, आश्रव तथा संवर, निर्जरा एवं दु:ख को जानता है, वस्तुत: वही सम्यक् क्रियावादी क्रियावाद को सम्यक्तया बता सकता है। इन गाथाओं में नव तत्त्वों की भी प्ररूपणा की गयी है। जो नौ तत्त्वों को ठीक-ठीक जानता है, वही सम्यक्क्रियावादी है।

भगवती सूत्र के तीसवें शतक का नाम भी 'समवसरण' है। इसमें भी क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी तथा अज्ञानवादी की अपेक्षा से समस्त जीवों का विचार किया गया है। जो जीव शुक्ललेश्या वाले है, वे चार प्रकार के है। लेश्यारहित जीव केवल क्रियावादी है। कृष्णलेश्या वाले जीव क्रियावादी के अतिरिक्त तीनों प्रकार के है। नारकी चारों प्रकार के जीव है। पृथ्वीकायिक केवल अक्रियावादी तथा अज्ञानवादी है। इसी प्रकार समस्त एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय के विषय में समझना चाहिए। मनुष्य एवं देव चार प्रकार के है। ये चारों भवसिद्धिक है या अभवसिद्धिक, इसकी भी चर्चा की गयी है। इस शतक में ग्यारह उद्देशक है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *पाइअसद्दमहण्णवो - पृ. - 876*
2. *(अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 120*
   (ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 209

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. 256 : समवसरन्ति जेसु दरिसणाणि दिट्ठीओ वा ताणि समोसरणाणि - 1*
4. *(अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 116/117*
   (ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 207/208
5. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 18*
6. *(अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 119*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 209-210
7. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 121*

13. याथातथ्य अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के त्रयोदश अध्ययन का नाम 'याथातथ्य' है। याथातथ्य शब्द 'आहत्तहिय' का संस्कृत रूपान्तरण है, जिसका अर्थ है - यथार्थ, वास्तविक, परमार्थ, जैसा है वैसा। इस अध्ययन की प्रथम तथा अन्तिम गाथा में 'आहत्तहिय' शब्द का प्रयोग हुआ है।

यथातथा शब्द में भाव प्रत्यय लगकर याथातथ्य शब्द बनता है। निर्युक्तिकार[1] ने 'यथा' को छोड़कर 'तथा' शब्द का ही निक्षेप किया है। चूँकि जो यथातथ्य है, वही तथ्य है अथवा जो वस्तु का वास्तविक स्वरूप है, वही तथ्य है अथवा जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही कहना तथ्य है। याथातथ्य का भी यही अर्थ है। इस दृष्टि से तथ्य शब्द के चार निक्षेप होते हैं। नाम स्थापना सुगम है। सचित्तादि पदार्थों में जिस पदार्थ का जो स्वरूप है, वह द्रव्य तथ्य है, जैसे- उपयोग जीव का, कठिनता पृथ्वी का, द्रवत्व जल का लक्षण है। इसी प्रकार चन्दन कम्बल रत्नादि का जो स्वभाव है, उसे द्रव्य तथ्य कहते है।

भावतथ्य 6 प्रकार का है -

1. औदयिक - जो भाव कर्मों के उदय से उत्पन्न होता है, वह औदयिक भाव है। जैसे गति आदि का अनुभव करना औदयिक भाव है।
2. औपशमिक - जो भाव कर्मों के उपशम से उत्पन्न होता है, वह औपशमिक भाव है। जैसे कर्मों का अनुदय होना।
3. क्षायिक - जो भाव कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है।
4. क्षायोपाशमिक - जो भाव कर्मों के अंशत: क्षय तथा उपशम से उत्पन्न होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. पारिणामिक - जो भाव परिणाम से उत्पन्न होता है, जैसे जीवत्व, अजीवत्व, भव्यत्व आदि।

6. सन्निपातिक - उपरोक्त पाँचों भावों में से 2/3 आदि के संयोग से उत्पन्न भाव सान्निपातिक कहलाता है।

अथवा आत्मा के भीतर रहने वाला भावतथ्य चार प्रकार का है -

1. ज्ञानतथ्य - मत्यादि पाँच प्रकार से जो वस्तु जैसी है, उसे उसी तरह समझना।

2. दर्शनतथ्य - शंकादि अतिचारों से रहित जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा करना।

3. चारित्रतथ्य - बारह प्रकार के तप तथा सतरह प्रकार के संयम का सम्यक्तया पालन करना।

4. विनयतथ्य - ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा उपचार रूप से 42 प्रकार के विनय की यथायोग्य आराधना-साधना करना।

अथवा प्रशस्त एवं अप्रशस्त भेद से भावतथ्य दो प्रकार का है।

1. जैसा सूत्र, वैसा ही अर्थ और वैसा ही आचरण- यह प्रशस्त भावतथ्य है।

2. वैसा न हो तो वह अप्रशस्त भावतथ्य है।

प्रस्तुत अध्ययन में प्रशस्त भावतथ्य का अधिकार है।

निर्युक्तिकार[2] के अनुसार प्रशस्त भावतथ्य का अर्थ है - जिस पद्धति से सूत्र बनाये गये है, उनकी उसी तरह से व्याख्या करना तथा अनुष्ठान करना। अर्थात् जैसा सूत्र है, उसी प्रकार का आचरण हो। वही अनुष्ठान करने योग्य है, उसी को याथातथ्य कहते है। इसके विपरीत यदि सूत्र का अर्थ तथा व्याख्या समुचित न की जाये तथा तदनुसार आचरण न किया जाये अथवा उसे स्वमति से संसार का कारण मानकर निन्दा की जाये, तो वह याथातथ्य नहीं है। सुधर्मा स्वामी आदि आचार्यों की परम्परा से जिस सूत्र का सर्वज्ञ कथित जो अर्थ फलित होता है, उसे उसी स्वरूप में सरलता तथा जिज्ञासा वृत्ति से स्वीकारना याथातथ्य है, परन्तु इसके विपरीत परम्परागत सूत्र का विपरीत अर्थ कर अपने ज्ञानमद के द्वारा कुतर्क लगाकर कपोल कल्पित या विकृत अर्थ या व्याख्या करना अयाथातथ्य है।

प्रस्तुत अध्ययन में 23 गाथाएँ है, जिसमें साधुओं तथा कुसाधुओं के याथातथ्य का निरूपण करते हुये कहते है कि रात-दिन सम्यक् अनुष्ठानों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्यत श्रुतधर अथवा तीर्थंकरों से प्राप्त धर्म तथा समाधि का सेवन न करते हुए मिथ्यात्व के उदय से सर्वज्ञविरुद्ध प्रलाप करने वाले सर्वज्ञ पर श्रद्धा नहीं रखते, उनकी निन्दा करते है तथा अपने ही ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करते है, तो वे छेकवादी-पंडितमानी जमालि निह्नव की भाँति नष्ट हो जाते है, पथच्युत हो जाते है। वैसे व्यक्ति संयम और तप में पराक्रम करते हुए भी दु:खों से मुक्त नहीं हो सकते।

जो साधु भूल होने पर गुरु द्वारा शिक्षा पाकर अनुशासित होता हुआ अपनी चित्त वृत्ति को स्थिर रखता है, जो अपने गुरु के प्रति विनयादि गुणों से युक्त मृदुभाषी, सूक्ष्मदर्शी तथा पुरुषार्थशील है, वही उत्तमजाति से समन्वित तथा साध्वाचार में सहज, सरल भाव से प्रवृत्त होता है, और वही साधु सुशील है।

जो अपने आप को संयम तथा ज्ञान का धनी मानकर परीक्षण बिना ही अपनी बडाई हाँकता है, न्यायविरुद्ध वचन बोलता है, क्लेश तथा मिथ्याभाषण करता है, अपने गुरु के नाम को छिपाता है, वह कृतघ्नी, परदोषभाषी कुशील आदान रूप (मोक्ष) पदार्थ से अपने आप को वंचित रखता है।

आगे की गाथाओं में शास्त्रकार मद त्याग के विषय में कहते है कि जो साधु उत्कृष्ट त्याग, तप तथा संयम का पालन करता है किन्तु यदि जाति, ज्ञानादि मद से लिप्त है, तो उसका वह त्याग भी नि:सार तथा निरर्थक है।

जो भिक्षाजीवी साधु निष्किंचन है, भिक्षान्न से ही जीवनयापन करता है परन्तु यदि वह ऋद्धि आदि गारव करता है, अपनी स्तुति तथा प्रशंसा की झँखना रखता है, तो रुक्षजीविता, भिक्षाचारी, अकिंचनता आदि आजीविका के साधन मात्र है। अत: साधु प्रज्ञा, तप, जाति, कुल, बल आदि का मद न करे। जो इनसे मुक्त होता है, वही पण्डित है। नाम, गोत्रादि मद से रहित मुनि ही गोत्र, नामादि से पार सर्वोच्च मोक्षपद को प्राप्त करता है।

इस अध्ययन का उपसंहार करते हुये सुसाधु द्वारा याथातथ्य धर्मोपदेश रूप कुछ प्रेरणा सूत्रों का भी उल्लेख किया है।

साधु संसार भ्रमण के मूल कारण, मिथ्यात्व के उच्छेद तथा सम्यक्त्व प्राप्ति के उपाय बताएँ परन्तु यह उपदेश सत्कार, सम्मान, पूजा, प्रतिष्ठा की कामना से प्रेरित न हो। इस प्रकार याथातथ्य धर्म की प्ररूपणा करता हुआ, जीवन मरण की आकांक्षा से मुक्त, स्व-पर को भलीभाँति जानता हुआ साधक संयमाचरण में उद्यम करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 122/123*
2. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 124*

14. ग्रन्थ अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के चतुर्दश अध्ययन का नाम 'ग्रन्थ' है। इस अध्ययन का आदि पद भी 'गंथ' है। ग्रन्थ शब्द का सामान्य अर्थ- गाँठ, पुस्तक अथवा शास्त्र होता है। निर्युक्तिकार[1] ने ग्रन्थ शब्द का अर्थ बाह्याभ्यन्तर परिग्रह किया है। बाह्य ग्रन्थ के मुख्य दस प्रकार है - 1. क्षेत्र 2. वस्तु 3. धन-धान्य 4. ज्ञातिजन व मित्र 5. वाहन 6. शयन 7. आसन 8. दासीदास 9. स्वर्ण-रजत और 10. विविध सामग्री। इन दस प्रकार के बाह्य ग्रन्थों में मूर्च्छा रखना ही ग्रन्थ है। आभ्यन्तर ग्रन्थ के चौदह प्रकार है - 1. क्रोध 2. मान 3. माया 4. लोभ 5. स्नेह 6. द्वेष 7. मिथ्यात्व 8. कामाचार 9. संयम में अरूचि 10. असंयम में रूचि 11. विकारी हास्य 12. शोक 13. भय और 14. घृणा। जो इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों (परिग्रह) से रहित है, वही निर्ग्रन्थ है।

उत्तराध्ययन के क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय अध्ययन में भी यही बात कही गयी है।[2] जो दोनों ग्रन्थों से रहित है तथा संयम मार्ग की प्ररूपणा करने वाले आचारांग आदि ग्रन्थों का अध्ययन करते है, वे शिष्य कहलाते है। शिष्य दो प्रकार के होते है - 1. दीक्षा शिष्य 2. शिक्षा शिष्य। दीक्षा देकर बनाया गया शिष्य, दीक्षा शिष्य कहलाता है। तथा शिक्षा देकर बनाया गया शिष्य, शिक्षा शिष्य कहलाता है।[3]

शिष्य की तरह गुरु या आचार्य भी दो प्रकार के होते है - 1. दीक्षा गुरु 2. शिक्षा गुरु। दीक्षा देने वाला दीक्षा गुरु है तथा शिक्षा देने वाला शिक्षा गुरु है। शिक्षा लेने व उसके अनुसार आचरण करने की अपेक्षा से, इसी प्रकार मूलगुण तथा उत्तरगुण आसेवना के भेद से भी शिष्य के दो अथवा अनेक भेद होते है। ऐसे ही शिक्षा गुरु के भी जानना चाहिये।

प्रस्तुत अध्ययन में 27 गाथाएँ है, जिनमें शैक्षक (शिक्षा शिष्य) तथा शिक्षक (शिक्षा गुरू) कौन होने चाहिये, उनकी प्रवृत्ति कैसी होनी चाहिये, उनके क्या-क्या कर्त्तव्य है, आदि की विवक्षा की गयी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रकार अध्ययन के प्रारम्भ में साधक के लिये गुरुकुलवास या गुरुसन्निधि का महत्त्व बताते हुये कहते है कि ग्रन्थ (बाह्याभ्यन्तर परिग्रह) त्यागी मुनि गुरु द्वारा अनुशासित होता हुआ ग्रहण तथा आसेवन दोनों शिक्षा का अभ्यास करे।

ग्रहण अर्थात् शास्त्रों का अध्ययन करना एवं तदनुरूप आचरण करना आसेवन है।

गुरुकुलवास न करने वाला अपरिपक्व साधक उसी प्रकार संयम से च्युत होकर दु:ख पाता है, जैसे पक्षी का नवजात बच्चा उड़ने में असमर्थ होने से दंक आदि माँसाहारी पक्षियों द्वारा मार दिया जाता है। अत: आशुप्रज्ञ साधक स्वच्छन्द आचरण तथा एकाकी विचरण न करे।

गीतार्थ गुरु की निश्रा में रहने वाला, गुरु के आदेश-निर्देश में अनुरक्त, सावद्य अनुष्ठानों से विरत, संयम तथा विनय पालन में उद्यत मुनि विषय-कषाय रूप रोगों से उसी प्रकार स्वस्थ (आत्मस्थ) हो जाता है, जैसे - रूग्ण, व्याधिग्रस्त व्यक्ति वैद्य की देख-रेख में औषध तथा पथ्यग्रहण द्वारा स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करता है। अत: साधु अनेक गुणवर्धक गुरुकुल वास में समाधि प्राप्त करे।

गुरु द्वारा अनुशासित शिष्य पंच महाव्रत, पंच समितियों और तीन गुप्तियों के पालन में परिपक्व तथा अनुभवी होकर अन्यों को भी पालन का उपदेश देता है।

इन गाथाओं के क्रम में यह भी बताया गया है कि वह किस प्रकार शिक्षा ग्रहण करे। गुरुकुलवासी मुनि निद्रा, प्रमाद न करे। प्रमादवश संयम में स्खलना हुई हो और अन्य लघु, वृद्ध या समवयस्क द्वारा वह भूल बतायी जाये तो उन पर वह क्रुद्ध न हो बल्कि अपनी त्रुटि को सुधारने का प्रयास करे तथा उनकी शिक्षा को उत्थान का पाथेय समझकर, उनको उपकारी मानकर उनका आदर-सत्कार करे। ज्ञानोपदेष्टा आचार्य की सेवाभक्ति करे। प्राणियों की हिंसा न करे। प्रत्येक प्रवृत्ति उपयोग एवं जयणापूर्वक सम्पादित करे। इस प्रकार समिति तथा गुप्ति में स्थित, समाधि प्राप्त साधक को शान्ति तथा समस्त कर्मक्षय रूप लाभ प्राप्त होता है। उसके जीवन का सर्वांगीण विकास भी यहीं होता है।

अध्ययन समाप्ति के दौर में शास्त्रकार गुरुकुलवासी साधु द्वारा भाषा प्रयोग के विधि निषेध सूत्रों का कथन करते हुये कहते है कि साधु स्वयं की योग्यता, परिषद् तथा विषय को भलीभाँति जानकर ऐसा उपदेश दे, जिससे स्व-पर को कर्मपाश से मुक्त कर सके, किसी भी प्रश्न का चिन्तन तथा पर्यालोचनपूर्वक, सर्वज्ञ के वचनों से अविरुद्ध, संगत उत्तर दे। प्रश्नकर्ता को समाहित करते समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्र, गुरु या गुणी के गुण को न छिपाये। अपनी बुद्धि पर तनिक भी अहंकार न करे, न किसी को आशीर्वादात्मक वचन कहे। विविध प्रकार के मंत्र-तंत्र प्रयोग द्वारा अपने संयम को खोखला और दूषित न करे। सत्य किन्तु अप्रिय वचनों का प्रयोग न करे।

धर्मोपदेश में स्याद्वाद, सापेक्षवाद, विभज्यवाद द्वारा पदार्थों की व्याख्या करे। अर्थात् नय, निक्षेपादि द्वारा अलग-अलग विश्लेषण करे। इस व्याख्या को कोई विपरीत ग्रहण करे तो उसे जड़बुद्धि या मूर्ख कहकर झिडके नहीं, उसका अपमान और तिरस्कार भी न करे। प्रत्येक वचन बोलते समय स्याद्वाद को दृष्टि में रखें। परमात्मा या सिद्धान्त के विरूद्ध बात न करे। गुरु से भी भलीभाँति समझने के बाद ही दूसरों को समझायें।

जो इन समस्त सूत्रों को ध्यान में रखता हुआ भाषा समिति का उपयोग करता है तथा सूत्र, धर्म को सम्यक् जानता हुआ उत्सर्ग, अपवाद, हेतु ग्राह्य, आज्ञा ग्राह्य, स्व-समय, पर- समय आदि शास्त्र वाक्यों को यथायोग्य प्रतिपादित करता है, वही शास्त्र का अर्थ तथा उसके अनुसार आचरण करने में कुशल होता है एवं वही ग्रन्थमुक्त साधक सर्वज्ञोक्त समाधि की व्याख्या कर सकता है।

प्रस्तुत अध्ययन की 19वीं गाथा में 'ण याऽऽसियावाय वियागरेज्जा' पद है। जिसका अर्थ है- भिक्षु किसी को आशीर्वाद न दे। यहाँ आशीष शब्द का आसिया शब्द हुआ है- जैसे 'सरित्' का प्राकृत में 'सरिआ' रूप होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसके लिये स्पष्ट नियम बताया है 'स्त्रियामातविद्युतः' अर्थात् स्त्रीलिंगवाची शब्दों में विद्युत् शब्द को छोड़कर आत् होता है।[4] आसिया भी इसी प्रकार बना है। परन्तु डॉ. ए.एन. उपाध्ये इसका अर्थ 'अस्याद्वाद' ऐसा करते है। अर्थात् अस्याद्वाद युक्त वचन का प्रयोग साधु न करे। पर यह अर्थ ठीक नहीं है। इस गाथा में न स्याद्वाद का उल्लेख है, न कोई ऐसा प्रसंग है। चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने भी इस पद का अर्थ आशीर्वाद के निषेध के रूप में किया है।[5]

22वें श्लोक में 'विभज्जवायं च वियागरेज्जा' ऐसा निर्देश है इसका अर्थ है- मुनि विभज्यवाद के आधार पर वचन प्रयोग करें।

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं - भजनीवाद या अनेकान्तवाद। तत्वार्थ के प्रति अशंकित न होने पर भजनीयवाद का सहारा लेकर मुनि कहे - मैं इस विषय में ऐसा मानता हूँ। विशेष जानकारी के लिए अन्यत्र भी पूछना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभज्यवाद का दूसरा अर्थ है - अनेकान्तवाद। जहाँ जैसा उपयुक्त हो, वहाँ अपेक्षा का सहारा लेकर वैसा प्रतिपादन करे। अमुक नित्य है या अनित्य ? ऐसा प्रश्न करने पर अमुक अपेक्षा से यह नित्य है, अमुक अपेक्षा से यह अनित्य है - इस प्रकार उसको सिद्ध करे।[6]

वृत्तिकार ने विभज्यवाद के तीन अर्थ किए हैं-

1. पृथक्-पृथक् अर्थों का निर्णय करने वाला वाद।

2. स्याद्वाद।

3. अर्थों का सम्यग् विभाजन करने वाला वाद। जैसे - द्रव्य की अपेक्षा से नित्यवाद, पर्याय की अपेक्षा से अनित्यवाद। सभी पदार्थों का अस्तित्व अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा से है। पर द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा से नहीं है।[7]

बौद्ध साहित्य में विभज्यवाद की अनेक स्थलों पर चर्चा उपलब्ध होती है। विभज्य के दो अर्थ हैं -

विभज्य - विश्लेषणपूर्वक कहना।[8]

विभज्य - संक्षेप में विस्तार करना।[9]

बुद्ध ने स्वयं को विभज्यवाद का निरूपक कहा है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *(अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 127-131*
   (ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 241
2. *उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा - 334-337*
3. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 128*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 241
4. *प्राकृत व्याकरण - 8/1/15*
5. *अ) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 234*
   ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 249
6. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 235*
7. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 250*
8. *Early Budhist theory of knowledge, Page 280*
9. *वही, पृ. - 293*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

15. जमतीत अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के पञ्चदश अध्ययन का नाम जमतीत (यमकीय) है। निर्युक्तिकार ने इसका नाम 'आदानीय' या 'आदान' बताया है। उनका कथन है कि इस अध्ययन में पूर्व-पूर्व गाथाओं का अन्तिम पद उत्तरोत्तर गाथाओं का आदि पद है। अर्थात् जिस पद का आदान (ग्रहण) प्रथम गाथा के अन्त में है, उसी पद का आदान दूसरी गाथा के प्रारम्भ में है। अत: इसका 'आदान' नाम सार्थक है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार[2] कुछ लोग इसे संकलिका अथवा शृंखला से अभिहित करते है। चूँकि इस अध्ययन में पूर्व गाथा का अन्तिम पद एवं उत्तर गाथा का आदि पद शृंखला की भाँति जुडा हुआ है अर्थात् दोनों की कड़ियाँ एक समान है अत: इसका नाम संकलिका अथवा शृंखला है।

इस अध्ययन के आदि में 'जं अतीतं' शब्द प्रयुक्त हुआ है, इसलिये भी इसका नाम जमतीत हो सकता है अथवा इसमें यमक-अलंकार का प्रयोग होने से भी इस अध्ययन का नाम यमकीय है, जिसका आर्ष प्राकृत रूप 'जमईय' या 'जमतीत' होता है।

ग्रन्थ मुक्त होने पर साधु आयत (विशाल) चारित्र से सम्पन्न होता है। वह साधक चारित्र से कैसे सम्पन्न होता है, यही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है।

निर्युक्तिकार[3] ने आदान शब्द के चार निक्षेप किये है। द्रव्य आदान में धन का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि संसारी लोगों द्वारा अन्य समस्त कार्यों को छोड़कर अत्यन्त क्लेश-कषाय से सर्वप्रथम धन ग्रहण किया जाता है। अथवा उस धन से द्विपद, चतुष्पद आदि को ग्रहण किया जाता है। भावआदान के दो प्रकार है- प्रशस्त और अप्रशस्त। मिथ्यात्व, अविरति या क्रोध के उदय से कर्मबंध का आदान अप्रशस्त भाव-आदान है। उत्तरोत्तर गुणश्रेणी द्वारा शुद्ध अध्यवसायों को ग्रहण करना या सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र को ग्रहण करना प्रशस्त भाव-आदान है।

इस अध्ययन में प्रशस्त भाव-आदान की विवक्षा की गयी है, जिसमें कुल 25 गाथाएँ है, जो यमकालंकार से युक्त तथा शृंखलावत् सदृशपदों से जुड़ी हुई है।

शास्त्रकार प्रारम्भिक गाथाओं में, तीर्थंकर या अनुत्तरज्ञानी ही इसके प्रवक्ता है, इसका स्वरूप समझाते हुये कहते है कि वे समस्त पदार्थों के त्रिकाल ज्ञाता है क्योंकि उन्होंने घाती कर्मचतुष्टय का सर्वथा क्षय कर लिया है। वे संशयादि मिथ्याज्ञान से पूर्ण मुक्त है, इसीलिए वस्तु तत्त्व का वे जैसा प्रतिपादन करते है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैसा अन्य दर्शनों (बौद्ध, सांख्य, न्याय) में नहीं है। सर्वज्ञ ने आगमादि में जीवादि पदार्थों का जो सम्यक् कथन किया है, वही परम सत्य तथा सुभाषित है।

यहाँ कई अन्यदर्शनी सर्वज्ञ की सर्वज्ञता पर भी आक्षेप लगाते है तथा अपने-अपने मत के प्रणेता को ही सर्वज्ञ मानते है। शास्त्रकार ने उन आक्षेपों का परिहार किया है। वृत्तिकार[4] ने भी विस्तार से इसका विवेचन किया है, जिसका उल्लेख हम दार्शनिक विश्लेषण में आगे करेंगे।

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि तीर्थंकर या सर्वज्ञ का ज्ञान इसलिये सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वे वस्तु के अनन्त धर्मों को युगपत् जानते है। वह ज्ञान अबाधित तथा अविरूद्ध है। इसलिये सत्य के प्रतिपादक सर्वज्ञ वीतराग ही है, जिनकी आत्मा परम शुद्धता को प्राप्त कर संसार समुद्र को पार कर चुकी है।

लोक में जो मेधावी पाप कर्मों को जानता है, वह सभी बन्धनों को तोड़ देता है। वह नये कर्मबन्ध भी नहीं करता, इसलिये वह न जन्म पाता है, न मृत्यु को प्राप्त करता है।

यहाँ शास्त्रकार ने अवतारवाद पर भी प्रहार किया है। कुछ दार्शनिकों की यह मान्यता है, जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब धर्म की उन्नति के लिये महापुरुष पुनः इस संसार में लौट आते है परन्तु यह कथन न युक्तिसंगत है, न ही सत्य है। जीव अष्ट कर्मों का सम्पूर्ण क्षय करने के पश्चात् अक्रिय हो जाता है। संसार में शरीर धारण करने का कोई भी कारण विद्यमान न होने से कार्य रूप जन्म कैसे सम्भव है? अतः नवीन कर्मबन्ध से रहित आत्मा पुनः जन्म-मरण की क्रिया नहीं करता।

आगे की गाथाओं में महावीरता की परिभाषा दी गई है कि जिसके पूर्वकर्म शेष नहीं है, जो स्त्रियों के आसंग से मुक्त है, वह संसार के परिभ्रमण से मुक्त हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है। परन्तु यह कृतकृत्यता विरले मनुष्यों को ही प्राप्त होती है। जिसके कुछ कर्म शेष है, वे सौधर्म आदि देव बनते है। मोक्ष की प्राप्ति भी मनुष्य गति से भिन्न गति के जीवों को नहीं होती। यहाँ कुछ अन्यतीर्थिकों की मान्यता है कि देव ही समस्त दुःखों का अन्त करते है। इसके विपरीत आर्हत मत यह कहता है कि यह सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्य गतियों में परिणाम शुद्धि नहीं होती तथा धर्माराधना का भी अभाव ही होता है। मनुष्य से भिन्न गतियों में धर्म श्रवणरूप अभ्युदय मिलना तथा संबोधि प्राप्त होना दुर्लभ है, तो मोक्ष प्राप्ति तो बहुत दूर की बात है। अतः पण्डित साधक इस जन्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्राप्त अनुत्तरधर्म रूप संयम को संसार में सर्वोत्तम रत्न समझे, जिसकी प्राप्ति से समस्त कषाय रूप दारिद्र्य समाप्त हो जाता है। कर्म विदारण में समर्थ वीर्य को प्राप्त करके पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करे।

अन्तिम गाथाद्वय में रत्नत्रय की महिमा बताई गयी है कि जो समस्त साधकों को इष्ट है, पापरूप कर्म से उत्पन्न शल्य को काटने वाला है तथा संसार से तिराने वाला है, वह संयम अतीत में भी महापुरुषों के द्वारा धारण किया गया है तथा भविष्य में भी इसे प्राप्त करके जीव संसार सागर से पार होंगे।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 133*
2. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 253*
3. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 132*
4. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 254-255*

16. गाथा अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का अन्तिम तथा षोडश अध्ययन का नाम 'गाहा'-गाथा है। निर्युक्ति में इसका नाम 'गाथा षोडश' है।[1] चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने भी इसी नाम का अनुसरण किया है। गाथा शब्द के एकार्थक शब्द कुछ इस प्रकार है - शब्द, गृह, अध्ययन, ग्रन्थ-प्रकरण, छन्द-विशेष, आर्यागीति, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, निश्चय आदि।[2]

निर्युक्तिकार[3] ने गाथा शब्द के चार निक्षेप किये है - द्रव्य गाथा वह है, जो पुस्तक तथा पत्र पर लिखित है, जैसे 'जयति' आदि। अथवा पुस्तक एवं पन्नों पर लिखी हुई यह षोडश अध्ययन रूपा गाथा द्रव्य गाथा है।

भावगाथा वह है, जिसमें क्षयोपशमिक भाव से निष्पन्न गाथा के प्रति साकारोपयोग हो क्योंकि सम्पूर्ण श्रुत क्षायोपशमिक भाव से ही निष्पन्न माना जाता है। प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्य गाथा विवक्षित है।

निर्युक्तिकार तथा वृत्तिकार गाथा शब्द का विश्लेषण करते हुये कहते है कि - 1. जिसका उच्चारण मधुर, सुन्दर तथा श्रुतिप्रिय हो, 2. या जिसे मधुर उच्चारण से गाया जाता हो, 3. अथवा जो गाथा छन्द में रचित मधुर प्राकृत शब्दावली से युक्त हो, 4. अथवा जो छन्दोबद्ध (अनिबद्ध) न होकर भी गद्यात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गेय पाठ हो, 5. अथवा जिसमें बहुत सा अर्थ समूह पिण्डीकृत अर्थात्- एकत्र करके समाविष्ट किया गया हो, वह गाथा है।[4]

इससे पूर्वोक्तपन्द्रह अध्ययन पद्यात्मक शैली में निर्मित है, परन्तु यह अध्ययन गद्यात्मक शैली में रचित होने पर भी गाथा नाम से अभिहित है। इसके पीछे दो कारण प्रतीत होते है - या तो यह गद्यात्मक पाठ गेय अर्थात् गाया जाता है, अथवा इसमें पूर्वोक्त अध्ययन के अर्थसमूह को एकत्र करके समाविष्ट किया गया है, इन कारणों से भी इसे गाथा अध्ययन कहा जाता होगा।

प्रस्तुत अध्ययन में श्रमण, माहण, भिक्षु तथा निर्ग्रन्थ आदि के स्वरूप का पृथक्-2 विश्लेषण करके अणगार के गुणों का प्रशंसात्मक प्रतिपादन है।

शास्त्रकार अध्ययन के प्रारम्भ में कहते है कि जो पूर्वोक्त अध्ययनों में कहे गये साधक के गुणों से युक्त है, भव्य है, दान्त है तथा जिसने शरीर के ममत्व का त्याग कर लिया है, वह माहन (ब्राह्मण), श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ है।

आगे क्रमशः इनके स्वरूप की मीमांसा की गयी है। मा+हन इन दो पदों से निर्मित माहन का शाब्दिक अर्थ है - नहीं मारो अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो। जो स्वयं किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता तथा अन्यों को भी ऐसा ही उपदेश देता है, वह माहन है। पूर्वोक्त अध्ययनों में उपदिष्ट आचरण से युक्त-द्रव्य हिंसा तथा भाव हिंसा रूप राग-द्वेष, कलह आदि से विरत, संयम में रूचि-भाव तथा असंयम में अरूचि भाव वाला, पाँच समिति- तीन गुप्ति से युक्त, क्रोध-अभिमान से मुक्त है, वही गुणसम्पन्न साधक माहन है।

इसी क्रम में श्रमण के स्वरूप की व्याख्या की गयी है। जो साधक अनिश्रित (किसी बाह्य पदार्थ में आसक्त अथवा आश्रित न होना), अनिदान (सावद्य कर्म, कषाय, परिग्रहादि अनुष्ठान, जिनसे कर्मबंध का ग्रहण होता है), अतिपात्- (प्राणिघात, मृषावाद आदि से रहित है) तथा दान्त एवं भव्य है, वह श्रमण है। समण शब्द के संस्कृत में तीन रूप बनते है -

1. **श्रमण** - अर्थात् जो स्वयं मोक्ष के लिये श्रम, तपस्यादि करता है।
2. **शमन** - जो कषायों को उपशान्त करता है अथवा इन्द्रियों के विषयों को शान्त करता है।
3. **समन** - जो शत्रु-मित्र आदि प्राणिमात्र पर समभाव रखता है। उपरोक्त व्याख्या में भी ये तीनों भाव स्पष्ट मुखरित होते है।

जो अनुन्नत-(गुरु के प्रति विनयी), अवनत (दीन भावों से रहित), नामक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(सबके प्रति विनम्र व्यवहार वाला), दान्त (इन्द्रिय तथा मन को वश में रखने वाला), शरीर में ममत्व से रहित, उपसर्ग जेता, आध्यात्मिक वृत्ति से युक्त, स्थितात्मा तथा परदत्तभोजी है, वह भिक्षु कहलाता है। यहाँ भिक्षु का अर्थ भिक्षाजीवी से अवश्य है परन्तु भिक्षा पर जीने वाले तप-त्याग-संयम से रहित हृष्ट-पुष्ट भिखारी से नहीं है। यहाँ वह भिक्षु विवक्षित है, जो द्रव्य का संचय नहीं करता, भोजन न पकाता है, न पकवाता है तथा बिना दिया हुआ अथवा उसके लिये बनाया गया आहार भी जो ग्रहण नहीं करता। इसलिये उसे यहाँ परदत्तभोजी कहा गया है। कर्मों का भेदन करने वाला भी भिक्षु है, जो दूसरों के द्वारा दिये हुए आहार से संयम, तप, त्याग तथा स्वपर कल्याण में रत रहता है।

इस अध्याय के अन्त में निर्ग्रन्थ की व्याख्या की गयी है। जो साधक एकाकी, एकविद् (एकमात्र आत्मा को जानने वाला), बुद्ध (तत्त्वज्ञ), सुसंयत, पूजा प्रतिष्ठादि से मुक्त तथा बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थ से रहित है, वही निर्ग्रन्थ है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध की समाप्ति के साथ अध्ययन का उपसंहार करते हुये शास्त्रकार कहते है कि यहाँ जो भी कहा गया है, वह सर्वज्ञ महापुरुषों की वाणी के अनुसार ही है। अत: सुसाधक के लिये वही हितकारी है क्योंकि आप्त पुरुषों के वचन अन्यथा नहीं होते है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्तिगाथा - 141 : 'गाहासोलसणामं अज्झयणमिणं ववदिसंति'*
   (ब) सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. - 304
   (स) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 262
2. *पाइअसद्दमहण्णवो, पृ. - 293*
3. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 137 -141*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 261-262
4. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 138*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 262

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

1. पुण्डरीक अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के (द्वि. श्रु.) के प्रथम अध्ययन का नाम 'पुण्डरीक' या 'पौण्डरिक' है। पौण्डरिक शब्द-उत्तम, कान्त, प्रधान, श्रेष्ठ, मुख्य, श्वेतकमल तथा एक राजा आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1] प्रस्तुत अध्ययन के प्रतिपाद्य को पुण्डरीक (श्वेत-कमल) की उपमा के द्वारा समझाया गया है।

निर्युक्तिकार ने[2] पुण्डरीक के आठ निक्षेप किये है - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, गणना, संस्थान, भाव।

1. **नाम पुण्डरीक**- किसी का नाम पुण्डरीक रखना, नाम पुण्डरीक है।

2. **स्थापना पुण्डरीक**- किसी वस्तु में पुण्डरीक की स्थापना करना, स्थापना पुण्डरीक है।

3. **द्रव्य पुण्डरीक**- द्रव्य पुण्डरीक के तीन भेद है - सचित्त, अचित्त तथा मिश्र।

1. **सचित्त द्रव्य पुण्डरीक**- नरक गति को छोड़कर तिर्यंच, मनुष्य, देवताओं में जो श्रेष्ठ होते है वे सचित्त द्रव्य पौण्डरीक है। इसके भी तीन भेद हैं।

(अ) तिर्यंच पौण्डरीक - जलचर, स्थलचर तथा खेचर में जो श्रेष्ठ तथा कान्त होते है और जो लोगों द्वारा स्वभावत: अनुमत होते है, वे तिर्यंचों में पौण्डरीक है। जैसे-

(क) जलचर में मत्स्यादि विशिष्टता वाले होते है।

(ख) स्थलचर में वर्ण और रूप से प्रशस्त सिंह आदि।

(ग) खेचर में हंस, मयूर, कौकिल आदि रूप, वर्ण तथा स्वर से श्रेष्ठ होते है।

(ब) मनुष्य पौण्डरीक - अर्हत्, चक्रवर्ती, चारणश्रमण, विद्याधर, हरिवंश कुल में उत्पन्न दशार, ईक्ष्वाकु आदि श्रेष्ठ कुलों में उत्पन्न व्यक्ति मनुष्यों में पौण्डरीक होते है।

(स) देव पौण्डरीक - भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक देवों में जो प्रवर होते है, वे देवताओं में पौण्डरीक होते है।

(2) अचित्त द्रव्य पौण्डरीक - धातुओं में कांस्य, वस्त्रों में चीनांशुक, मणिओं में वैडूर्य, इन्द्रनील, पद्मराग आदि, मोतीओं में बृहदाकार मोती आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अचित्त द्रव्य पौण्डरीक है।

(3) **मिश्र द्रव्य पौण्डरीक** - मिश्र द्रव्यों में जो श्रेष्ठ है, वे मिश्र पौण्डरिक है। जैसे आभूषणों से अलंकृत तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि।

द्रव्य पौण्डरीक के अन्य तीन विकल्प इस प्रकार है -

(1) **एकभविक** - एक भव के बाद पुण्डरीक में उत्पन्न होने वाला।

(2) **बद्धायुष्क** - जिस जीव के पुण्डरीक का आयुष्य बंध हो गया है।

(3) **अभिमुखनामगोत्र** - जो जीव कुछ ही समय पश्चात पुण्डरीक में उत्पन्न होगा।

4. **क्षेत्र पुण्डरीक** - लोक में जो क्षेत्र शुभ अनुभाव वाले है, वे क्षेत्र पौण्डरीक है। जैसे - देवकुरु, उत्तरकुरु आदि।

5. **काल पुण्डरीक** - जो प्राणी भवस्थिति तथा कायस्थिति से पुण्डरीक है, वे काल पौण्डरीक है।

(1) भवस्थिति - अनुत्तरोपपातिक देव, जो उपपात (जन्म) से च्यवन (मरण) तक सुख का ही अनुभव करते है।

(2) कायस्थिति - शुभ कर्म वाले मनुष्य, जो 7/8 भव में निर्वाण प्राप्त करने वाले होते है।

6. **गणना पौण्डरीक** - गणित के परिकर्म आदि दस प्रकार है। उनमें रज्जु गणित श्रेष्ठ है।

7. **संस्थान पुण्डरीक** - छह संस्थानों में समचतुरस्त्र संस्थान श्रेष्ठ है।

8. **भाव पुण्डरीक** - औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशिमक, पारिणामिक तथा सन्निपातिक - इन भावों में जो श्रेष्ठ होता है, वह भाव पुण्डरीक है।

(अ) **औदयिकभाव पौण्डरीक** - तीर्थंकर तथा अनुत्तरोपपातिक देव, श्वेत कमल आदि।

(ब) **औपशमिकभाव पुण्डरीक** - पूर्ण उपशान्त मोह की स्थिति वाले।

(स) **क्षायिक भाव पुण्डरीक** - केवलज्ञानी।

(इ) **पारिणामिकभाव पुण्डरीक** - भव्य जीव।

(फ) **सन्निपातिकभाव पुण्डरीक** - सिद्ध।

इसी प्रकार ज्ञान में केवलज्ञानी, दर्शन में क्षायिक सम्यक्त्वी, चारित्र में यथाख्यान चारित्री, विनय में अभ्युत्थानादि विनययुक्त, अध्यात्म में अनाशंसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा ध्यान में परमशुक्ल ध्यानी- ये भाव पौण्डरीक होते है।

प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्यपौण्डरीक वनस्पतिकाय का तथा भावपौण्डरीक श्रमण का अधिकार है। अथवा औदयिकभाववर्त्ती वनस्पतिकायिक भावपौण्डरीक तथा सम्यग्दर्शन, चारित्र, ज्ञान, विनयादि आध्यात्मिक वृत्ति से सम्पन्न सुसाधु रूप भावपौण्डरीक का वर्णन है।

इस गद्यमय अध्ययन में 72 सूत्र है। प्रथम 12 सूत्रों में भगवान महावीर ने पुष्करिणी में स्थित पौण्डरीक के माध्यम से धर्म, धर्मतीर्थ तथा निर्वाण के महत्त्व को समझाया है।

आप्त पुरुष उस रूपक को कुछ विस्तार से इस प्रकार समझाते है - एक विशाल पुष्करिणी है। वह अगाध जल से परिपूर्ण, गहरी तथा देश-प्रदेशों में उत्तमोत्तम श्वेत कमलों से व्याप्त है। उसके मध्य भाग में विशाल, रमणीय, समस्त कमलों में प्रधान पौण्डरीक कमल स्थित है। वह अत्यन्त रूचिकर, दीप्तिमान, मनोज्ञ, विलक्षण रसों से युक्त, कोमल स्पर्शी, उत्तम सुगन्ध से भरपूर है। वह पुष्करिणी उन समस्त श्वेत कमलों तथा प्रधान पौण्डरीक कमल से अत्यन्त मनोहारी, दर्शनीय एवं रमणीय प्रतीत होती है। वहाँ पूर्व दिशा से एक पुरुष आया और पुण्डरीक कमल को देखकर कहा- मैं क्षेत्रज्ञ हूँ, कुशल हूँ, पण्डित हूँ, मेधावी हूँ, अबाल हूँ, मार्गस्थ हूँ, मार्गविद् हूँ, मार्ग की गति एवं पराक्रम का ज्ञाता हूँ। मैं उस कमल को उखाड़कर पा लूँगा।' ऐसा कहकर वह पुरुष उस विशाल पुष्करिणी में उतर जाता है। वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों गहरे कीचड़ में धँसता जाता है। अब वह उस स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ से न पुनः तट पर आ सकता है, न ही पुण्डरीक कमल तक पहुँच सकता है। वह न इस पार का, न उस पार का, बल्कि उस पुष्करिणी के पंक में पड़ा अत्यन्त कष्ट और क्लेश पाता है।

इसी प्रकार उत्तर, दक्षिण, पश्चिम दिशाओं से भी एक-एक पुरुष आते है, जो अपने से पूर्व कीचड़ में फँसे पुरुष को देखकर उसकी अकुशलता तथा स्वयं निपुणता, चतुरता की बड़ाई करते हुये पुण्डरीक कमल को पाने की इच्छा से उस पुष्करिणी में उतर जाते है और उसी प्रकार अधबीच कीचड़ में फँसकर कष्ट पाते है। इतने में किसी दिशा या विदिशा से एक निस्पृह, राग-द्वेष से रहित, संसार सागर से तिरने का इच्छुक भिक्षु आया। उसने पुष्करिणी के तट पर आकर पुष्करिणी के मध्य स्थित पुण्डरीक कमल तथा फँसे हुए चार पुरुषों को देखा और सोचा कि ये लोग अकुशल, अनिपुण तथा अपण्डित मालूम होते है। इसलिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार कीचड़ में फँसकर दुःख पा रहे है। नहीं, श्वेत कमल को तो मैं पाऊँगा क्योंकि मैं निर्दोष भिक्षाजीवी तथा रूक्ष अर्थात्, कर्म मल से अस्निग्ध, राग-द्वेष रहित हूँ। ऐसा कहकर उसने पुष्करिणी में उतरने की बजाय तट पर खड़े-खड़े उस पुण्डरीक कमल को लक्ष्य करके आवाज लगायी..... 'हे उत्तम पुण्डरीक कमल! तुम मेरे पास आओ। मेरे पास आओ।' ऐसा कहते ही वह पद्मवर पुण्डरीक वहाँ से उड़कर उस भिक्षु के पास आ गया। इसका निगमन करते हुये भगवान कहते है -[3]

- लोक पुष्करिणी है।
- कर्म जल है।
- काम भोग कीचड़ है।
- लोग कमल है।
- राजा पद्मवर पुण्डरिक है।
- अन्यतीर्थिक चार दिशाओं से आने वाले पुरुष है।
- धर्म भिक्षु है।
- धर्म-तीर्थ तट है।
- धर्म-कथा आह्वान है।
- ऊपर उठना निर्वाण है।

प्रस्तुत अध्ययन में चार पुरुष रूप चार वादों का विस्तार से वर्णन है -

इन चार पुरुषों में प्रथम पुरुष तज्जीव-तच्छरीरवादी है, जिसके प्रवर्तक अजितकेशकम्बल है। इनके अनुसार शरीर और जीव एक है, अभिन्न है। जीव नामक किसी पदार्थ का शरीर से अलग कोई अस्तित्व नहीं है। शरीर के जीने तक ही यह जीव जीता है। शरीर के मर जाने पर यह नहीं जीता। शरीर के मरने पर लोग इसे जलाने ले जाते है। तथा वहाँ से मृत शरीर को ढोने वाली मंचिका को लेकर अपने घर लौट आते है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि शरीर से भिन्न जीव नहीं है। इस प्रकार तज्जीव- तच्छरीरवादी नास्तिकवादी है, जो अपने मत को युक्तिसंगत प्रमाणित करने के लिये अनेक तर्क प्रस्तुत करते है। इसका विस्तृत वर्णन तथा समीक्षा हम आगे समस्त वादों के दार्शनिक विश्लेषण में करेंगे।

दूसरा पुरुष पंचमहाभूतवादी पकुधकात्यायन का दार्शनिक पक्ष है। इनके मतानुसार पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु तथा आकाश ये पाँच महाभूत ही सब कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इन पाँचों के संयोग से ही आत्मा की उत्पत्ति होती है। ये किसी के द्वारा निर्मित अथवा निर्मापित नहीं है अथवा कृत या कृत्रिम नहीं है। ये आदि-अन्त रहित, स्वतन्त्र-शाश्वत है एवं स्वयं समस्त क्रियाएँ करने वाले है। अत: पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, क्रिया-अक्रिया, आत्मा-परमात्मा आदि वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है।

प्रथम तथा द्वितीय पुरुष की मान्यता में इतना ही अन्तर है कि प्रथम तज्जीव तच्छरीरवादी के मत में शरीर तथा जीव एक ही है अर्थात् दोनों में कोई भेद नहीं है जबकि द्वितीय पंचमहाभूतवादी के अनुसार जीव की उत्पत्ति पंचमहाभूतों के संयोग या सम्मिश्रण से होती है।

तृतीय पुरुष ईश्वरकारणवादी तथा आत्माद्वैतवादी है। इनके अनुसार इस जगत में चेतन-अचेतन जितने भी पदार्थ है, सब पुरुषादिक है अर्थात् उन सबका आदि कारण पुरुष या आत्मा है। वे सब पुरुषोत्तरिक है अर्थात् ईश्वर ही उनका संहारकर्ता है या ईश्वर ही सब पदार्थों का कार्य है। समस्त पदार्थ ईश्वर द्वारा रचित, उत्पन्न तथा प्रकाशित है, ईश्वर के ही अनुगामी है और ईश्वर का आधार लेकर टिके हुये है। जगत को ईश्वरकृत सिद्ध करने के लिये ईश्वरवादी अनेक तर्क प्रस्तुत करते है। जैसे- शरीर में उत्पन्न फोड़ा शरीर में ही बढ़ता है, शरीर का ही अनुगामी होता है, शरीर के आधार से ही टिकता है। इसी प्रकार समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होकर ईश्वर से ही वृद्धिंगत होते है, ईश्वर के ही अनुगामी होते है तथा ईश्वर (आत्मा) का आधार लेकर ही स्थित रहते है। इसी प्रकार अरति (उद्वेग) शरीर से, वल्मीक कीट पृथ्वी से, वृक्ष मिट्टी से, पोखर जल से, पानी का बुदबुद पानी से बढ़ता है, वृद्धि को प्राप्त होता है, अनुगामी बनता है तथा अन्त में उसी में समा जाता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वरकर्तृत्ववादियों के अनुसार जगत के समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न हुए है, ईश्वर या आत्मा में ही स्थित है तथा अन्त में ईश्वर में ही लीन हो जाते है। श्रमण निर्ग्रन्थों द्वारा रचा हुआ या कहा हुआ आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंगों में विभक्त ज्ञान का जो पिटारा है, वह मिथ्या है। वह सत्य तथा तथ्य रूप नहीं है। हमारा मत ही सत्य है, यथार्थ है और ऐसी ही शिक्षा वे अपने शिष्यों को भी देते है। ये अपने आग्रह से उसी प्रकार मुक्त नहीं हो पाते है, जैसे पक्षी पिंजरे से। इसी मिथ्या मत में उलझ कर वे नाना प्रकार के पाप कर्म युक्त सावद्य अनुष्ठान द्वारा कामभोगों के लिये आरम्भ करते है। इस प्रकार वे न तो लोक में, न पर लोक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में सुख पाते हे। उभयभ्रष्ट बीच में ही कामभोगों में फँसकर दु:ख पाते है।

शास्त्रकार ने चतुर्थ पुरुष को नियतिवादी कहा है, जो गोशालक का मत है। इसके अनुसार जगत की सारी क्रियाएँ नियत अर्थात् निश्चित है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता। मनुष्य को सुख-दु:ख, हानि-लाभ, जीवन-मरण आदि जो कुछ भी प्राप्त होता है, उसमें नियति ही एकमात्र कारण है। शुभ कार्य करने वाले दु:खी तथा अशुभ कार्य करने वाले सुखी दिखायी देते है, यह नियति की ही प्रबलता है। परन्तु अज्ञानी लोग इसे ईश्वरकृत, कालकृत या स्वकृत मानकर दु:खी होते है। संक्षेप में, समस्त संसार नियति के अधीन है।

अन्त में आने वाला भिक्षु इन चारों पुरुषों से भिन्न है। शास्त्रकार ने इस अध्ययन की समाप्ति करते हुये पुण्डरीक कमल को प्राप्त करने के योग्य निर्ग्रन्थ भिक्षु की विशेषताओं एवं योग्यताओं का सर्वांगीण विश्लेषण किया है।

वह भिक्षु षट्कायिक जीवों की हिंसा से पूर्ण विरत है। इसी प्रकार मृषा, अदत्त, परिग्रह तथा मैथुन से भी सर्वथा निवृत्त है। वह न शरीर की विभूषा करता है, न दन्त प्रक्षालन, विरेचन, अंजन, धूप सेवन तथा रोगादि से मुक्त होने के लिये धुम्रपान आदि करता है। वह साधक सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं से विरत, अहिंसक, अकषायी तथा उपशान्त है। अपनी ज्ञान- दर्शन-चारित्र-तप-संयमरूप समाधि में लीन, पारलौकिक फलाकांक्षा, सिद्धिओं की वांछा से रहित है।

संक्षेप में जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त है तथा संसार एवं धर्म का वास्तविक ज्ञाता बनकर त्याग धर्म का उपदेश देता है एवं तदनुरूप आचरण भी करता है, वही भिक्षु धर्मार्थी, धर्मवेत्ता है, वही सर्वश्रेष्ठ पंचम पुरुष है, जो पुण्डरिक कमल रूप श्रेष्ठ निर्वाण को प्राप्त करता है, अथवा उसे प्राप्त करने योग्य बन जाता है। इससे विपरीत आचरण वाले मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते तथा कामभोग रूप कीचड में ही फँसकर रह जाते है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *पाईअसद्दमहण्णवो पृ. - 602*
2. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 144-158*
3. *सूयगडो - 21/12*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. क्रियास्थान अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के (द्वि. श्रु.) द्वितीय अध्ययन का नाम 'क्रियास्थान' है। इस अध्ययन में कर्मबन्ध की कारणभूत बारह क्रियाओं का और कर्मबन्ध से मुक्त होने की तेरहवीं क्रिया का वर्णन है। इसलिये इसका नाम क्रियास्थान रखा गया है।[1] निर्युक्तिकार ने क्रियाओं का विवेचन आवश्यक निर्युक्ति में किया है।

प्रस्तुत अध्ययन में मोक्ष का अधिकार है, फिर कर्मबन्ध के उल्लेख का क्या प्रयोजन है ? चूर्णिकार इस प्रश्न का समाधान करते हुये कहते है - बन्ध के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है, अत: यहाँ बन्ध और इसके कारणों का भी अधिकार है।[2] आवश्यक सूत्र के अन्तर्गत प्रतिक्रमण अध्ययन में 'पडिक्कमामि तेरसहिं किरियाठाणेहिं' पाठ से इन्हीं तेरह क्रियाओं का ग्रहण है। दूसरा वर्गीकरण स्थानांग सूत्र में उपलब्ध होता है। उसमें गौण-मुख्य भेद से 72 क्रियाओं का निर्देश है।[3] तत्त्वार्थ सूत्र में भी पच्चीस क्रियाओं का उल्लेख है।[4]

क्रियाओं के दो प्रकार है - द्रव्य क्रिया तथा भाव क्रिया। इन दोनों की परिभाषा अनुपयोग तथा उपयोग के आधार पर की जाती है। जिस क्रिया में चितवृत्ति संलग्न नहीं है, वह द्रव्य क्रिया और जिसके साथ संलग्न है, वह भाव क्रिया कहलाती है।

वृत्तिकार ने इन्हें भिन्न कोण से परिभाषित किया है -

1. **द्रव्यक्रिया** - द्रव्य क्रिया वह है, जो अजीव द्वारा चलन, कम्पन रूप होती है। वह भी प्रयोगत: (प्रयत्नपूर्वक) एवं विस्त्रसात: (सहज) भेद से दो प्रकार वाली है। इसी प्रकार उपयोग पूर्विका, अनुपयोग पूर्विका, अक्षिनिमेषमात्रादि समस्त द्रव्य क्रियाएँ है।[5]

2. **भावक्रिया** - भाव-प्रधान क्रिया भावक्रिया है। निर्युक्तिकार ने इसके आठ प्रकार बतलाये है -[6] (1) प्रयोग क्रिया, (2) उपाय क्रिया, (3) करणीय क्रिया, (4) समुदान क्रिया, (5) ईर्य्यापथ क्रिया, (6) सम्यक्त्व क्रिया, (7) सम्यङमिथ्यात्व क्रिया और (8) मिथ्यात्व क्रिया।

1. प्रयोग क्रिया - इसके मन, वचन तथा काया की अपेक्षा से तीन भेद होते है। जिस क्रिया के द्वारा मनोद्रव्य आत्मा के उपयोग का साधन बनता है, वह मन: प्रयोग क्रिया कहलाती है। इसी प्रकार वचन तथा काया सम्बन्धी प्रयोग होते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. **उपाय क्रिया** - द्रव्य की निष्पत्ति से होने वाली उपायात्मक क्रिया। जिनसे घटपटादि पदार्थों का निर्माण होता है, उन उपायों का प्रयोग उपाय क्रिया है।

3. **करणीय क्रिया** - जो वस्तु जिस प्रकार से की जाती है, उसे उसी प्रकार से करना करणीय क्रिया है। जैसे घट का निर्माण मृत्पिण्ड से ही सम्भव है, पाषाणादि से नहीं।

4. **समुदान क्रिया** - समुदाय के रूप में जिस क्रिया को करके जीव प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश रूप से अपने अन्दर स्थापित करता है, वह समुदान क्रिया है। यह क्रिया असंयत, संयत, अप्रमत्त संयत, सकषाय व्यक्ति के होती है।

5. **ईर्य्यापथ क्रिया** - उपशान्तमोह से लेकर सयोगी केवली गुणस्थान तक होने वाली क्रिया। यह तीन समय की स्थितिवाली होती है - प्रथम समय में बन्ध, दूसरे में संवेदन और तीसरे में निर्जरण। यह वीतराग अवस्था की क्रिया है।

6. **सम्यक्त्व क्रिया** - जिस क्रिया से जीव सम्यग्दर्शन के योग्य 77 कर्म प्रकृतियों को बांधता है।

7. **सम्यङ् मिथ्यात्व क्रिया** - जिस क्रिया से जीव सम्यग्मिथ्यात्व योग्य 74 कर्म प्रकृतियाँ बांधता है।

8. **मिथ्यात्व क्रिया** - जिस क्रिया से जीव तीर्थंकर नाम कर्म तथा आहारकद्वय को छोड़कर शेष 117 कर्म प्रकृतियों को बांधता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि क्रिया से कर्मबन्ध होता है। परन्तु प्रस्तुत अध्ययन में जो क्रियास्थान बताये गये है, उनसे कई क्रियावानों के कर्मबन्ध होते है, तो कई क्रियावान् कर्ममुक्त होते है। इसलिये प्रस्तुत अध्ययन में दो प्रकार के क्रियास्थान बताये गये है- धर्म क्रियास्थान तथा अधर्म क्रियास्थान। अधर्म क्रियास्थान के बारह प्रकार है तथा तेरहवाँ धर्म क्रियास्थान है। कर्मबन्ध से मुक्त होने के लिये साधक प्रथमत: बारह प्रकार के अधर्म क्रियास्थानों को जानकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनका त्याग कर दे तथा 13वें धर्म क्रियास्थान को मोक्ष की प्रवृत्ति करने हेतु धारण करें, यही इस अध्ययन का उद्देश्य है।

शास्त्रकार ने अध्ययन के प्रारम्भ में तेरह क्रियास्थानों का उल्लेख किया है - (1) अर्थदण्ड (2) अनर्थदण्ड (3) हिंसा दण्ड (4) अकस्मात् दण्ड (5) दृष्टि विपर्यास दण्ड (6) मृषा प्रत्ययिक (7) अदत्तादान प्रत्ययिक (8) अध्यात्म प्रत्ययिक (9) मान प्रत्ययिक (10) मित्रद्वेष प्रत्ययिक (11) माया प्रत्ययिक (12) लोभ प्रत्ययिक (13) ईर्ष्या प्रत्ययिक।

संसार के समस्त प्राणी इन 13 क्रियास्थानों में प्रवर्त्तमान रहते है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई क्रियास्थान नहीं है, जहाँ कर्मबन्ध होता हो। इस अध्ययन में इन समस्त क्रिया स्थानों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है, जो क्रमशः इस प्रकार है -

1. **अर्थदण्ड प्रत्ययिक क्रियास्थान**- कोई पुरुष अपने लिये, अपने ज्ञातिजनों, घर-परिवार अथवा मित्रजनों के लिये त्रस अथवा स्थावर जीवों की हिंसा करता है, करवाता है या अनुमोदन करता है, वह अर्थदण्ड है।

2 **अनर्थदण्ड प्रत्ययिक क्रियास्थान**- बिना किसी प्रयोजन के, केवल अपने मनोरंजन, कौतुक, क्रूर आदत से प्रेरित होकर किसी भी त्रस या स्थावर जीव की किसी भी रूप में की जाने वाली हिंसा अनर्थ दण्ड प्रत्ययिक है।

3. **हिंसादण्ड प्रत्ययिक क्रियास्थान**- अमुक प्राणियों ने मेरे किसी सम्बन्धी को मारा था, मारा है अथवा मरवाया है, ऐसा समझकर जो मनुष्य उन्हें मारने की प्रवृत्ति करता है, वह हिंसा दण्ड प्रत्ययिक कहलाती है। कई व्यक्ति अपने मरण की आशंका से प्राणियों को खत्म कर देते है कि भविष्य में यह मुझे मार डालेगा। जैसे कंस ने देवकी पुत्रों को मरवा दिया था। इसी प्रकार सिंह, सर्पादि प्राणियों का भी इसलिये वध कर डालते है कि ये जिन्दा रहने पर किसी न किसी को मार डालेंगे। कुछ मनुष्य अपने सम्बन्धी के घात से कुद्ध होकर भी सम्बन्धित व्यक्ति को मार डालते है, जैसे परशुराम ने अपने पिता की हत्या से कुद्ध होकर कार्तवीर्य को मार डाला था।[7]

4. **अकस्मात्दण्ड प्रत्ययिक क्रियास्थान**- लक्षित प्राणी को घात करने के इरादे से चलाये हुए शस्त्र से अन्य किसी प्राणी का घात हो जाना अकस्मात् दण्ड है। क्योंकि यहाँ घातक पुरुष का आशय उस प्राणी के घात का न होने पर भी उसका घात हो जाता है। जैसे किसी हरिण को मारने के लक्ष्य से चलाया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया तीर लक्ष्य भ्रष्ट होकर किसी अन्य पशु अथवा प्राणी का घात कर देता है अथवा किसी घास को काटने के अभिप्राय से चलाया गया औजार किसी अन्य पौधे को काट देता है। अत: इसे अकस्मात्दण्ड प्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया है।[8]

5. **दृष्टिविपर्यास दंड प्रत्ययिक क्रियास्थान**- दृष्टिभ्रम अथवा दृष्टिविपरीतता के कारण अपने माता-पितादि स्वजन अथवा मित्रादि हितैषी को गलतफहमी से शत्रु समझना अथवा साहूकार को चोर समझकर उन्हें दण्ड देने अथवा मारने की बुद्धि दृष्टि विपर्यास क्रियास्थान है।

6. **मृषावाद प्रत्ययिक क्रियास्थान**- अपने लिये या अपने परिवार के लिये जो स्वयं असत्य बोलता है, बुलवाता है अथवा बोलने वाले का समर्थन करता है, वह मृषावाद प्रत्ययिक क्रियास्थान है।

7. **अदत्तादान प्रत्ययिक क्रियास्थान**- इसी प्रकार अपने या घर-परिवार के लिये अदत्त वस्तु ग्रहण करना अर्थात् चोरी करना, करवाना तथा उसका अनुमोदन करना अदत्तादान प्रत्ययिक क्रियास्थान है।

8. **अध्यात्म प्रत्ययिक क्रियास्थान** - किसी अन्य के अपमान अथवा तिरस्कार न करने पर भी स्वयमेव हीन भावना से ग्रस्त, उदास, दीन, दु:खी तथा संकल्प-विकल्प में डूबे रहना अध्यात्म प्रत्यय दण्ड है। इस प्रकार के मनुष्यों के हृदय में क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय प्रवर्त्तमान रहते है। इन कषाय रूप भावों से सावद्य कर्म का बन्ध होता है, अत: इसे अध्यात्मप्रत्यय क्रियास्थान कहा गया है।

9. **मानप्रत्ययिक क्रियास्थान** - जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुतमद, लाभमद, ऐश्वर्यमद या प्रजामद इन अष्टविध मदस्थानों में अथवा इनमें से किसी एक-दो में डूबकर अन्य व्यक्ति को हीन समझता है, उनकी निन्दा, भर्त्सना या अवहेलना करता है तथा स्वयं को विशिष्ट जाति, कुल, बल आदि गुणों से सम्पन्न मानता हुआ गर्व करता है, वह मान प्रत्ययिक क्रियास्थान कहलाता है। इस प्रकार मद (अभिमान) की क्रिया द्वारा सावद्य कर्मबन्ध करता है।

10. **मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान** - कोई प्रभुत्व सम्पन्न पुरुष माता-पिता आदि परिवार वालों में से किसी का जरा सा अपराध होने पर भी बैंत, छड़ी, चमड़ा, डण्डे से अथवा मुक्के व ढ़ेले से मार-मार कर भारी दण्ड देता है। इस प्रकार वह महादण्ड प्रवर्त्तक अपने हितैषी व्यक्तियों को महादण्ड देने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की क्रिया के निमित्त भारी पापकर्म का बन्ध होता है अत: इसे मित्रदोष-प्रत्ययिक कहा गया है।

11. **मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान** - जो व्यक्ति दिखने में सभ्य, शिष्ट तथा सरल व सदाचारी मालूम होते है, परन्तु अन्दर से उतने ही खोखले, छिपकर पापाचार करनेवाले तथा उल्लू के समान अत्यन्त तुच्छ होने पर भी अपने आपको विशिष्ट पर्वत के समान भारी समझते है। ऐसे मायावी पुरुष अनेक प्रकार की अनर्थकारी प्रवृत्तियों को करने वाले होते है। वे इहलोक तथा परलोक में दुष्फल पाते हुये भी कुटिल स्वभाव से मुक्त नहीं हो पाते है। ऐसे मायी पुरूष माया युक्त क्रियाओं के कारण पापकर्म का बंध करते रहते है। अत: इस क्रियास्थान को मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया है।

12. **लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान** - शास्त्रकार ने इस क्रियास्थान का स्वरूप बतलाते हुये आरण्यक तापसों की चर्या को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। जो अधिकांशत: संयमी नहीं है, प्राणातिपात- मृषावाद से विरत नहीं है तथा जंगल में, पर्णकुटिया में निवास करते हुये कन्दमूल, पत्रफूल द्वारा जीवन निर्वाह करते है, स्त्रीभोगों में तथा विषय कषायों में गृद्ध, आसक्त हैं, ऐसे अन्यतीर्थिक पाँच, छह या दस वर्ष तक विषय भोगों का सेवन करते हुये मृत्यु को प्राप्त होकर किल्विषी देव बनते है। वहाँ से च्यवकर बकरे की तरह मूक तथा जन्मान्ध होते हैं। इस प्रकार की विषयलोलुपता की क्रिया से लोभप्रत्ययिक पापकर्म का बन्ध होने से इस क्रियास्थान को लोभप्रत्यायिक क्रियास्थान कहा गया है।

13. **ऐर्यापथिक क्रियास्थान** - पूर्वोक्त 12 क्रियास्थान अधर्महेतुक प्रवृत्ति के है। परन्तु यह क्रियास्थान धर्महेतुक प्रवृत्ति का है। वीतराग छद्मस्थ तथा वीतरागी केवली की सयोगी अवस्था तक यही क्रियास्थान होता है। जो साधक अपने आत्मभाव में स्थित है, परभावों से मुक्त हैं, पाँच समिति तथा त्रिगुप्ति से युक्त है, जितेन्द्रिय, ब्रह्मगुप्ति का धारक तथा जयणा या उपयोग पूर्वक समस्त क्रियाएँ सम्पन्न करता है, यहाँ तक कि पक्ष्म-निक्षेप भी उपयोग सहित करता है, ऐसा सुसंयत साधु सूक्ष्म ऐर्यापथिकी क्रिया प्राप्त करता है। इस क्रिया का प्रथम समय बंध तथा स्पर्श होता है, द्वितीय समय में वेदन (अनुभव), व तृतीय समय में निर्जरा होती है। इस प्रकार वह क्रिया क्रमश: बद्ध-स्पृष्ट, उदीरित, वेदित तथा निर्जीण हो जाती है।

चूँकि वीतराग पुरुष संयोगावस्था में इस क्रिया के कारण असावद्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(त्रिसमयात्मक) कर्म का बन्ध करते है, इसलिये 13वें क्रियास्थान को ऐर्यापथिक कहा गया है। इस प्रकार पूर्वोक्त 12 क्रियास्थानों को सम्यक् रूप से जानकर साधक उनका त्याग करें तथा 13वें क्रियास्थान को प्राप्त करे या उसे पाने की योग्यता अर्जित करें।

प्रस्तुत अध्ययन के 18वें सूत्र में पापश्रुत अध्ययनों के प्रसंग में निमित्त शास्त्र, लक्षण शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र और मन्त्र शास्त्र की अनेक जानकारियाँ दी गयी है। सूत्रकार ने 64 प्रकार के पापश्रुत का उल्लेख भी किया है। ऐसा ज्ञान, जिससे पाप का बन्ध होता हो अथवा जो शास्त्र पाप का उपादान होता है, वह पापश्रुत कहा जाता है।[9] समवायांग, आवश्यक निर्युक्ति आदि में उनतीस प्रकार के 'पापश्रुत प्रसंग' निर्दिष्ट है।[10]

कोरा ज्ञान पाप का बन्ध नहीं कराता। पाप के बन्ध में ज्ञान का प्रयोग ही कारण बनता है। जो व्यक्ति इन सारी विद्याओं का प्रयोग भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिये करता है, वह पापकर्म का बन्ध करता है तथा पापपूर्ण स्थानों में उत्पन्न होता है।

प्रस्तुत अध्ययन में उल्लिखित 64 पापश्रुत इस प्रकार है -

1. भौम - तुफान, भूकम्प आदि का ज्ञान कराने वाला शास्त्र।
2. उत्पात - उल्कापात आदि प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या करने वाला शास्त्र।
3. स्वप्न - गज, वृषभ आदि तथा अन्यान्य दृश्यों के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।
4. अन्तरिक्ष - ज्योतिष शास्त्र।
5. अंग - आँख, भुजा आदि फड़कने से शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र।
6. स्वर - स्वरशास्त्र।
7. लक्षण - यव, मत्स्य, पद्म, शंख, चक्र आदि चिह्न अथवा हस्तरेखा के आधार पर शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र।
8. व्यंजन - तिल आदि चिह्नों के आधार पर शुभाशुभ बताने वाला शास्त्र।
9. स्त्री लक्षण शास्त्र।
10. पुरुष लक्षण शास्त्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

11. हय लक्षण शास्त्र।
12. गज लक्षण शास्त्र।
13. गौ लक्षण शास्त्र।
14. मेष लक्षण शास्त्र।
15. कुक्कुट लक्षण शास्त्र।
16. तीतर लक्षण शास्त्र।
17. वर्त्तक लक्षण शास्त्र।
18. लावा लक्षण शास्त्र।
19. चक्र लक्षण - चक्रवर्ती के चक्र का लक्षण शास्त्र।
20. छत्र लक्षण - चक्रवर्ती के छत्र का लक्षण शास्त्र।
21. चर्म लक्षण - चक्रवर्ती के चर्म का लक्षण शास्त्र।
22. दण्ड लक्षण - चक्रवर्ती के दण्ड का लक्षण शास्त्र।
23. असि लक्षण - चक्रवर्ती के असि का लक्षण शास्त्र।
24. मणि लक्षण - चक्रवर्ती के मणि का लक्षण शास्त्र।
25. काकिणी - चक्रवर्ती के काकिणी का लक्षण शास्त्र।
26. सुभगाकर - दुर्भाग्य को सुभाग्य करने वाली विद्या।
27. दुभगाकर - सौभाग्य को दुर्भाग्य करने वाली विद्या।
28. गर्भाधान - कृत्रिम गर्भाधान की विद्या।
29. मोहनकर - व्यक्ति को सम्मोहित या वाजीकरण करने वाली विद्या।
30. आथर्वणी - अथर्ववेद से सम्बन्धित मंत्र विद्या।
31. पाकशासनी - इन्द्रजाल विद्या।
32. द्रव्य होम - उच्चाटन आदि के लिये की जाने वाली हवन क्रिया।
33. क्षत्रिय विद्या - धनुर्वेद।
34. चन्द्र सरित - चन्द्र सम्बन्धी ज्योतिष शास्त्र।
35. सूर्य चरित - सूर्य सम्बन्धी ज्योतिष शास्त्र।
36. शुक्र चरित - शुक्र सम्बन्धी ज्योतिष शास्त्र।
37. बृहस्पति चरित - बृहस्पति सम्बन्धी ज्योतिष शास्त्र।
38. उल्कापात - उल्कापात सम्बन्धी ज्योतिष शास्त्र।
39. दिग्दाह - दिशादाह सम्बन्धी ज्योतिष शास्त्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

40. मृगचक्र - ग्राम, नगर के प्रवेश पर अरण्य पशुओं के दर्शन या शब्द श्रवण के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।
41. वायस परिमण्डल - कौए आदि पक्षियों की अवस्थिति और शब्द के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।
42. पांसुवृष्टि - धूल की वृष्टि के आधार पर शुभाशुभ बताने वाला शास्त्र।
43. केशवृष्टि - केश वृष्टि के आधार पर शुभाशुभ बताने वाला शास्त्र।
44. माँसवृष्टि - माँस वृष्टि के आधार पर शुभाशुभ बताने वाला शास्त्र।
45. रूधिरवृष्टि - रक्त की वृष्टि के आधार पर शुभाशुभ बताने वाला शास्त्र।
46. वैताली - वेताल के सिद्ध होने पर इच्छित देशकाल में दण्डे को ऊँचा उठाने वाली विद्या।
47. अर्धवैताली - वैताली की प्रतिपक्षी विद्या।
48. अवस्वापिनी - निद्रा की प्रतिपक्षी विद्या।
49. तालोद्घाटिनी - ताले को खोलनेवाली विद्या।
50. श्वपाकी - मातंगी विद्या। महर्षि कश्यप के सबसे छोटे पुत्र मतंग ने मानसिक व्याधि की चिकित्सा के लिये जो वैज्ञानिक क्रम आविष्कृत किया, वह 'मातंगी विद्या' के रूप में प्रसिद्ध है।[11]
51. शाबरी - शाबरी जाति की या शबर भाषा में निबद्ध विद्या।
52. द्राविडी - तमिल, तेलगु तथा कन्नड तीनों द्राविडी भाषाएँ है। उनमें निबद्ध विद्या द्राविडी है।
53. कालिंगी - कलिंग देश की भाषा में निबद्ध विद्या।
54. गौरी - एक मातंग विद्या।
55. गान्धारी - एक मातंग विद्या।
56. अवपतनी - नीचे गिराने वाली विद्या।
57. उत्पतनी - ऊँचा उठाने वाली विद्या।
58. जृम्भणी - उबासी लाने वाली विद्या।
59. स्तंभनी - स्तंभित करने वाली विद्या।
60. श्लेषणी - जंघा तथा ऊरू को आसन से चिपकाने वाली विद्या।
61. आमयकरणी - रोग उत्पन्न करने वाली विद्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

62. विशल्यकरणी - शल्य को निकालने वाली विद्या। औषधिज्ञान।

63. प्रक्रामणी - भूत दूर करने वाली विद्या।

64. अन्तर्धानी - अदृश्य होने की विद्या।

उन्नीसवें सूत्र में चौदह प्रकार के क्रूर कर्म बतलाये है। इनके अध्ययन से तात्कालीन समाज व्यवस्था में होने वाले आचरणों का स्पष्ट निर्देश मिलता है।

जो महापापी व्यक्ति अपने लिये, जाति, घर, परिवार या परिचित के निमित्त 1. आनुगायिक - (सहगामी) 2. उपचरक - (सेवक) 3. प्रातिपथिक - (बडमार) 4. सन्धिच्छेद - (सेंध लगाने वाला) 5. ग्रन्थिच्छेदक - (जेब कतरा) 6. औरभ्रिक - (भेड़ का वध करने वाला) 7. शौकरिक - (सूअर को मारने वाला) 8. वागुरिक - (शिकारी) 9. चीडीमार 10. मात्स्यिक - (मछुआरा) 11. गोपालक - (ग्वाला) 12. गोघातक 13. श्वपालक - (कुत्तों को पालने वाला) 14. शौवनिक - शिकारी कुत्तों से शिकार करने वाला होता है, वह विपुल कर्मों का बन्ध कर निम्नतम गति में जाता है।

यहाँ मनुष्य का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है - (1) धर्मपक्ष में स्थित (2) अधर्मपक्ष में स्थित तथा (3) मिश्र (धर्म-अधर्म) पक्ष में स्थित।

अधर्म पक्ष के विकल्पों का वर्णन करने के पश्चात् धर्म पक्ष में स्थित मुनि की वृत्ति-प्रवृत्ति का सुन्दर विश्लेषण करते हुए उसे अनेक श्रेष्ठ उपमाओं से उपमित किया गया है। जो गृहस्थ महारम्भी, महापरिग्रही है, वे अधर्म पक्ष में स्थित है। तापस, परिव्राजक आदि मिश्र- (धर्म-अधर्म) पक्ष में स्थित होते है।

अन्त में इन तीनों पक्षों का, धर्म तथा अधर्म इन दों पक्षों में समावेश कर दिया गया है। अधर्म स्थान में क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी इन चार कोटि के प्रावादुकों का भी समावेश हो जाता है, जो 363 भेद वाले है। ये सभी अपने-अपने मत के आग्रही, एकान्तवादी तथा हिंसा का समर्थन करने वाले होने से धर्मपक्ष से रहित है।

यहाँ शास्त्रकार ने 363 मतवादियों को अधर्म स्थानीय सिद्ध करने के लिये एक दृष्टान्त देकर अहिंसा धर्म की प्रधानता सिद्ध की है। जो धर्म अहिंसा से युक्त है, वही कल्याणकारी है, अपवर्ग को देने वाला है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' समस्त प्राणियों को अपने समान देखना ही अहिंसा की सही व्याख्या है। अहिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सुन्दर निदर्शन शास्त्रकार ने इस प्रकार किया है- किसी स्थान पर अनेक प्रावादुक समवसृत है। एक व्यक्ति जलते हुये अंगारों से भरे पात्र को संडासी से पकड़ कर लाता है और एक-एक से कहता है - 'प्रत्येक प्रावादुक अंगारों से भरे इस लोह पात्र को अपने-अपने हाथ में थामे रखे।' वह उस पात्र को उनकी ओर बढ़ाता है। वे सभी अपना हाथ पीछे खींच लेते है। वह पूछता है - आप हाथ पीछे क्यों खींच रहे है ? प्रावादुक कहते है - क्या हमारे हाथ नहीं जल जायेंगे ? तब क्या हमें पीड़ा नहीं होगी? वह व्यक्ति कहता है - जैसे तुम्हें सुख प्रिय है और दु:ख अप्रिय, उसी प्रकार जगत् के समस्त प्राणी सुख चाहते है, जीना चाहते है। कोई दु:ख नहीं चाहता, मरना नहीं चाहता। दु:ख सभी को अकान्त और अप्रिय है। यही आत्मतुला है, यही प्रमाण है, यही आत्मोपम्य का सिद्धान्त है।

इस अध्ययन का सार-संक्षेप यही है कि बारह क्रियाओं में प्रवृत्ति करने वाला कर्म बन्धनों में जकड़कर संसार भ्रमण को बढ़ाता है जबकि तेहरवीं क्रिया में गतिमान् आत्मा संसार का उच्छेद कर सिद्धि को प्राप्त करता है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 165*
   (ब) सूत्रकृतांग चूर्णि - पृ.-336
2. *सूत्रकृतांग चूर्णि - पृ.-336*
3. *ठाणं - 2/2/37*
4. *तत्त्वार्थ सूत्र - 6/6*
5. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 304*
6. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 166*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 304/305
7. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 308*
8. *वही - 309*
9. *आवश्यक निर्युक्ति, अवचूर्णि भाग - 2, पृ. 136*
10. *समवायांग, समवाय 29 का पहला टिप्पण, पृ. - 154-155*
11. *काश्यप संहिता - रेवती कल्पाध्याय-प्राणाचार्य - पृ. - 447, टि.नं. 4 में उद्धृत।*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. आहारपरिज्ञा अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र (द्वि. श्रु.) के तृतीय अध्ययन का नाम 'आहार परिज्ञा' है।

आहार शरीरधारी की प्रथम आवश्यकता है। आहार के बिना शरीर की स्थिति असम्भव है। साधक भी अपनी साधना को गतिमान रखने के लिये आहार ग्रहण करता है परन्तु जो आहार शुद्ध है, निरवद्य है, दोष रहित है, वही आहार शरीर की रक्षा के लिये ग्रहणीय है। प्रस्तुत अध्ययन में इसी बात की ओर साधक का ध्यान आकृष्ट किया गया है कि वह साधना को निराबाध चलाने के लिये कैसा आहार ग्रहण करे, जिससे उसके भावों में, चिन्तन में सतत शुद्धि वर्धमान रहे। इसके अतिरिक्त त्रस तथा स्थावर प्राणियों के जन्म तथा आहार के सम्बन्ध में भी विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

निर्युक्तिकार[1] ने आहार शब्द के भी निक्षेप किये है - नाम आहार, स्थापना आहार, द्रव्य आहार, क्षेत्र आहार और भाव आहार। नाम स्थापना की व्याख्या न करते हुये द्रव्य आहार के तीन प्रकार बताये है - सचित्त, अचित्त और मिश्र।

1. **सचित्त द्रव्याहार** - सचित्त द्रव्य आहार के छह प्रकार है -[2]

(अ) पृथ्वीकाय आहार - लवणादि का आहार।

(ब) अप्काय आहार - पानी का सेवन।

(स) तेजस्काय आहार - अग्निमूषक (अग्नि में उत्पन्न चूहे) अग्नि का आहार करते है। मनुष्य आदि प्रज्ज्वलित अग्नि का आहार नहीं करते पर लोम आहार के रूप में उसका आहार करते ही है।[3]

(द) वायुकाय आहार - लोम आहार के रूप में वायु का सेवन।

(इ) वनस्पतिकाय आहार - कन्दमूल, फल आदि का आहार।

(फ) त्रसकाय आहार - हिंस्र पशु जीवित प्राणी का आहार करते है।

(2) **अचित्त द्रव्याहार** - जीव रहित द्रव्य का आहार अचित्त द्रव्याहार है, जैसे-दूध, घृतादि।

(3) **मिश्रित द्रव्याहार** - सजीव-निर्जीव मिश्रित द्रव्य का आहार मिश्रित द्रव्याहार है।

क्षेत्र आहार - जिस क्षेत्र का जो आहार होता है, वह क्षेत्राहार है। जैसे चावल दक्षिणवासियों का आहार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव आहार - सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों के वर्ण, गंध, रस आदि को अपनी बुद्धि से पृथक्-पृथक् कर उनका (वर्णादि का) आहरण करना, भाव आहार है। आहार जिह्वेन्द्रिय का विषय है। आहार के मुख्य रस है- तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल और मधुर।[4]

आहारक प्राणी की अपेक्षा से भावआहार तीन प्रकार का होता है -

(1) ओज आहार (2) लोम आहार तथा (3) प्रक्षेप आहार।

(1) ओज आहार - ओज अर्थात् शरीर। जो आहार शरीर से लिया जाता है, उसे ओज आहार कहते है। अपर्याप्तक अवस्था में तेजस तथा कार्मण शरीर से लिया जाने वाला आहार, जब तक अपर औदारिक तथा वैक्रिय शरीर की निष्पत्ति नहीं होती, ओज आहार कहलाता है।[5]

जीव अपने उत्पत्ति क्षेत्र में जाकर पहले तेजस तथा कार्मण शरीर से आहार ग्रहण करता है। उसके बाद जब तक उपयुक्त शरीर की निष्पत्ति नहीं होती, तब तक वह औदारिक मिश्र या वैक्रिय मिश्र शरीर से आहार ग्रहण करता है।[6]

कुछ आचार्यों का मत है कि औदारिक आदि शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होने पर भी जीव जब तक इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन: पर्याप्ति से पर्याप्त नहीं होता, तब तक मात्र शरीर पिण्ड से ग्रहण किया जाने वाला आहार भी ओज आहार ही कहलाता है।[7]

ओज आहार लेने वाले सभी जीव अपर्याप्तक होते है, क्योंकि उनके इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन:पर्याप्ति नहीं होती है। शरीर पर्याप्ति का निर्माण आहार पर्याप्ति के होने पर ही होता है।[8]

(2) लोम आहार - निर्युक्तिकार[9] के अनुसार पर्याप्तक जीव लोम आहार ग्रहण करते है। चूर्णिकार ने त्वचा और स्पर्श से आहार लेना लोम आहार माना है।[10] जैसे गर्मी से उत्तप्त प्राणी छाया में जाकर शीतल पुद्गलों को शरीर के समस्त रोम कूपों से ग्रहण करता है तथा शीतल वायु से अपने आप को आश्वस्त करता है, पँखे से हवा लेता है, स्नान करता हुआ पानी के शीतल पुद्गलों को रोम कूपों से ग्रहण करता है, यह सारा लोम आहार है। शीत से कम्पायमान अर्धमृत मनुष्य भी अग्नि के ताप से स्वस्थ हो जाता है। वायु आदि के स्पर्श से होने वाला यह लोमाहार निरन्तर होता रहता है किन्तु यह चर्मचक्षुओं से दिखायी नहीं देता। यह प्रतिसमयवर्ती है।

वृत्तिकार के अनुसार शरीर पर्याप्ति के उत्तरकाल में बाह्य त्वचा और लोम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(रोम) से लिया जानेवाला आहार लोम आहार है।[11]

3. प्रक्षेप आहार - कवल आदि के प्रक्षेप से लिया जाने वाला आहार प्रक्षेप आहार है। इसका संबंध क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से है। कवलाहार नियतकालिक होता है, सदा सर्वदा नहीं होता। पर्याप्तक जीव लोम आहार एवं प्रक्षेप आहार अर्थात् कवलाहारी होते है।[12] एकेन्द्रिय जीवों, देवताओं तथा नारकीय जीवों के प्रक्षेप आहार नहीं होता। शेष संसारी जीवों के प्रक्षेप आहार होता है।[13] उत्तरकुरु तथा देवकुरु के निवासी तीन-तीन दिन के अन्तर से प्रक्षेप आहार करते है। संख्येयवर्षायुष्क वाले प्राणी भी निरन्तर प्रक्षेप आहार नहीं करते। उनके भी स्पर्श से निरन्तर आहार होता है।

कुछ आचार्य इन तीन प्रकार के आहारों की भिन्न व्याख्या करते है।[14]

(1) प्रक्षेप आहार - जो आहार जिह्वा से ग्रहणकर स्थूल शरीर में प्रक्षिप्त किया जाता है, वह प्रक्षेप आहार है।

(2) ओज आहार - जो आहार घ्राण, चक्षु और कर्ण से ग्रहणकर धातुओं के रूप में परिणत किया जाता है, वह ओज आहार है।

(3) लोम आहार - जो केवल स्पर्शन इन्द्रिय से ग्रहणकर धातु रूप में परिणत किया जाता है, वह लोम आहार है।

इसी क्रम में निर्युक्तिकार ने अनाहारक जीवों का भी कथन किया है।[15] निम्नोक्त चार अवस्थाओं में जीव आहार ग्रहण नहीं करता -

(1) भवान्तर मे जाते समय वक्रगति (विग्रहगति) में रहा हुआ जीव आहार ग्रहण नहीं करता। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार[16] संसारी जीव विग्रहगति में एक या दो समय अनाहारक होता है।

(2) केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे तथा पाँचवे समय में।

(3) सादिक अनिधन- शैलेषी अवस्था से प्रारम्भ कर अनन्त काल तक।

(4) सिद्धावस्था में।

इन चार अवस्थाओं के अतिरिक्त समस्त अवस्थाओं में जीव आहार ग्रहण करता है।

स्थानांग सूत्र में आहार संज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण बताए हैं -[17]

(1) जठराग्नि के प्रदीप्त होने से (2) क्षुधा वेदनीय कर्मोदय से (3) आहार ज्ञान से तथा (4) आहार की चिन्ता से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी क्रम में वृत्तिकार ने[18] केवलीभुक्ति का निषेध करने वाले विद्वानों का मन्तव्य प्रस्तुत करते हुये यह स्पष्ट किया है कि केवली में कवलाहार ग्रहण करने के चार कारण विद्यमान है- (1) पर्याप्तित्व, (2) वेदनीय उदय, (3) आहार को पचाने वाला तेजस शरीर तथा (4) दीर्घायुष्कता। ये चारों ही कारण केवली में केवलज्ञान होने से पूर्व भी विद्यमान थे तथा केवलज्ञान होने के पश्चात् भी शैलेषी अवस्था के पूर्व तक विद्यमान रहने से केवली शैलेषीकरण की पूर्व अवस्था तक कवलाहार ग्रहण करते है। इसमें कोई भी युक्ति बाधक नहीं हो सकती।

बौद्ध परम्परा में आहार का एक प्रकार कवलिकार आहार माना गया है, जो गन्ध, रस एवं स्पर्श रूप है। कवलिकार आहार दो प्रकार का है - औदारिय या स्थूल आहार तथा सूक्ष्म आहार। जन्मान्तर प्राप्त करते समय गति में रहे हुये जीवों का आहार सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म प्राणियों का आहार भी सूक्ष्म ही होता है, इसके अतिरिक्त स्पर्श आहार मनस्, चेतना एवं विज्ञान रूप तीन प्रकार के आहार और माने गये है, जो कामादि तीन धातुओं में रहते है।[19]

प्रस्तुत अध्ययन में आहार और योनि के आधार पर वनस्पति के बारह प्रकार निर्दिष्ट किए हैं -

1. पृथ्वीयोनिक वृक्ष
2. वृक्षयोनिक अध्यारोह वृक्ष
3. उदकयोनिक वृक्ष
4. उदकयोनिक अध्यारोह वृक्ष
5. पृथ्वीयोनिक तृण
6. उदकयोनिक तृण
7. पृथ्वीयोनिक औषधि
8. उदकयोनिक औषधि
9. पृथ्वीयोनिक हरित
10. उदकयोनिक हरित
11. पृथ्वीयोनिक कुहण
12. उदकयोनिक कुहण

इन प्रत्येक के चार-चार आलापक हैं।

सूत्रकार ने अध्ययन के प्रारम्भ में बीजकाय के प्रकार तथा आहार के सम्बन्ध में विवेचना की है। जिनका शरीर ही बीज है, ऐसे बीजकाय वाले जीव चार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के होते है- अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज तथा स्कन्धबीज।

(1) जिनके बीज अग्रभाग में उत्पन्न होते है, वे बीज अग्रबीज है - जैसे ताड, आम, शाल, कोरण्टक आदि।

(2) जो मूल से उत्पन्न होते हैं, वे मूलबीज कहलाते है - जैसे अदरक आदि।

(3) जो पर्व से उत्पन्न होते है, वे पर्वबीज कहलाते है - जैसे इक्षु आदि।

(4) जिनके डंठल बीज रूप में काम आते है, वे स्कन्धबीज कहलाते है - जैसे शल्लकी आदि।

ये चारों ही वनस्पतिकायिक जीव अपने-अपने जीव से अपेक्षित काल, जल, भूमि तथ साथ ही कर्म से प्रेरित होकर उत्पन्न होते है, तथापि ये पृथ्वीयोनिक कहलाते है क्योंकि इनकी उत्पत्ति का कारण जैसे बीज है, वैसे ही पृथ्वी भी है। इसी अनुक्रम में वृक्षयोनिक अर्थात् वृक्ष से उत्पन्न होने वाले वृक्ष तथा वृक्षयोनिक वृक्षों में ही वृक्ष रूप उत्पन्न होने वाले वृक्षयोनिक वृक्षों की भी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि तथा आहारादि का वर्णन किया गया है। यहाँ एक बात स्पष्ट की गयी है कि वृक्ष के अंगोपांग के रूप में उत्पन्न मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक् (छाल), शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज इन दस अवयवों के जीव पृथक्-पृथक् है और वृक्ष का सर्वांग व्यापक जो जीव है, वह इनसे पृथक् है। ये सब वनस्पतियोनिक वनस्पति जीव है।

इस प्रकार यहाँ कुछ शब्दों को बदलकर पुन: उन्हीं आलापकों की पुनरावृत्ति के द्वारा, वनस्पतिकायिक जीवों के विभिन्न प्रकार बताते हुए वनस्पति में जीवत्व की सिद्धि की है।

उल्लेखनीय है कि शाक्यमतानुयायी स्थावरों को जीव का शरीर नहीं मानते। परन्तु इन्हें विशिष्ट आहार मिलने पर जो संवर्द्धन तथा न मिलने पर जो कृशता परिलक्षित होती है, वह इनमें जीवत्व को ही सिद्ध करती है।

त्रसकाय के प्रकरण में मनुष्य, जलचर, स्थलचर तथा खेचर के आहार पदों का वर्णन है। अन्तिम आलापक द्वारा अध्ययन का उपसंहार करते हुये सामान्य रूप से समस्त प्राणियों की अवस्थाओं का कथन किया है।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि षड्जीवनिकायों में वनस्पति पाँचवा जीवनिकाय है। प्रस्तुत अध्ययन में उसका वर्णन पहले कर फिर पृथ्वीकाय आदि का वर्णन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्यों ? इस सन्दर्भ में चूर्णिकार तथा वृत्तिकार का यह कथन है कि पाँच स्थावरकायों में वनस्पति ही एक ऐसा जीवनिकाय है, जिसका चैतन्य अन्य स्थावर जीवनिकायों से स्पष्टतर है। इसकी चेतनता प्रत्यक्ष दृष्टिगत होने से सहज स्वीकार्य है, जबकि शेष चार स्थावरकायों के प्रति श्रद्धा होना दुष्कर होता है। इसलिए उनका वर्णन पश्चात् किया गया है।[20]

कतिपय लोग ऐसा मानते है कि इस जन्म में जीव जैसा होता है, वह अगले जन्म में भी वैसा ही जीवन धारण करता है। अर्थात् पुरुष-पुरुष रूप में तथा स्त्री-स्त्री रूप में उत्पन्न होती है। जिस प्रकार आम के बीज से आम का ही वृक्ष उत्पन्न होता है, बबूल का नहीं। इस तर्क का भी यहाँ खण्डन किया है।

शास्त्रकार कहते है 'सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा कम्मोवगा कम्मणियाणा कम्मगइया कम्मठिइया कम्मणा चेव विप्परियासमुवेंति' अर्थात् समस्त प्राणी अपने-अपने विभिन्न कर्मानुसार ही गति, योनि, स्थिति आदि को प्राप्त करते है। जीव मात्र को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है तथापि पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से वे नाना योनियों में भटकते हुए दुःख सहन करते है।

विवेकी साधक इन समस्त प्राणियों के प्रति अहिंसा तथा करूणा का भाव रखे। तथा जिस आहार से हिंसा होती है, ऐसा सावद्य आहार ग्रहण न करे। साधक प्रस्तुत आहार परिज्ञा अध्ययन से ज्ञ परिज्ञा द्वारा हेय-ज्ञेय-उपादेय को सम्यक्तया समझे तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा हेय (सावद्य) दोष से दूषित आहार का त्याग करे। जो संयम पालन में सदा यत्नशील है, आहार शुद्धि में सजग है, वही साधक निर्वाण को प्राप्त होता है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 169-171*
   ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 342/343
2. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 376*
3. *वही*
4. *वही*
5. *अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 170*
   ब). सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 377
   स). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 343-344

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 343*
7. *वही*
8. *(क) सूत्रकृतांग निर्युक्तिगाथा - 172 : ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा।*
   (ख) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 377
   (ग) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 343/344
9. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 172*
10. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 377 : तयाइ फासेण लोम आहारो।*
11. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 343*
12. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 171/172*
13. *अ). वही, गा. 173*
    ब). सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 377/378
14. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 378*
15. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 174*
16. *तत्त्वार्थ सूत्र - 2/31*
17. *ठाणं - 4/579 'चउहिं ठाणेहिं आहार सण्णा समुपज्जइ, - तं जहाओमकोट्ठयाए, छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मईए, तयट्ठोवओगेणं' इति।*
18. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 345/346*
19. *अभिधान कोश, तृतीय कोश स्थान, श्लोक - 38-44*
20. *(अ) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 384*
    (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 352-355

4. प्रत्याख्यान क्रिया अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र (द्वि.श्रु.) के चतुर्थ अध्ययन का नाम 'प्रत्याख्यान क्रिया' है। प्रत्याख्यान का अर्थ है- विरति और अप्रत्याख्यान का अर्थ है- अविरति। अविरति आश्रव है। यह कर्मागमन का द्वार है। जब तक यह द्वार खुला है, तब तक कर्म आते रहते है। विरति रूपी द्वार से कर्म का आगमन बंद हो जाता है।

प्रत्याख्यान शब्द जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। कोष के अनुसार इसके निम्नलिखित अर्थ है[1] -

1. त्याग करने का निश्चय (संकल्प) लेना।
2. परित्याग करने की प्रतिज्ञा करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. निन्द्य कर्मों से निवृत्ति लेना।

4. अहिंसादि मूलगुणों तथा सामायिकादि उत्तरगुणों के आचरण में बाधक सिद्ध होने वाली प्रवृत्तियों का यथाशक्ति त्याग करना।[2]

निर्युक्तिकार[3] ने प्रत्याख्यान के छः निक्षेप किये है। नाम, स्थापना सुगम है। द्रव्य प्रत्याख्यान में द्रव्यों-पदार्थों के उपभोग का त्याग होता है। द्रव्य प्रत्याख्यान सचित्त, अचित्त तथा मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है। मुनि सभी सचित्त द्रव्यों का यावज्जीवन के लिये त्याग करता है। श्रावक भी सचित्त पानी, कन्दमूल, फल आदि वनस्पति का त्याग करता है। कोई यावज्जीवन के लिए अचित्त मद्य-माँस आदि का परित्याग करता है। कोई एक विगय का, कोई सभी का, तो कोई महाविगयों का प्रत्याख्यान करता है।[4] भाव प्रत्याख्यान के दो भेद है - अन्तःकरण से शुद्ध साधु या श्रावक के मूलगुण प्रत्याख्यान तथा उत्तरगुण प्रत्याख्यान।

प्रस्तुत अध्ययन में भाव प्रत्याख्यान ही विवक्षित है। भाव प्रत्याख्यान क्रिया निरवद्य अनुष्ठान रूप होने से आत्मशुद्धि के लिये साधक है, इसके विपरीत अप्रत्याख्यान क्रिया सावद्यानुष्ठान रूप होने से आत्मशुद्धि में बाधक है। जो आत्मा भाव प्रत्याख्यान नहीं करता, वह अप्रत्याख्यान भावक्रिया से उत्पन्न कर्मबन्ध तथा उससे निष्पन्न संसार में भटकता रहता है। प्रत्याख्यान न करने वाले को भगवान ने असंयत, अविरत, असंवृत्त, बाल, सुप्त तथा पापक्रिया कहा है। ऐसा पुरुष विवेक रहित होने के कारण सतत कर्मबन्ध करता रहता है।

प्रस्तुत अध्ययन में संवाद शैली अपनायी गयी है, जिसका प्रारम्भ "सुयं मे आउसं तेण" से होता है।

अध्ययन के प्रारम्भ में अप्रत्याख्यानी आत्मा केस्वरूप तथा प्रकार सम्बन्धी चर्चा की गयी है। यहाँ मूलपाठ में जीव शब्द के स्थान पर आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है। वृत्तिकार का अभिमत है कि 'आत्मा' शब्द का ग्रहण जैनेतर दर्शनों के निरसन के लिए किया गया है। जैसे-[5]

1. अप्रत्याख्यानी आत्मा नानाविध योनियों में भ्रमण करता है। आत्मा का व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी यही है, 'जो विभिन्न योनियों या गतियों में परिभ्रमण करता है।'[6]

2. बौद्ध दर्शन में आत्मा के एकान्त क्षणिक होने से उसका प्रत्याख्यानी होना सम्भव नहीं है। अतः बौद्ध दर्शन सम्मत आत्मसम्बन्धी मान्यता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का निराकरण भी "आत्मा" शब्द से हो जाता है।

3. सांख्य आत्मा को उत्पत्ति-विनाश से रहित स्थिर (कुटस्थ) एक स्वभाव वाला मानते है। ऐसा स्थिर आत्मा न तो नाना योनियों में गमन कर सकता है, न ही कोई प्रत्याख्यान। तथा आत्मा को स्थिर माना जाये तो वह तिनके को भी नहीं मोड़ सकता, तब प्रत्याख्यान तो असम्भव ही है। इस प्रकार सांख्यसम्मत आत्मा की मान्यता अयुक्तिसंगत है, यह सूचित करने के लिये ही आत्मा शब्द का प्रयोग किया है।

चूर्णिकार का मत है कि प्रत्याख्यान-अप्रत्याख्यान में आत्मा का ही संबंध है, क्योंकि प्रत्याख्यान आत्मा ही कर सकता है, अजीव घट, पटादि नहीं। जिस आत्मा ने पूर्ण सावद्य योग का प्रत्याख्यान कर लिया, वह पूर्ण प्रत्याख्यानी होता है।[7]

संवाद की शृंखला में शिष्य द्वारा यह प्रश्न किया जाता है कि जिसके मन, वचन, काया पापयुक्त है, जो समनस्क है, जो हिंसा युक्त मनोव्यापार से युक्त है, वचन द्वारा भी पाप-प्रवृत्ति करता है तथा काय द्वारा भी हिंसा करता है, वह पापकर्म का बंध करे-यह ठीक है, परन्तु जो अमनस्क है, जिनके मन, वचन, काया पापयुक्त नहीं है, क्या वह भी पापकर्म का बंध करता है?

शास्त्रकार इस प्रश्न का समाधान करते है कि जिस जीव ने प्रत्याख्यान द्वारा, आश्रव द्वार का निषेध नहीं किया है, चाहे उसके मन, वचन, काया पापयुक्त न हो, वह अमनस्क हो तो भी अप्रत्याख्यानी होने के कारण सतत पापकर्म का बंध करता रहता है। इसे स्पष्ट करने के लिये शास्त्रकार ने एक सुन्दर रूपक की कल्पना की है-

जैसे एक व्यक्ति वधक (वध करने वाला) है। उसने सोचा कि अमुक गृहस्थ, गृहस्थ पुत्र या राजपुरुष की हत्या करनी है। अभी थोड़ी देर विश्राम कर लूँ। मौका पाते ही उसके घर में घुसकर उसे खत्म कर दूँगा। ऐसा दुष्ट चिन्तन करने वाला सोते हुये, जागते हुये, बैठते हुये निरन्तर वध करने की भावना से व्याप्त होता है तथा मौका मिलते ही किसी भी समय अपनी हत्या की भावना को क्रिया रूप में परिणत भी कर सकता है। अपनी इस हिंसक मनोवृत्ति के कारण वह निरन्तर पापकर्म का बंध करता रहता है। अत: जो जीव सर्वथा संयम रहित है, प्रत्याख्यान रहित है, वे समस्त षड्जीवनिकाय के प्रति हिंसक भावना से ओत-प्रोत होने के कारण कर्मबंध करते रहते है। इस पाप कर्मबंध रूप आश्रव को रोकने के लिये प्रत्याख्यान संवर द्वार है।[8] सावद्य क्रियाओं का जितना त्याग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जाता है, उतने ही अंश में पापकर्म का बंध स्वत: रूक जाता है।

जो जीव असंयत, अविरत, अप्रत्याख्यानी होते है, उनके अमर्यादित मनोवृत्ति के कारण पाप के समस्त द्वार खुले रहते है। परन्तु जो प्रत्याख्यान रूप मर्यादा को स्वीकार करता है, वह उसमें अपनी आत्मा को सुरक्षित तथा पापकर्म से मुक्त करता है।

अध्ययन की समाप्ति में सूत्रकार ने साधक को आत्मतुला के सिद्धान्त से समस्त जीवों के प्रति अहिंसा रखने का निर्देश दिया है। जो साधक 18 पापस्थानकों से विरत होकर किसी भी प्रकार की सावद्य क्रिया का सेवन नहीं करता, वही साधक संयत, विरत तथा संवरयुक्त है। प्रस्तुत अध्ययन की वृत्ति में वृत्तिकार ने नागार्जुनीय वाचना का पाठान्तर भी दिया है।[9]

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *पाइअसद्दमहण्णवो - पृ. - 57*
2. *जैन साहित्य का बृहद इतिहास भाग-1/ पृ. - 162*
3. *अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 179/180*
   ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 360,361
4. *सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. - 389-390*
5. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 361*
6. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 361 :अतति सतलं (विभिन्न गतिषु योनिषु च) गच्छतीति आत्मा।*
7. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 390, 391*
8. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 363, 364*
9. *वही - 364*

5. आचारश्रुत अणगार श्रुत अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के (द्वि. श्रु.) पञ्चम अध्ययन का नाम 'आचारश्रुत' है। प्रस्तुत अध्ययन में आचार का वर्णन होने से इसका 'आचारश्रुत' यह नाम सार्थक है।

अनाचार का प्रतिषेध होने से निर्युक्तिकार ने इसका दूसरा नाम 'अनगार-श्रुत' भी बतलाया है।[1] वृत्तिकार ने भी मतान्तर के रूप में इसी नाम की पुष्टि की है।[2] साधक जब तक समग्र अनाचारों का त्याग या प्रत्याख्यान नहीं करता, तब तक वह पंचमहाव्रतों तथा अष्ट प्रवचन माता का सम्यक् आराधक नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकता। इस प्रकार अनाचारों को जानकर उसके त्याग का वर्णन होने से प्रस्तुत अध्ययन को अनाचार श्रुत भी कहा जा सकता है।[3]

निर्युक्तिकार के अनुसार आचार तथा श्रुत का विवेचन पहले किया जा चुका है।[4] चूर्णिकार ने इसे स्पष्ट करते हुये लिखा है कि 'आचार शब्द के निक्षेप दशवैकालिक के तृतीय क्षुल्लिकाचारकथा अध्ययन की निर्युक्ति में तथा श्रुत पद का निक्षेप उत्तराध्ययन के प्रथम विनय श्रुत अध्ययन की निर्युक्ति में उपलब्ध है।[5]

आचार के नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव ये चार निक्षेप है। द्रव्य आचार अर्थात् द्रव्य का उस अवस्था में परिणमन।

1. **द्रव्य आचार** के छह प्रकार है - नामन (झुकाना), धावन (धोना), वासन (सुगन्ध देना), शिक्षापण (शिक्षण), सुकरण (सरलता से रूपान्तरित करना), अविरोध-अविरूद्ध मिश्रण।

2. **भाव आचार** के पाँच प्रकार है -

दर्शन आचार, ज्ञान आचार, चारित्र आचार, तप आचार तथा वीर्य आचार।

(1) दर्शनाचार के आठ प्रकार - नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थिरिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

(2) ज्ञानाचार के आठ प्रकार - काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नवण, व्यंजन, अर्थ और तदुभय।

(3) चारित्राचार के आठ प्रकार - पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों से प्रणिधान - योगयुक्त होना।

(4) तपाचार के बारह प्रकार - अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति संक्षेप, रसपरित्याग, काय क्लेश, प्रतिसंलीनता रूप बाह्यतप तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग रूप आभ्यन्तर तप में अग्लान तथा निस्पृह रहना तपाचार है।

(5) वीर्याचार - जो अपने बल तथा वीर्य का गोपन नहीं करता, जो शास्त्रोक्त विधि से आचार में पराक्रम करता है तथा अपने सामर्थ्यानुसार स्वयं को उसमें नियोजित करता है, वह वीर्याचार है।[6]

'श्रुत' पद के चार निक्षेप है - नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव।

द्रव्यश्रुत - श्रुत का ग्रहण और श्रूत का निह्नवन करना।

भावश्रुत - श्रुत में उपयुक्त-तन्मय।[7]

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है- साधु आचार तथा अनाचार का ज्ञाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर आचार पालन तथा अनाचार त्याग में कुशल व निपुण बने। वह अनाचार रूप कुमार्ग को छोड़कर आचार रूप सुमार्ग का पथिक बने, जिससे अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

आचारश्रुत अध्ययन 33 गाथाओं में ग्रथित है। प्रारम्भिक गाथाओं में एकान्तवाद को मिथ्याकथन एवं अनाचार के रूप में उल्लिखित किया गया है। द्वितीय गाथा में जगत् की नित्यता तथा अनित्यता के विषय में उहापोह है। कुछ दार्शनिक शाश्वतवादी है, कुछ अशाश्वतवादी। सांख्यदर्शन के अनुसार द्रव्य अनादि अनन्त है, जबकि बौद्ध दर्शन के अनुसार द्रव्य सादि-सांत अर्थात् उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है। ये दोनों ही दृष्टियाँ- ऐकान्तिक शाश्वतवाद तथा ऐकान्तिक अशाश्वतवाद-दोषपूर्ण है। यहाँ तीसरी अनेकान्त दृष्टि को सम्यक् बताया गया है। वह है- शाश्वत-अशाश्वतवाद।

दार्शनिक फलितार्थ यह है कि एकान्तवाद मिथ्या है, अव्यवहार्य है। अनेकान्तवाद सम्यग् है , व्यवहार्य है। जो दार्शनिक लोक को एकान्तत: शाश्वत या अशाश्वत, जगत्कर्त्ता को एकान्तत: नित्य या अनित्य, प्राणी को एकान्तत: कर्मबद्ध या कर्ममुक्त, एकान्तत: सदृश या विसदृश मानते है, वे मिथ्या प्रवाद करते है। आगे की गाथाओं में सूत्रकार ने 17 प्रतिपक्षी युगलों का कथन किया है। इनका संज्ञान सम्यक्त्व की पृष्ठभूमि बनता है, इसलिये शास्त्रकार ने इनके अस्तित्व को स्वीकार करने का परामर्श दिया है।

इन युगलों से उस समय की दार्शनिक मान्यताओं का भी बोध होता है। कुछ दार्शनिक जीव, धर्म, बंध, पुण्य, देवता, स्वर्ग आदि को स्वीकारते थे और कुछ उनको नकारते थे। जैन दर्शन इन सबके अस्तित्व को स्वीकार करता है। ये युगल इस प्रकार है - लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, वेदना-निर्जरा, क्रिया-अक्रिया, क्रोध-मान, माया-लोभ, प्रेम-द्वेष, चातुर्गतिक संसार-अचातुर्गतिक संसार, देव-देवी, सिद्धि-असिद्धि, सिद्धिगति-असिद्धिगति, साधु-असाधु, कल्याण-पाप।

चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने इन सबको स्याद्वाद के आधार पर सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है।[8]

इस अध्ययन में व्यवहारिक अनाचारों का कथन न कर, सैद्धान्तिक अनाचारों अर्थात् एकान्तवाद सेवन न करने का परामर्श दिया गया है। यहाँ दर्शन-दृष्टि और वचन का अनाचार विवक्षित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत अध्ययन में आचार शब्द दर्शन आचार तथा वाक् आचार अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संयमी साधक तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट आचरणीय मार्ग में अपने आप को स्थापित करे, यही इस अध्ययन का फलितार्थ है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 183 - 'तो अणगार सुयंति य होई नामं तु एयरस।'*
2. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 371 - केषाचिन्मतेनैतस्याध्ययनस्य अनगाश्रुत मित्येतन्नाम भवति इति।*
3. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 402*
4. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 182 'आयार सुयं भणियं।'*
5. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 402*
6. *निर्युक्ति पंचक - खण्ड 3, दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा - 154-161*
8. *उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा - 29*
7. *(क) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 407-409*
   (ख) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 377-382

6. आर्द्रकीय अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के षष्ठम अध्ययन का नाम 'आर्द्रकीय' है।

मुनि आर्द्रक का विभिन्न मतवादियों के साथ वाद-प्रतिवाद का संकलन होने के कारण प्रस्तुत अध्ययन का नाम आर्द्रकीय रखा गया है। निर्युक्तिकार[1] ने आर्द्र शब्द के चार निक्षेप किये है - नाम आर्द्र, स्थापना आर्द्र, द्रव्य आर्द्र तथा भाव आर्द्र है।

नाम तथा स्थापना निक्षेप को गौण करके द्रव्य आर्द्र के विभिन्न उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किये गये है -

अ. उदकार्द्र - पानी से मिट्टी आदि द्रव्य को आर्द्र करना।

ब. सारार्द्र - बाहर से शुष्क तथा मध्य से आर्द्र, जैसे - श्रीपर्णी फल।

स. छविआर्द्र - स्निग्ध त्वचा वाले द्रव्य, जैसे - मुक्ताफल, रक्त, अशोक आदि।

द. वसार्द्र - वसा-चर्बी से आर्द्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इ. श्लेषार्द्र - स्तंभ, कुड्य आदि वज्रलेप से लिप्त।

भावार्द्र - राग भाव से जो जीव आर्द्र है, वह भावआर्द्र है।

निर्युक्तिकार ने द्रव्यार्द्र के अन्य तीन प्रकार भी बताये है-

(1) एकभविक - जो जीव एक भव के द्वारा स्वर्ग से आकर यहाँ मनुष्य भव में आर्द्र कुमार के रूप में उत्पन्न होगा।

(2) बद्धायुष्क - जिसने आर्द्रकुमार के रूप में उत्पन्न होने का आयुबंध कर लिया है।

(3) अभिमुखनामगोत्र - जो अनन्तर समय में ही आर्द्रक रूप से उत्पन्न होगा।

इसी प्रकार जो जीव आर्द्रक के आयुष्य, नाम, गोत्र का अनुभव करता है, वह भावार्द्रक है। यद्यपि शृंगबेरादि के भी आर्द्रक संज्ञा होती है, परन्तु यहाँ उनकी अपेक्षा से प्रस्तुत अध्ययन की विवक्षा नहीं है।

आर्द्रकपुर में आर्द्रक राजा के आर्द्र नामक राजकुमार था। वह अणगार बना, इसलिये आर्द्रक से समुत्पन्न होने के कारण इस अध्ययन का नाम आर्द्रकीय है।[2] यह अनुश्रुति है कि आर्द्रकपुर अनार्य देश में था। कुछ लोगों ने 'अद्द' आर्द्र शब्द की तुलना 'ऐंडन' के साथ भी की है।[3]

निर्युक्तिकार, चूर्णिकार तथा वृत्तिकार तीनों ने आर्द्र शब्द की व्याख्या करते हुये आर्द्रकुमार की जीवनकथा के साथ पूर्वभव पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है, जो संक्षेप में इस प्रकार है।[4]

वसन्तपुर नामक नगर में सामयिक नाम का गृहपति अपनी पत्नी के साथ धर्मघोष आचार्य के पास दीक्षित हो गया। एक बार अपनी पत्नी को गोचरी जाते देखा तो पूर्वभुक्त क्रीड़ाओं की स्मृति हो आयी। साध्वी रूप पत्नी को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने व्रतभंग के भय से अनशनपूर्वक मृत्यु का आलिंगन करके देवगति को प्राप्त किया। मुनि ने जब यह सारा वृत्तान्त जाना तो पश्चात्ताप पूर्वक अनशन कर वह भी देवलोक में उत्पन्न हुआ। साध्वी का जीव देवलोक के च्यवकर वसन्तपुर नगर में एक श्रेष्ठी के घर कन्या के रूप में उत्पन्न हुआ। तथा साधु का जीव आर्द्रदेश में आर्द्रक राजा के पुत्र आर्द्रकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ। आर्द्र कुमार क्रमश: यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ। एक बार आर्द्रक राजा ने प्रीतिवश मगधसम्राट श्रेणिक को विशिष्ट उपहार भेजे। आर्द्रकुमार ने पूछा - सम्राट के कोई पुत्र है ? उनके पुत्र अभय कुमार है, ऐसा ज्ञात होने पर उसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी भेंटस्वरूप मूल्यवान अनेक उपहार भेजे। अभयकुमार ने परिणामिकी बुद्धि से जान लिया कि राजकुमार आर्द्र सम्यग्दृष्टि जीव है तथा निकट भविष्य में ही मुक्ति को प्राप्त करेगा। उसने अपने परम कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुये आर्द्र कुमार को प्रतिबुद्ध करने के लिये एक विशिष्ट प्रकार का उपहार भेजा।

निर्युक्तिकार[5] तथा वृत्तिकार ने स्पष्ट शब्दों में यह उल्लेख किया है कि अभय कुमार ने भेंट में आदि तीर्थंकर ऋषभ की प्रतिमा प्रेषित की थी। यहाँ विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि मधुकर मुनिजीम. द्वारा सम्पादित सूत्रकृतांग[6] में जिन प्रतिमा के स्थान पर मात्र आत्म साधनोपयोगी उपकरण ही उपहार स्वरूप भेजे जाने का उल्लेख है, जबकि अमरसुखबोधिनी व्याख्याकार अमरमुनिजी ने[7] रजोहरण, आसन तथा प्रमार्जनिका का उल्लेख किया है।

सम्प्रदायविशेष से अनुबन्धित होने पर भी जो शास्त्र वचनों में हेराफेरी नहीं करता, मताग्रह तथा पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर श्रुतधर महापुरुषों की वाणी का यथास्वरूप वर्णन, विश्लेषण करता है, वही निष्ठावान साहित्यकार की शर्तों पर खरा उतरता है। इससे वह अपनी लेखनी के साथ तो न्याय करता ही है, साथ ही इतिहास के तथ्यों को भी सुरक्षित रख पाने में सफल हो पाता है।

जिन्होंने 'जिनप्रतिमा' के स्थान पर अन्य उपकरणों का उल्लेख किया है, लगता है उनके लिये निर्युक्तिकार, चूर्णिकार तथा वृत्तिकार के वचन प्रमाणभूत नहीं है अथवा सन्देहास्पद है। अन्यथा प्रभु प्रतिमा के स्थान पर रजोहरणादि का उल्लेख कर वे अपनी साम्प्रदायिकता से उपजी संकीर्ण मनोवृत्ति को उजागर नहीं करते। अस्तु !

आर्द्रकुमार को जिन प्रतिमा के दर्शन से जातिस्मृति ज्ञान की उपलब्धि हुई। पूर्व जन्म के साक्षात् दर्शन से वह संबुद्ध हो गया। उसका मन कामभोगों से विरक्त हो गया। अवसर पाते ही अपने देश से पलायन कर आर्यदेश में पहुँच गया। प्रवज्या ग्रहण करते समय देववाणी गूँजी- 'अभी दीक्षित मत बनो, तुम्हारे भोगावली कर्म शेष है।' परन्तु देववचन की अवमानना कर वह प्रव्रजित हो गया। एकदा विचरण करते हुये आर्द्रक मुनि वसन्तपुर नगर में आये और प्रतिमा में स्थित हो गये। पूर्वभव की पत्नी साध्वी इसी नगर में श्रेष्ठी पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई थी। उसने बालिकाओं के साथ खेल खेलते हुये मुनि का वरण कर लिया। देवताओं ने हिरण्यवृष्टि की। राजा ने उस धन को लेना चाहा तब देवताओं ने निषेध कर दिया। कन्या के पिता ने उस धन का संगोपन कर दिया। आर्द्रक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि इसे अनुकूल उपसर्ग जानकर तत्काल वहाँ से अन्यत्र विहार कर गये।

एक बार उस श्रेष्ठी कन्या से विवाह करने हेतु कुमार आये। कन्या के द्वारा आगन्तुकों के आने का प्रयोजन पूछने पर पिता ने विवाह की बात कही। कन्या ने कहा- तात्! कन्या एक बार ही दी जाती है। मैं भी उसे दी जा चुकी हूँ, जिसका धन आपने सुरक्षित रखा है। पिता ने पूछा- क्या तुम उसे पहचानती हो ? कन्या ने कहा- मैं पाँव के चिन्ह से उन्हें पहचान सकती हूँ।

भवितव्यता के योग से आर्द्रक मुनि विचरण करते हुये उसी नगर में वहीं भिक्षार्थ पहुँच गये, जहाँ वह कन्या भिक्षुओं को दान देती थी। पदचिन्ह देखकर वह तत्काल उन्हें पहचान गयी। अपने पिता से कहा- यही मेरे पति है। आर्द्रक मुनि को देववचन का स्मरण हो आया। कर्मों का उदय और नियति को मान भिक्षुवेश को छोड़कर श्रेष्ठी कन्या के साथ रहने लगे। एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह बारह वर्ष का हो गया, तब आर्द्रक ने अपनी पत्नी से कहा - अब तुम पुत्र के साथ रहो। मैं पुन: प्रव्रजित होना चाहता हूँ। यह सुनकर वह सूत कातने लगी। पुत्र के पूछने पर पिता के दीक्षा लेने की बात कही। तब पुत्र ने सोये हुये पिता को माँ द्वारा काते गये सूत से बाँधते हुये कहा - मेरे द्वारा बांधे जाने पर अब ये कहाँ जायेंगे। सूत के बारह बंध होने के कारण आर्द्रक 12 वर्ष और गृहवास में रहे। ज्योंहि समय पूरा हुआ, मन में चिन्तन उभरा- पूर्वजन्म में मात्र मानसिक रूप से कामभोगों की कल्पना की थी, जिससे अनार्य देश में उत्पन्न होना पड़ा। इस जीवन में तो साधुवेश छोड़कर मन, वचन और काया- तीनों योगों से संसार का सेवन किया है, मेरी आत्मा का उद्धार कैसे होगा ? इन्हीं विचारों में डूबे आर्द्रक घर से निकलकर पुन: प्रव्रजित हो गये।

एकाकी विहार करते हुये राजगृही की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में पाँच सौ चोर मिले, जिन्हें देखते ही मुनि पहचान गये। ये पाँच सौ चोर वे ही व्यक्ति थे, जिन्हें राजा आर्द्रक ने आर्द्रकुमार की पहरेदारी के लिये अंगरक्षक के रूप में नियुक्त किया था और उन्हें चकमा देकर आर्द्रकुमार आर्यदेश में पहुँच कर दीक्षित हो गये थे। वे सभी रक्षक राजाज्ञा की अवहेलना के दण्ड के भय से अटवी में आकर चोर बन गये। आर्द्रक मुनि ने उन्हें प्रतिबोध किया। वे सभी चोर मुनि बन गये।

मुनि आर्द्रक उन सभी को साथ लेकर भ. महावीर के दर्शनार्थ राजगृह आये। नगर के प्रवेश द्वार पर गोशालक, बौद्धभिक्षु, ब्रह्मवादी, त्रिदण्डी तथा हस्ति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तापसों के साथ वाद-विवाद हुआ। सभी ने आर्द्रक मुनि को अपने मत में दीक्षित करने का प्रयत्न किया। उन सभी को पराजित कर वे आगे बढ़े। इतने में एक विशालकाय हाथी अपने बन्धनों को तोड़कर आर्द्रक मुनि के चरणों में वन्दन करने लगा। राजा द्वारा गज बन्धन-मुक्ति के विषय में पूछने पर मुनि आर्द्रक बोले - मनुष्य के पाश से बद्ध मदोन्मत्त हाथी का मुक्त होना उतना दुष्कर नहीं है, जितना दुष्कर है- कच्चे सूत की डोरी से आवेष्टित मेरा बन्धन मुक्त होना। स्नेह तन्तु को तोड़ना अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता है।[8]

आर्द्र कुमार के पूर्वजन्म से लेकर कच्चे सूत्र के विमोचन तक की सम्पूर्ण घटना का वृत्तिकार ने विशद रूप से रोचक वर्णन किया है।[9]

प्रस्तुत अध्ययन में 55 गाथाएँ है, जिनका दर्शनगत विभाग इस प्रकार है -

1-25 = गोशालक द्वारा महावीर पर लगाये गये आक्षेप और आर्द्रक के उत्तर।
26-42 = बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अपने मत की स्थापना और आर्द्रक द्वारा उसका प्रतिवाद।
43-45 = ब्राह्मण धर्म की प्रतिपत्ति के विषय में आर्द्रक का उत्तर।
46-51 = एकदण्डी परिव्राजको (सांख्य) की स्थापना तथा आर्द्रक का प्रत्युत्तर।
52-55 = हस्तितापसों के सिद्धान्त का खण्डन।

इन पाँचों दार्शनिकों के साथ आर्द्रक कुमार का जो वाद-विवाद हुआ, उसका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है -

1. गोशालक के आक्षेप तथा आर्द्रक के प्रत्युत्तर

गोशालक प्रथम गाथा में आर्द्रकुमार को सम्बोधित करते हुये कहते है कि - हे आर्द्र ! श्रमण महावीर जो पहले करते थे, उसे सुनो। पहले वे एकान्त विहारी थे, अब वे देवकृत समवसरण में रहते है। पहले वे मौन रहते थे, अब वे भिक्षुसंघ को धर्मोपदेश देने की धुन में है। पहले वे शिष्य नहीं बनाते थे पर अब तो शिष्यों की भरमार है। इस प्रकार उनका जीवन विरोधाभासों से भरा पडा है। वे अस्थिर चित्त वाले एवं चंचल है। उनके वर्तमान के आचरण में तथा विगत आचरण में स्पष्टत: विरोध दिखायी देता है।

आर्द्रक - भगवान महावीर का एकान्त भाव अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में स्थिर रहने वाला है। राग-द्वेष से रहित त्रिकालज्ञ होने के कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे सहस्रों के बीच रहकर भी एकान्त की ही साधना कर रहे है। क्षान्त, दान्त, जितेन्द्रिय, भाषा के दोषों से मुक्त तथा भाषा के गुणों से युक्त श्रमण महावीर धर्मोपदेश देते है, अहिंसा का आख्यान करते है, इसमें किंचित भी दोष नहीं है।

गोशालक - हमारे मत में एकान्तचारी तपस्वी शीतोदक, बीजकाय, आधाकर्म और स्त्री संग करता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता।[10]

आर्द्रक - यदि सचित्त जल, बीजकाय, आधाकर्म युक्त आहार तथा स्त्री सेवन से पाप नहीं लगता, तब तो सभी गृहस्थ श्रमण हो जायेंगे। क्योंकि वे ये सभी कार्य करते है। जो भिक्षु होकर भी सचित्त बीजकाय, शीतजल तथा आधाकर्मदोष युक्त आहारादि का सेवन करते है, वे पुरुष भिक्षाचर्या, कर्मों का अन्त करने के लिये नहीं अपितु उदरभरण तथा शरीर पोषण के लिये ही करते है। वास्तव में जो षट्काय जीवों का समारम्भ करते या कराते है, चाहे वे द्रव्य से ब्रह्मचारी भी हो, संसार का अन्त नहीं कर सकते। जो हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म तथा परिग्रह से मुक्त है, पंचाश्रव रहित है, वही सच्चा श्रमण है।

गोशालक - ऐसा कहकर तुम सभी मतों का तिरस्कार कर रहे हो।

आर्द्रक - गोशालक ! मैं न तो अन्य मतों का तिरस्कार करता हूँ, न ही निन्दा करता हूँ। हम किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप भी नहीं करते। परन्तु जो दार्शनिक अपने-अपने मत को सत्य बताते हुये अन्य पक्षों को मिथ्या बताते है, उनके इस एकांगी दृष्टिकोण को सत्य तथा यथार्थ कैसे कहा जा सकता है ? वस्तु के अनन्त धर्मों को जानने के लिये अनेकान्तदृष्टि ही उपयोगी है। उसी का आश्रय लेकर मैं वस्तु के यथार्थ स्वरूप को व्यक्त कर रहा हूँ, जिसे निन्दा कहना कथमपि उचित नहीं है, क्योंकि जैसे 'नेत्रवान पुरुष अपनी आँखों से बिल, काँटे-कीड़े और साँप आदि को देखकर उन सबको छोड़कर ठीक रास्ते से चलता है, उसी प्रकार विवेकीपुरुष कुज्ञान, कुश्रुति, (मिथ्या आगम), कुमार्ग और कुदृष्टि के दोषों का भलीभाँति विचार करके सम्यग्मार्ग का आश्रय लेता है। ऐसा करने में कौनसी परनिन्दा है ?'[11] वास्तव में देखा जाये तो वे अन्य दर्शनी ही परनिन्दा करते है, जो पदार्थ के एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य अथवा एकान्त सामान्य या एकान्त विशेष स्वरूप को मानते है। जो अनेकान्तवादी अनेकान्त को मानते है, वे किसी की निन्दा नहीं करते क्योंकि वे तो पदार्थों को कथंचित् सत्, कथंचित् असत् अथवा कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य मानकर सबका समन्वय करते है। ऐसा किये बिना वस्तु स्वरूप का सम्यक् तथा सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि ऐसा करना भी निन्दा है, तब तो आग गर्म होती है, जल ठण्डा होता है, यह कहना भी निन्दा ही होगा।[12]

गोशालक - हे आर्द्रक ! तुम्हारे श्रमण भगवान बड़े भीरू है, इसलिये उद्यानशालाओं, धर्मशालाओं तथा आरामगृहों में निवास नहीं करते। वे समझते है कि इन स्थानों में बड़े-बड़े तार्किक, पण्डित, मेधावी, बुद्धिमान, सूत्र तथा अर्थ के निश्चय को जानने वाले वक्ता रहते है। वे लोग कुछ पूछ ले और उत्तर न दे सकूँ, इससे बेहतर वहाँ नहीं जाना ही है।[13]

आर्द्रक - भगवान महावीर न डरपोक है न विषमदृष्टि है। वे निष्प्रयोजन कोई भी कार्य नहीं करते तथा बालक की तरह बिना विचार किये भी कोई कार्य नहीं करते। वे न किसी बल प्रयोग से, राजाभियोग से धर्मोपदेश करते है। वे अपनी सिद्धि के लिये तथा भव्य जीवों के उद्धार के लिये धर्म देशना देते है। जब वे उपकार होने की सम्भावना को जान लेते है, तो किसी के द्वारा कभी भी पूछे गये प्रश्न का उत्तर दे देते है।[14] (अनुत्तर विमानवासी तथा मन:पर्यव ज्ञानी मुनियों के प्रश्नों का समाधान वाणी के बिना द्रव्यमन से ही कर लेते है।) जहाँ कृत्य की सार्थकता हो वहाँ जाकर अथवा न जाकर समदृष्टि से धर्म का व्याकरण करते है। परन्तु अनार्य मनुष्य दर्शन से भ्रष्ट है, अत: भगवान उनके पास नहीं जाते।

गोशालक - जैसे लाभार्थी वणिक् क्रय-विक्रय की वस्तु को लेकर महाजनों से सम्पर्क करता है, मेरी दृष्टि में तुम्हारा महावीर भी लाभ इच्छुक वणिक् है।[15]

आर्द्रक मुनि - श्रमण महावीर को तुमने जो वणिक् की उपमा दी है, वह आंशिक तुल्यता से लेकर दी है, तब तो मैं तुमसे सहमत हूँ क्योंकि भगवान महावीर जहाँ भी आत्मिक उपकार रूप लाभ देखते है, वहाँ उपदेश करते है। अन्यथा मौन हो जाते है। परन्तु यदि सम्पूर्ण तुल्यता को लेकर वणिक् से भगवान की तुलना की है, तो वह कदापि उचित नहीं है, क्योंकि भगवान सर्वज्ञ है, जबकि वणिक् अल्पज्ञ। सर्वज्ञ होने से समस्त सावद्य प्रवृत्तियों से विरत होने से वे नवीन कर्म का बंध नहीं करते है तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करते है, जबकि वणिक् ऐसा नहीं करते । भगवान मोक्षोदय चाहते है, इस अर्थ में वे लाभार्थी है। वे अन्न, पान, पूजा या प्रतिष्ठा के लिये उपदेश नहीं देते, जबकि वणिक् हिंसा, असत्य, अब्रह्म आदि अनेक पाप का बंध करता है। उनका यह लाभ भी चार गति में भ्रमणरूप है। भगवान जो लाभ अर्जित कर रहे है, वह सादि अनन्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे पूर्ण अहिंसक, परोपकारक, कर्म क्षीण करने के लिये धर्म में स्थित है। उनकी तुलना तुम अहित करने वाले वणिक् के साथ कर रहे हो, यह तुम्हारे अज्ञान के अनुरूप ही है।

2. बौद्धों के अपसिद्धान्त का आर्द्रक मुनि द्वारा खण्डन

बौद्ध भिक्षु - कोई पुरुष खली के पिण्ड को मनुष्य तथा तुम्बे को बालक मानकर पकाये तो हमारे मत में पुरुष तथा बालक के वध का ही पाप लगता है परन्तु यदि कोई म्लेच्छ पुरुष एवं बालक को खली एवं तुम्बा समझकर पकाये तो वह पुरुष एवं बालक के वध का पाप उपार्जित नहीं करता तथा पुरुष व बच्चे को शूल में पिरो 'यह खली की पिण्डी है' ऐसा सोचकर आग में पकाये, वह आहार बुद्धों के भक्षण योग्य है।[16] हे आर्द्रक ! हमारे मत में जो व्यक्ति प्रतिदिन दो हजार भिक्षुओं को भोजन कराता है, वह महान् पुण्य स्कन्ध को अर्जित कर देवगति में आरोप्य नामक सर्वोत्तम देवता होता है।[17]

चूर्णिकार ने इसका विश्लेषण इस प्रकार किया है - बौद्ध भिक्षुओं के अनुसार दूसरे द्वारा घात किये हुए प्राणी का माँस लेने पर हम हिंसा के पाप से लिप्त नहीं होते। माँस ग्रहण में हमारी अनभिसंधी है। त्रिकरण शुद्ध माँस खाने में कोई दोष नहीं लगता क्योंकि बुद्ध स्वयं उसे ग्रहण करते थे , तो भला शिष्यों के लिये कहना ही क्या।[18]

बौद्ध साहित्य में माँस के सम्बन्ध में निम्न प्रकार का निर्देश मिलता है- भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुये बुद्ध कहते हैं - जान-बूझकर अपने उद्देश्य से बने हुये माँस को नहीं खाना चाहिये। जो खाये उसे दुष्कर दोष लगता है। भिक्षुओं ! अदृष्ट, अश्रुत तथा अपरिशंकित इन तीन कोटि से परिशुद्ध माँस खाने की मैं अनुज्ञा देता हूँ।[19]

बौद्ध भिक्षुओं के सिद्धान्त को सुनकर आर्द्रकुमार मुनि ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा- हे शाक्य भिक्षुओं ! तुम्हारा यह सिद्धान्त बड़ा विचित्र है। इस प्रकार प्राणियों की बलप्रयोग से हिंसा करना और उसमें पाप का अभाव कहना, संयमी पुरुषों के लिये उचित नहीं है। जो ऐसा उपदेश देते है और जो सुनते है- वे दोनों ही अकल्याण तथा अबोधि को प्राप्त होते है।

यहाँ चूर्णिकार ने अबोधि का अर्थ अज्ञान किया है। अज्ञान के कारण यदि पाप कर्म का बंध नहीं होता है तो यही सिद्ध होगा कि अज्ञान ही श्रेयस्कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। फिर तुम्हारा यह कहना - 'अविद्या प्रत्यया: संस्कारा' भी उचित नहीं होगा। तब तुम्हारी दृष्टि में संसार के सभी प्राणी सम्यग्दृष्टि हो जायेंगे, विरत और अविरत का भेद ही समाप्त हो जायेगा। सर्वत्र हिंसा और क्रूरता का ताण्डव नृत्य होगा। आज बहुत कठिनाई से किसी व्यक्ति को अहिंसक बनाया जाता है। तुम्हारे कहने के अनुसार तो कुशलचित्त से प्राणीवध करने वाला अहिंसक हो जायेगा। ऐसी स्थिति में सारा संसार अहिंसक कहलायेगा।[20] यदि यह मान लिया जाये कि अज्ञान से दोष नहीं लगता तो वैदिकों का कल्याण बुद्धि से हिंसा करना भी निर्दोष हो जायेगा। और इसी प्रकार 'संसारमोचक' सम्प्रदाय का सिद्धान्त 'दु:ख से तड़फते प्राणी को मार डालना चाहिये' भी सम्मत हो जायेगा।

वृत्तिकार ने इसे और अधिक स्पष्ट किया है - अज्ञान से आवृत्त मूढ व्यक्ति की भावशुद्धि फलवान नहीं होती। यदि फलवान् होती तो संसारमोचक सम्प्रदाय वालों के भी कर्मक्षय हो जायेगा। यदि तुम केवल भावशुद्धि को ही स्वीकार करते हो तो फिर सिरमुण्डन, पिण्डपात, चैत्यपूजा आदि सारे अनुष्ठान व्यर्थ हो जायेंगे।[21]

आर्द्रक मुनि पुन: तर्क प्रस्तुत करते है कि पिण्याकपिण्डी में पुरुष बुद्धि सम्भव नहीं लगती। पुरुष सचेतन है। उसमें हलन चलन आदि क्रियाएँ होती है, तब पुरुष को पिण्याकपिण्डी कैसे समझा जा सकेगा ? यदि तुम कहो कि गहरी नींद में सोये हुये मनुष्य में हलन चलनादि क्रियाएँ नहीं होती है, इसलिये यह सम्भव है तो वस्त्र से आच्छादित यह वस्तु पुरुष है या पिण्याकपिंडी- इन दोनों सम्भावनाओं को जानने वाला नि:शंक होकर प्रहार कैसे करेगा ? जिसमें हिंसा-अहिंसा का विवेक है, वह ऐसा नहीं कर सकता। इसी प्रकार पुरुष को पिण्याकपिण्डी समझने की बात भी बुद्धि से परे है। उसमें भी विमर्श जरूरी होता है। यह पुरुष है या पिण्याक- पिण्डी अथवा यह कुमार है या तुम्बा ? इसलिये कुशलचित्त या अकुशलचित्त कोई भी हो, इन दोनों सम्भावनाओं पर विचार किये बिना नि:शंकतया प्रहार करता है, उसे हिंसक न मानना तथा पापकर्म से अलिप्त मानना मिथ्यावाद है।[22]

आर्द्रक ने अपनी युक्तियों से बौद्ध भिक्षुओं को निरूत्तर कर उनका उपहास करते हुये कहा - बौद्ध भिक्षुओं ! यदि अज्ञान ही श्रेय है, तो तुम ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों करते हो ? ओह ! तुमने ही यथावस्थित तत्त्व को प्राप्त किया है। जीवों के शुभाशुभ कर्म विपाक को तुमने ही समझा है। इस प्रकार के विज्ञान से तुम्हारा यश समुद्रों पार गया है। लगता है- इसी विज्ञान रूपी आलोक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से तुमने इस लोक को हस्तामलक की भाँति देख लिया है। धन्य है तुम्हारे विज्ञान के अतिशय को! जिसके आधार पर तुम पुरुष तथा खलीपिण्ड एवं कुमार व अलाबुक में कोई अन्तर मानने से पाप होना तथा न मानने से पाप नहीं होना बतलाते हो।[23]

आर्द्रक बौद्धमत का खण्डन करने के पश्चात् अपने मत की स्थापना करते हुये कहते है - जैन शासन में संयमी मुनियों ने अन्नविधि में शुद्धता को स्वीकार किया है। वे 42 दोषों से रहित आहार का ही सेवन करते है एवं माँसाहार को निर्दोष नहीं मानते। संयमी साधक सर्व सावद्य प्रवृत्तियों से मुक्त होने के कारण उद्दिष्ट आहार का भी त्याग करते है। जैसे शिरीष पुष्प थोड़े से ताप से ही कुम्हला जाता है, उसी प्रकार श्रामण्य थोड़े से दोष सेवन से अशुद्ध हो जाता है।[24]

इस प्रसंग में वृत्तिकार ने बौद्ध भिक्षुओं के इस तर्क को निरस्त किया है कि चावल आदि धान्य कण भी प्राणी के अंग के सदृश होने के कारण माँस तुल्य है। यह तर्क कथमपि उचित नहीं है। क्योंकि प्राणी का अंग होने पर भी कुछ माँस होता है, कुछ माँस नहीं होता। जैसे दूध और रक्त दोनों ही गाय के अंग होने पर भी दूध भक्ष्य है, माँस अभक्ष्य। स्त्रीत्व की समानता होने पर भी लोक में माता अगम्य और भार्या गम्य मानी जाती है। चावल एकेन्द्रिय प्राणी का अंग है, इतने मात्र से वह माँस की कोटि में नहीं आता। इस प्रसंग में वृत्तिकार ने असिद्ध, अनैकान्तिक और विरूद्ध हेत्वभासों के द्वारा इसमें दोष बताये है।[25] वर्तमान दृष्टि से विचार करे तो एकेन्द्रिय जीव में केवल रस धातु की निष्पति होती है। उसमें रक्त नहीं होता और रक्त बिना माँस धातु की निष्पति नहीं होती। रक्त तथा माँस की निष्पत्ति द्वीन्द्रिय जीवों से प्रारम्भ होती है, अत: माँस तथा अन्न की तुलना संगत नहीं है।

बौद्धों का यह कथन भी निराधार और मिथ्या है कि जो व्यक्ति प्रतिदिन दो हजार बोधिसत्व भिक्षुओं को भोजन कराता है, वह उत्तमगति को प्राप्त होता है। ऐसे माँसाहारी भिक्षुओं को भोजन कराने वाला असंयमी है। उसके हाथ रक्त से सने रहते है, अत: वह परलोक में अनार्य लोगों की गति प्राप्त करता है अर्थात् तीव्र ताप को सहने वाला नरकसेवी होता है।

3. वेदवादी ब्राह्मणों के साथ आर्द्रक का प्रतिवाद

वेदवादी - जो प्रतिदिन दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को भोजन कराता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, वह महान पुण्यराशि का उपार्जन कर देवगति में उत्पन्न होता है। ऐसा हमारा वेदवाक्य है।

आर्द्रक मुनि - मार्जार की तरह घर-घर भटकने वाले दो हजार स्नातकों को जो खिलाता है, वह तीव्र वेदनामय नरक में जाता है क्योंकि वैडालिकवृत्ति वाले माँसभक्षी ब्राह्मणों को भोजन कराना कुपात्रदान देना है। दयाप्रधान धर्म की निन्दा तथा हिंसात्मक धर्म की प्रशंसा करने वाला मनुष्य यदि एक भी दुःशील को भोजन कराता है, तो वह माँसभक्षी, वज्र-चंचु पक्षियों से परिपूर्ण तथा भयंकर वेदनायुक्त नरक में उत्पन्न होता है।[26]

4. एकदण्डी परिव्राजक (सांख्यमतवादी) एवं आर्द्रक मुनि का तात्विक संवाद

एकदण्डी साधक - हे आर्द्रक मुने ! तुम्हारे तथा हमारे सिद्धान्त में कोई खास अन्तर नहीं। श्रमण धर्म तथा सांख्य धर्म अनेक बातों में समान है। जैसे- हम जिन्हें पाँच यमों के रूप में स्वीकारते है, उन्हें आप पंच महाव्रत कहते है। तुम्हारी तरह हम भी युगमात्र भूमि देखकर चलते है। हमारा शील प्रधान आचार भी समान है। हम भी केसरिका (रजोहरण) रखते है। पुनर्जन्म की मान्यता में भी कोई भेद नहीं है किन्तु हम एक अव्यक्त, लोकव्यापी, सनातन, अक्षय तथा अव्यय आत्मा को मानते है। वह सभी चेतन-अचेतन भूतों में सर्वात्मना स्थित है। जैसे सभी ताराओं के साथ एक ही चन्द्रमा संबंध रखता है, वैसे ही सभी आत्माओं के साथ विश्वव्यापी एक ही आत्मा संबंध रखती है।[27]

आर्द्रक मुनि - हे एकदण्डियों ! तुम्हारी एकात्मवादी मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा को सर्वव्यापी मानने पर नरक, तिर्यंच, मनुष्य आदि भेद नहीं किये जा सकेंगे। आत्मा को सर्वगत मानने से न जीव मरेंगे, न संसार में भ्रमण करेंगे। न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और प्रेष्य होंगे, न कीट, पक्षी और सर्प होंगे। क्योंकि असर्वगत आत्मा के लिये ही संसार घटित होता है। सर्वव्यापी होने की स्थिति में विभिन्न गतियों और योनियों में परिवर्तन कैसे सम्भव होगा ? परिपूर्ण ज्ञान से लोक को जाने बिना जो दूसरों को धर्मोपदेश देते है, वे अपना एवं दूसरों का नाश करते है। जो पूर्ण केवलज्ञान के द्वारा समाधियुक्त हो लोकस्वरूप को समझकर धर्मोपदेश देते है, वे स्वयं संसार से तिरते है और दूसरों को भी तारते है।[28]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार तिरस्कार योग्य ज्ञानवाले आत्माद्वैतवादियों को और सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन-चारित्र युक्त जिनों को अपनी समझ में समान बतलाकर हे आयुष्यमान् ! तुम अपनी ही विपरीतता प्रकट करते हो।

वृत्तिकार ने एकात्मावाद के आधार पर इसे वेदान्त दर्शन का अभिमत कहा है।[29] किन्तु वास्तव में यह विचारणीय है। सांख्यदर्शन की अपेक्षा वेदान्तदर्शन बहुत अर्वाचीन है। सांख्य दर्शन की दो धाराएँ रही है - एक ईश्वरवादी तथा दूसरी अनीश्वरवादी। ईश्वरवादी धारा में एकेश्वरवाद सम्मत रहा है। पातंजलयोगदर्शन में इसकी स्पष्ट प्रकल्पना है। उसके अनुसार ईश्वर सदैव मुक्त है, अनादि सिद्ध है।[30]

प्राचीन काल में श्रमण परम्परा में भी कुछ श्रमण सम्प्रदाय ईश्वरवादी थे। सांख्य एक श्रमण सम्प्रदाय था और उसका एक भाग ईश्वरवादी भी था। इस दृष्टि से प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या वेदान्त दर्शन से सम्बद्ध नहीं होनी चाहिये किन्तु इसका सम्बन्ध सांख्य दशर्न से है और इसका सबसे बड़ा प्रमाण है 'पुरुष' शब्द का प्रयोग। वेदान्त ब्रह्मवादी है, पुरुषवादी नहीं।

5. हस्तितापसों की मिथ्याधारणा का आर्द्रक मुनि द्वारा युक्तियुक्त प्रत्युत्तर

हस्तितापस - हे आर्द्रकुमार ! हम द्वादशाग्र, अभ्युदयकामी हस्तितापस परम कारूणिक है। वन में निवास करने से मूल, कन्द, फूल, फल आदि अनेक जीवों के घात करने पर भोजन होता है। अत: हम इसे दोषयुक्त जानकर संवत्सर (वर्ष) में एक बार विषलिप्त बाण से एक बड़े हाथी को मारकर उसके माँस से अपनी आजीविका चलाते है। हम एक ही जीव का घात करते है, अन्य सारे जीवों की रक्षा करते है। जबकि अन्य तापस, जो कन्द, मूल, फल, फूल आदि खाते है, वे अनेक वनस्पतिकायिक जीवों का तथा उनके आश्रय में रहने वाले अनेक प्राणियों का घात करते है। एक प्राणी के वध का जो हमें पाप होता है, उसको हम आतापना, उपवास, जाप, ब्रह्म-पालन द्वारा क्षीण कर देते है। हमारा यह हस्तितापस मत स्मृतियों में भी विहित है।[31]

आर्द्रकुमार - हिंसा-अहिंसा की न्यूनाधिकता का नापतौल मृत जीवों की संख्या के आधार पर नहीं बल्कि उनकी इन्द्रियों, मन, शरीर आदि के विकास के आधार पर किया जाता है। वर्ष भर में एक ही प्राणी के घात से सिर्फ एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का ही घात नहीं होता अपितु उस प्राणी के आश्रित रहे हुए खून, माँस, चर्बी आदि में उत्पन्न स्थावर एवं जंगम प्राणियों का भी घात होता है। अत: तुम हिंसा के दोष से कदापि नहीं बच सकते। श्रमणधर्म में प्रव्रजित पुरुष 42 भिक्षा दोषों से रहित आहार को ही ग्रहण करते है। उनके द्वारा चींटी का घात भी सम्भव नहीं है। तुम पंचेन्द्रिय प्राणी के घातक होने से घोर हिंसक हो। जो पंचेन्द्रिय जीव की हत्या करता है, वह नरकगामी होता है। अहिंसा की उपासना तो माधुकरी वृत्ति (गोचरी) से ही सम्भव है। ऐसी हिंसक प्रवृत्ति करने वाले अनार्य लोगों को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

जो मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का पालन करता है, जो समाधि भाव में स्थित है तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सम्पन्न है, वही मुनि केवलज्ञान को प्राप्त कर संसार समुद्र से तैरने का यथार्थ उपदेश देता है।[32]

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 184-186*
2. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 187*
3. *जैन साहित्य का बृहद इतिहास भाग - 1 पृष्ठ - 164*
4. *(अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 191-197*
   (ब). सू. चूर्णि पृ. - 414
   (स). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 387-388
5. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 193 : 'तेणावि सम्मद्दिट्ठित्ति, होज्ज पडिमा रहंमि गया।'*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 387 : 'यदादि तीर्थंकरप्रतिमा संदर्शनेन तस्यानुग्रह: क्रियत।'
6. *सूत्रकृतांग सूत्र, द्वि. श्रु. (मधुकर मुनि) पृ. - 164*
7. *सूत्रकृतांग सूत्र, द्वि. श्रु. अमरसुख बोधिनी व्याख्या पृ. - 342*
8. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 200*
   ण दुक्करं वा णरपासमोयणं, गयस्स मत्तस्स वणम्मि रायं!
   जहा 'उवत्तावलिएण' तंतुणा, सुदुक्करं मे पडिभाति मोयणं॥
9. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 387/388*
10. *सूत्रकृतांग सूत्र - 2/ 6/7*
11. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 392*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

12. वही, 393
13. सूत्रकृतांग सूत्र - 2/6/15-16
14. वही, 2/6/7
15. वही, 2/6/19
16. वही, 2/6/26-28
17. वही, 2/6/29
18. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. 428-429 - : ण लिप्पति पावबन्धेण अम्हं, एवं तावदस्माकं अपचेतनकृतप्राणातिपाते नास्ति, यद्यपिच भवानन्यो वा कश्चिन्मन्यते अनपाये अपायदेशी यथा भवंतो मांसासिन इति तत्रापि अनभिसंधित्वादेवास्माकं त्रिकरणशुद्धमासं भक्षयतां नास्ति दोषः। बुद्धस्सवि ताव कप्पति किमुत ये तच्छिष्याः?
19. विनयपिटक, महावग्ग, भैषज्य खन्धक 6/4-8
20. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 430
21. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 397
22. (अ) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 431-432 (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 398
23. (अ) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. 431-432 (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र 398
24. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 436
25. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 398
26. सू. कृ. सू. - 2/6/43-45
27. वही, 2/6/46-47
28. वही, - 2/6/48-50
29. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र 402 : वेदान्ताद्यात्माद्वैतमतेन व्याख्यातव्यः।
30. पातंजल योगदर्शन - 1/24-29
31. सूत्रकृतांग सूत्र - 2/6/52
32. वही, 2/6/22-55

7. नालन्दीय अध्ययन

सूत्रकृतांग सूत्र (द्वि. श्रु.) के सप्तम तथा अन्तिम अध्ययन का नाम 'नालन्दीय' है। 'न अलं ददाति इति नालन्दा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार न+अलं+दा इन तीन शब्दों से स्त्रीलिंगवाची नालन्दा शब्द निर्मित होता है। न तथा अलं, ये दो निषेधवाचक शब्द है, जो एक विधि को प्रकट करते है। दा अर्थात् देना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न अर्थात् नहीं और अलं अर्थात् पर्याप्त, बस। इन तीनों अर्थों का संयोग करने पर जो अर्थ निष्पन्न होता है, वह इस प्रकार है - जहाँ देने की बात में किसी ओर से बस, ना नहीं है। अर्थात् जहाँ सभी दान देने के लिये तत्पर है, उस नगरी का नाम नालन्दा है। दान लेने वाला चाहे आजीवक हो, चाहे परिव्राजक, चाहे श्रमण हो अथवा ब्राह्मण, सभी के लिये दान सुलभ है।

निर्युक्तिकार[1] ने नालंदा शब्द के नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव ये चार निक्षेप करते हुए अलं शब्द के तीन अर्थों को सूचित किया है -

(अ) पर्याप्तिभाव - सामर्थ्य, जैसे- अलं मल्लो मल्लाय।

(ब) अलंकार - अलंकृत करने के अर्थ में- अलंकृतं (महावीर ने ज्ञातकुल को अलंकृत किया)

(स) प्रतिषेध - अलं मे गृहवासेन- अब मैं गृहवास में नहीं रहना चाहता।

निर्युक्तिकार[2] तथा वृत्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन का नाम नालन्दीय होने के पीछे दो कारण प्रस्तुत किये है -

1. नालन्दा के समीप मनोरथ नामक उद्यान में गणधर गौतम द्वारा पार्श्वापत्यीय पेढ़ालपुत्र उदक के साथ संवाद या धर्मचर्चा होने के कारण तथा

2. नालन्दा से सम्बन्धित विषय होने के कारण।

कहा जाता है - यहाँ राजा श्रेणिक तथा बड़े-बड़े श्रेष्ठी सामन्तों का इस नगरी में निवास होने से इस नगरी का 'नारेन्द्र' नाम भी प्रख्यात हुआ, जिसका मागधी उच्चारण नालेन्द्र, बाद में ह्रस्व होने पर 'नालिन्द' तथा इ का अ होने पर नालन्दा हुआ।

नालन्दा की प्रसिद्धि जितनी जैनागमों में है, उतनी ही बौद्धपीटकों में भी है। आगे के समस्त अध्ययनों में साध्वाचार का वर्णन किया गया है परन्तु आलापकों में निबद्ध इस अध्ययन के प्रारम्भ में शास्त्रकार ने नालन्दा निवासी लेप नामक उदार, धर्मनिष्ठ, श्रद्धानिष्ठ श्रमणोपासक का वर्णन किया है। लेप परमतत्वज्ञ तथा जैनधर्म का अनन्य श्रद्धालु था। उसके घर का मुख्यद्वार सदैव याचकों के लिये खुला रहता था। दानवीर तथा अनेक विशिष्ट गुणों से सम्पन्न उसका निर्मल यश चारों और फैला हुआ था। वह इतना विश्वस्त था कि राजा के अन्त: पुर में भी उसका प्रवेश बेरोकटोक होता था। उस लेप ने नालन्दा के इशान कोण में "सेसदविया" अर्थात् शेषद्रव्या नामक एक विशाल उदकशाला निर्मित करवायी थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृत्तिकार[3] ने शेषद्रव्या का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है कि अपने निवास के लिये बनाये गये मकान से जो शेष सामग्री (द्रव्य) बचे, उस द्रव्य द्वारा उस उदकशाला का निर्माण करवाना। सम्भवत: इसी कारण उसका शेषद्रव्या ऐसा नाम रखा गया होगा। उस उदकशाला के ईशान कोण में हस्तियाम नामक हरा-भरा शीतल वनखण्ड था, जिसमें श्रमण महावीर के प्रथम गणधर एक बार ठहरे। उस समय पार्श्वापत्यीय पेढ़ालपुत्त उदक नामक निर्ग्रन्थ ने उनके पास आकर प्रत्याख्यानविषयक शंका, जिज्ञासा प्रस्तुत की, जिसका इन्द्रभूति गौतम ने सोदाहरण विस्तृत समाधान किया।

उदक ने गौतम स्वामी से श्रावक के प्रत्याख्यान विषयक प्रश्न पूछते हुये कहा- आर्य गौतम ! आपके कुमारपुत्र नामक निर्ग्रन्थ श्रमण श्रावकों को इस प्रकार प्रत्याख्यान कराते है- तुम्हारे राजा आदि अभियोग को छोड़कर 'गृहपति-चोर ग्रहण-विमोक्षण' न्याय से त्रस प्राणियों की हिंसा करने का प्रत्याख्यान (त्याग) है। इस प्रकार का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है, क्योंकि उनके द्वारा अन्य सूक्ष्म या बादर प्राणियों का उपघात होता है। उस हिंसा का अनुमतिजनित कर्मबंध साधु को क्यों नहीं होता ?

उपरोक्त संवाद में 'अभियोग' शब्द परतंत्रता अथवा बलात् आज्ञा के अर्थ में है, जो पाँच प्रकार का है[4] -

1. **राजाभियोग** - राजाभियोग या राजाज्ञा से की जाने वाली प्रवृत्तियाँ, जैसे - युद्ध करना, हिंसक पशुओं को मारना आदि।

2. **गणाभियोग** - गण-समुदाय की परतंत्रता से प्रवृत्ति करना।

3. **बलाभियोग** - बलशाली व्यक्ति की परवशता से प्रवृत्ति करना।

4. **देवताभियोग** - देवाज्ञा से कार्य करना।

5. **महत्तराभियोग** - माता-पिता-गुरुजन आदि बड़ों की आज्ञा से कार्य करना।

उदक के मन को समाहित करने के लिये गौतम गणधर ने 'गृहपति-चोर ग्रहण-विमोक्षण न्याय' का दृष्टान्त देते हुए कहा- एक राजा ने वणिक् के छह पुत्रों को आज्ञाभंग के अपराध में मृत्युदण्ड दिया। पिता ने राजा से कहा- मेरी सारी सम्पत्ति ले-लें परन्तु आप मेरे छहों पुत्रों को मुक्त कर दे। राजा ने प्रार्थना स्वीकार नहीं की। तब वह वणिक् हताश होकर पाँच, चार, तीन, दो पुत्रों के जीवनदान की राजा से याचना करने लगा। जब राजा नहीं माना तो अन्त में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसने कहा- कुलपरम्परा के सर्वक्षय को रोकने के लिये आप एक पुत्र को जीवनदान दे। राजा ने ज्येष्ठ पुत्र को जीवनदान देकर मुक्त कर दिया।[5]

साधु भी श्रावक को सम्पूर्ण प्राणातिपात से विरत होने का उपदेश देते है, जैसे वणिक् ने छहों पुत्रों के जीवनदान की याचना की थी। जब श्रावक सर्व प्राणातिपात से विरत होने में अपने आपको असमर्थ पाता है, तब उसे उसकी शक्ति के अनुरूप व्रत ग्रहण कराया जाता है। जब राजा ने छह, पाँच, चार, तीन, दो को मुक्त करने की प्रार्थना अस्वीकार कर ली, तब उससे कम से कम एक पुत्र को मुक्त करने का निवेदन किया गया। हालाँकि वणिक् के मन सभी पुत्रों के प्रति समान प्रेम था, मृत्युदण्ड पाने वाले शेष पाँच पुत्रों के वध की तनिक भी अनुमति नहीं थी, वैसे ही यथाशक्ति व्रत ग्रहण करवाने पर शेष प्राणिवध की अनुमति साधु की नहीं हो सकती है। इससे अनुमतिजन्य पाप कर्मबंध की बात व्यर्थ हो जाती है।[6]

पार्श्वापत्यीय उदक ने गौतम स्वामी के समक्ष कुछ और प्रश्न रखे, जिनका सार संक्षेप में इस प्रकार है -

उदक - गौतम ! जब कोई श्रमणोपासक आपके श्रमण के पास प्रत्याख्यान करने आते है, तो वे अभियोगों को छोड़कर त्रस प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान करवाते है। इस प्रकार का प्रत्याख्यान कराने वाले तथा करने वाले दोनों के दुष्प्रत्याख्यान होता है। वे दोनों अपनी प्रतिज्ञा का भंग करते है। कारण कि कर्मवशात् त्रस जीव स्थावर योनि में उत्पन्न होते है। जिसने त्रस जीवों की हिंसा का त्याग किया है, वह स्थावर जीवों का घात करता हुआ, स्थावरकाय में उत्पन्न त्रस जीवों की भी हिंसा करता है। क्या यह व्रतभंग नहीं है ? जैसे किसी व्यक्ति ने यह प्रतिज्ञा की कि 'मैं अमुक नागरिक पुरुष का वध नहीं करूँगा' और यदि वह नागरिक अन्यत्र जाकर अन्य नगरी का नागरिक बन जाए तो क्या उसका वध करने से व्रतभंग नहीं होता ? सुप्रत्याख्यान की परिभाषा यह होनी चाहिए की मैं त्रसभूत प्राणी की हिंसा नहीं करूँगा।

गौतम - उदक ! तुम्हारी यह भाषा हृदय में अनुताप और सन्ताप पैदा करने वाली है। जैसे कोई व्यक्ति यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं 'ब्राह्मण को नहीं मारूँगा।' वह ब्राह्मण किसी वर्णान्तर में या मरकर तिर्यंच में उत्पन्न हो जाता है, तो क्या उस वर्णान्तर या तिर्यंच के वध से ब्राह्मण का वध होना माना जायेगा ? क्योंकि प्रतिज्ञा करते समय उसने 'ब्राह्मण भूत' नहीं कहा था। तुम्हारा यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथन अयथार्य है। वास्तव में देखा जाये तो वर्त्तमान में जो त्रस प्राणी है, वे भूतकाल में चाहे स्थावर रहे हो या और कोई, अथवा भविष्य में स्थावर बनेंगे या अन्य योनियों में जायेंगे, उनसे प्रत्याख्यानी का कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्याख्यानी के प्रत्याख्यान का सम्बन्ध उसकी वर्त्तमान जाति अर्थात् जीवों से है और उन्हीं की हिंसा का त्याग है। स्थावर काय प्राणी भी यदि वर्त्तमान में त्रस रूप में उत्पन्न होंगे तो श्रावक उनके वध का त्याग भी अवश्य करेगा। अत: जो ब्राह्मण के वध का त्यागी है, वह अन्य पर्यायों में या अन्य शरीर में उत्पन्न हुए उस ब्राह्मण के जीव का घात करता है, तो उसका व्रतभंग नहीं होता।

दूसरी बात है कि यह 'भूत' शब्द का प्रयोग निरर्थक है। त्रस के साथ भूत शब्द जोड़ने पर प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान हो जाता है या प्रतिज्ञाभंग नहीं होती, ऐसा कहना भ्रामक है। क्योंकि जो अर्थ 'त्रस' पद से प्रतीत होता है, वही त्रसभूत से प्रतीत होता है। अत: त्रस तथा त्रसभूत दोनों शब्द एकार्थक है।

चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने 'भूत' शब्द पर विस्तार से विमर्श किया है। भूत शब्द औपम्य (उपमा या सादृश्य) तथा तादर्थ्य- इन दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'यह अन्त:पुर देवलोकभूत (देवलोक सदृश) है।' यहाँ 'भूत' शब्द का प्रयोग उपमा के अर्थ में हुआ है। नगर को देवलोक 'भूत' कहने का अर्थ नगर देवलोक नहीं बल्कि देवलोक जैसा है। त्रसभूत का अर्थ भी त्रस सदृश (तुल्य) होगा। ऐसा होने पर 'त्रस जैसे प्राणी के वध का त्याग' होगा। परन्तु त्रस प्राणियों की हिंसा का त्याग नहीं होगा। मगर यह अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं है।

तादर्थ्य में 'भूत' शब्द का प्रयोग व्यर्थ है। जैसे- शीतीभूत उदक शीत कहलाता है, वैसे ही त्रसीभूत जीव त्रस कहलाता है। यहाँ 'भूत' शब्द किसी न्यूनाधिक अर्थ को प्रकट नहीं करता, तब त्रस शब्द के प्रयोग पर आपत्ति क्यों होनी चाहिए।[7]

उदक - गौतम ! तुम त्रस प्राणियों को ही त्रस कहते हो या अन्य प्राणियों को त्रस कहते हो?

गौतम - उदक ! जिन्हें तुम त्रसभूत कहते हो, उन्हींको हम त्रस कहते है। वर्त्तमान में जो प्राणी त्रस नामकर्म के उदय को प्राप्त है, वे ही त्रस है।

उदक - गौतम ! मेरी यह स्थापना है कि यदि सभी त्रस जीव एक काल में स्थावर हो गये तो श्रमणोपासक का यह प्रत्याख्यान असफल और निरर्थक हो जायेगा। क्योंकि त्रसकाय के सभी जीव स्थावरकाय में और स्थावरकाय के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी जीव त्रसकाय में उत्पन्न हो सकते है।

गौतम - उदक ! तुम्हारी यह मान्यता अयथार्थ है। ऐसा न कभी हुआ है, न होगा कि सभी त्रस जीव एक साथ स्थावर हो जाये, त्रस नाम का कोई प्राणी इस संसार में रहे ही नहीं। स्थावर अनन्त है, जबकि त्रस असंख्येय है। यह सही है कि काल की अपेक्षा से त्रस स्थावर में उत्पन्न होंगे पर दूसरे अनेक प्राणी त्रस में आकर उत्पन्न होते रहेंगे। अत: त्रस शून्य संसार की कल्पना व्यर्थ है। फिर ऐसे त्रस भी बहुत है, जिनका घात मनुष्य कर ही नहीं सकता, जैसे- देवलोक, नारकीय जीव, वैक्रियलब्धि से कृत वैक्रिय शरीर तथा तैंतीस सागर की आयुष्य वाले जीव। इन जीवों की अपेक्षा से श्रमणोपासक के सुप्रत्याख्यान ही होगा।

इसके अतिरिक्त तुम्हारे मतानुसार भी तो सभी जीवों को संसरणशील मानने पर सभी स्थावर त्रस रूप में उत्पन्न हो जायेंगे, तब श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सर्वप्राणी विषयक हो जायेगा। इस प्रकार तुम्हारी मान्यता से तुम्हारे ही पक्ष का खण्डन हो जाता है।

उदक - गौतम ! कोई व्यक्ति त्रस जीव को मारने का प्रत्याख्यान करता है। वे त्रस जीव जब स्थावरकाय में उत्पन्न होते है, तब स्थावर काय की हिंसा करते हुये उस व्यक्ति का व्रत भंग नहीं होता ?

गौतम - उदक ! तुम्हारे इस तथ्य को समझाने के लिये ये तीन दृष्टान्त पर्याप्त है-

1. कोई व्यक्ति मुनि की हत्या न करने का व्रत लेता है- 'मैं यावज्जीवन किसी श्रमण का घात नहीं करूँगा।' कोई मुनि पाँच-सात-दश वर्ष तक श्रामण्य का पालन कर पुन: गृहवास को स्वीकार कर गृहस्थी बन जाता है। जिसने मुनि हत्या न करने का व्रत लिया है, उसके द्वारा श्रमण अवस्था से पुन: लौटकर आये हुये व्यक्ति का वध करने पर प्रत्याख्यान भंग होता है ?

उदक - नहीं।

गौतम - कोई गृहस्थ विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर वर्षों तक संयम का पालन करता है। फिर किसी कारणवश वह गृहवास में लौट जाता है। प्रव्रज्या ग्रहण से पूर्व गृहस्थावस्था में हिंसा का परित्याग नहीं था। जब मुनि बना तो हिंसा का प्रत्याख्यान किया। अब पुन: गृहस्थी बनने पर क्या उसके सब प्राण, सब भूत, सब जीव और सब सत्वों के प्रति हिंसा का त्याग होगा ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदक - नहीं।

गौतम - कोई परिव्राजक निर्ग्रन्थ प्रवचन में अनुरक्त बनकर श्रामण्य को स्वीकार करता है। कुछ वर्ष साथ रहने के पश्चात् वह निर्ग्रन्थों से अलग होकर परिव्राजक बन जाता है। यह वही व्यक्ति है, जिसके साथ श्रमण अवस्था से पहले भोजन आदि का सम्बन्ध नहीं था और श्रमण अवस्था में भोजन आदि का सम्बन्ध था। अब वही व्यक्ति है, जिसके साथ अश्रमण अवस्था में भोजन आदि सम्बन्ध नहीं है। पहले अश्रमण था, बाद में वह श्रमण हुआ, अब अश्रमण है। क्या श्रमण निर्ग्रन्थ उस अश्रमण के साथ भोजन आदि का सम्बन्ध रखते है?

उदक - नहीं।

गौतम - हे उदक ! इसी प्रकार जिस श्रमणोपासक ने त्रस जीव की हिंसा का त्याग किया है, उसके लिये त्रस जीव हिंसा का विषय नहीं होता। किन्तु वही जीव जब त्रस पर्याय को छोड़कर स्थावर पर्याय में उत्पन्न होता है, तब वह उसके प्रत्याख्यान का विषय नहीं होता।

निष्कर्ष यह है कि प्रत्याख्यान का सम्बन्ध पर्याय से है, द्रव्य जीव से नहीं। जैसे गृहस्थ में लौट आया साधु वध प्रत्याख्यान का विषय नहीं है, गृहवास में लौटे मुनि के हिंसा का सम्पूर्ण त्याग नहीं है, श्रमण से अश्रमण (गृहस्थ) अवस्था में लौट आये व्यक्ति के साथ श्रमण निर्ग्रन्थ का सांभोगिक व्यवहार (भोजनादि) उचित एवं कल्पनीय नहीं है, इसी प्रकार त्रस पर्याय को छोड़कर स्थावर पर्याय में उत्पन्न हुए प्राणी के साथ त्रस प्रत्याख्यानी का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार गौतम स्वामी ने उदक की प्रत्याख्यान विषयक शंका का विस्तृत समाधान किया। इसी क्रम में उन्होंने प्रत्याख्यान के 9 विकल्पों का भी प्रतिपादन किया।

अन्त में गौतम स्वामी उदक को प्रखर शब्दों में कहते है - हे उदक ! जो अपनी क्षुद्र एवं अभिमानी प्रकृति के कारण पण्डित न होने पर भी अपने आप को पण्डित मानने वाला सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना में तत्पर, पापकारी कर्मों से विरत, शास्त्रोक्त आचार का पालन करने वाले उत्तम श्रमणों और माहनों की निन्दा करता है, झुठा आक्षेप लगाकर उन्हें बदनाम करता है, तो वह साधक सुगति स्वरूप परलोक तथा उसके कारणस्वरूप सुसंयम का अवश्य विनाश कर देता है। उदक ने इस कथन को आक्षेपात्मक तथा व्यंग्यात्मक प्रहार समझा और कृतज्ञता ज्ञापित किये बिना ही गौतम की उपेक्षा करके जहाँ से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आया था, वहाँ जाने लगा। तब गौतम ने कहा- 'उदक ! तुम बिना कहे ही चले जा रहे हो ? श्रेष्ठ पुरुषों का यह आचार है कि जो व्यक्ति तथारूप श्रमण या ब्राह्मण से एक भी आर्य, धार्मिक, हितकर, सुवचन सुनकर हृदय में अवधारण करता है, वह अपने हितैषी उपदेशक के प्रति कृतज्ञ हो उपकार मानता है, उनके प्रति नतमस्तक हो विनय करता है, उनकी गुणगाथा करता है और यह मानता है कि इन्हीं से मुझे योगक्षेम रूप पद का उपदेश मिला है। हालाँकि पूज्यनीय पुरुष अपनी कीर्ति या प्रतिष्ठा नहीं चाहते, परन्तु उस कृतज्ञ साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह उसका बहुमान करे। तुम कृतज्ञता ज्ञापित किये बिना यों ही चले जा रहे हो? क्या यह उचित है ?'[7]

गौतम स्वामी की इस उपालम्भ भरी टकोर ने उदक के मन मस्तिष्क के सारे रोशनदान उद्घाटित कर दिये, भीतर प्रज्ञा तथा विवेक की रोशनी खिल उठी। उसने अपने अपराध की क्षमायाचना करते हुये कहा- 'भगवन् ! आपसे ही मैंने परमार्थ के रहस्य को प्राप्त किया है। ये पद वस्तुत: आज तक मेरे लिये अश्रुत, अदृष्ट, अस्मृत, अविज्ञात, अनिर्यूढ, अव्याकृत, अव्यवच्छिन्न, अनि:सृष्ट, अनुपधारित थे। भदन्त ! अब मैं इन पर श्रद्धा और प्रतीति करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि चातुर्याम धर्म से सप्रतिक्रमण पंचयाम धर्म को स्वीकार करूँ। पार्श्व की परम्परा से अभिनिष्क्रमण कर महावीर की परम्परा स्वीकार करूँ।'[8]

भ. गौतम उदक को श्रमण महावीर की शरण में ले जाते है, जहाँ वह पार्श्वपरम्परा से महावीर की परम्परा में दीक्षित हो जाता है।

प्रस्तुत घटना यह दिग्दर्शन कराती है कि उस समय में भी भ. पार्श्वनाथ की परम्परा महावीर की परम्परा से पृथक् थी, जो कालान्तर में महावीर की परम्परा में विलीन हो गयी।

उदक का गौतम के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित किये बिना ही चलने के लिये तत्पर होना भी यह संकेत देता है कि पार्श्वापत्यीय महावीर या गौतम के साथ श्रद्धा एवं विनयपूर्वक प्रतिपत्ति नहीं करते थे।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 201-202*
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 406-407
2. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 203/204*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र 407

3. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 409

4. उपासकदशा-1/45, वृत्ति प.-23

5. (अ) सूत्रकृतांग चूर्णि - पृ. 452-453
   (ब) सूत्रकृतांगवृत्ति पत्र - 413-414

6. (अ) सूत्रकृतांग चूर्णि - पृ. 456-457 (ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र 412-413

7. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 425-426 8. सूयगडो, 2/7/34-36

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4

सूत्रकृतांग सूत्र में वर्णित वादों का दार्शनिक विश्लेषण

1. पञ्चमहाभूतवाद

सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में विभिन्न मतवादियों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। वादों के इस क्रम में सर्वप्रथम पञ्चमहाभूतवाद का स्वरूप बताया गया है, जो इस प्रकार है -

'इस लोक में पंचमहाभूत है, ऐसा किन्हीं ने कहा है। (वे पंचमहाभूत है) पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।

इन पाँच महाभूतों से एक आत्मा उत्पन्न होता है, ऐसा (लोकायतिक) कहते है। इन पाँचों के नष्ट होने पर देही (आत्मा) का नाश होता है।[1]

सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त 'एगेसिं' पद से चूर्णिकार ने पंचभूतवादियों का ग्रहण किया है। वृत्तिकार ने इस शब्द से बार्हस्पत्यमतानुसारी (लोकयतिक) भूतवादियों का ग्रहण किया है।[2]

आत्मा के अस्तित्व का निषेध करनेवाले दार्शनिक भूतवादी कहलाते है। यहाँ वृत्तिकार ने एक प्रश्न उठाया है कि सांख्य, वैशेषिक आदि भी पंचमहाभूतों का सद्भाव मानते है, फिर प्रस्तुत श्लोक में प्रतिपादित पंचमहाभूतों के कथन को लोकायतिक मत की अपेक्षा से ही क्यों मानना चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान वे स्वयं देते है कि सांख्य प्रधान से महान्, महान् से अहंकार और अहंकार से षोडश पदार्थों की उत्पत्ति को मानता है। वैशेषिक काल, दिग्, आत्मा आदि तथा अन्य वस्तु-समूह को भी मानता है। परन्तु लोकायतिक (चार्वाक) पाँचभूतों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अतिरिक्त किसी आत्मा आदि तत्त्व का अस्तित्व नहीं मानते। अत: प्रस्तुत वाद को लोकायतिक मत कहा गया है।

पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश ये पाँचभूत सर्वलोकव्यापी है, अत: इन्हें 'महाभूत' कहा गया है।[3] शरीर में जो कठोर भाग है, वह पृथिविभूत है। शरीर में जो कुछ रूप या द्रवभाग है, वह अप्भूत है। शरीर में जो कुछ उष्ण स्वभाव या शरीराग्नि है, वह तेजस् भूत है। शरीर में जो चल स्वभाव या उच्छ्वास-निश्वास है, वह वायुभूत है। शरीर में जो शुषिर स्थान है, वह आकाशभूत है।[4]

पंचभूतों से चैतन्य की उत्पत्ति - ये पंचमहाभूत सर्वजन प्रत्यक्ष होने से महान् है। इस विश्व में इनके अस्तित्व से न कोई इन्कार कर सकता है, न ही इनका खण्डन कर सकता है। दूसरे मतवादियों द्वारा कल्पित, पाँचभूतों से भिन्न, परलोक में जानेवाला, सुख-दु:खादि भोगनेवाला आत्मा नामक कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। पृथ्वी आदि पंचभूतों के शरीर रूप में परिणत होने पर इन्हीं भूतों से अभिन्न ज्ञान-स्वरूप एक आत्मा उत्पन्न होता है।

लोकायतिक मतानुसार, जिस प्रकार गुड, महुआ आदि मद्य सामग्री के संयोग से मादक-शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार पंचभूतों के विशिष्ट संयोग से चैतन्य शक्ति की उत्पत्ति होती है।[5] वह चैतन्य-शक्ति पंचभूतों से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह पंचमहाभूतों का ही कार्य है। जैसे- पृथ्वी से उत्पन्न घटादि कार्य पृथ्वी से भिन्न नहीं है, वैसे ही पंचभूतों से भिन्न आत्मा नहीं है, क्योंकि उन्हीं में से चैतन्य-शक्ति प्रकट होती है। जिस तरह जल में बुलबुले उत्पन्न और विलीन होते रहते है, उसी तरह जीव भी इन्हीं भूतों से उत्पन्न होकर इन्हीं में विलीन होते रहते है।

प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम पौण्डरीक अध्ययन में भी पञ्चमहा-भूतवाद का वर्णन पाया जाता है। यह सत्य है कि भाषा एवं शैली की दृष्टि से प्रथम श्रुतस्कन्ध अधिक प्राचीन तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना जाता है, तथापि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्राप्त दार्शनिक विचारों का विश्लेषण भी गम्भीर है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में प्रस्तुत वाद का नामोल्लेख नहीं किया गया है जबकि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इसे पंचमहाभूतवाद बताया गया है।[6] वहाँ चार्वाक या बृहस्पति जैसे किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं है। वर्त्तमान में चार्वाक या बृहस्पति के सिद्धान्त-सूत्र मिलते है, उनमें चार भूतों-पृथिवी, अप्, तेऊ, वायु का ही उल्लेख मिलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इनमें आकाश परिगणित नहीं है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानने वाले चार्वाक अमूर्त्त आकाश को मान भी कैसे सकते है ? दर्शन युगीन साहित्य में चार्वाक-सम्मत चार भूतों का ही उल्लेख मिलता है। आगम युग में पंचमहाभूतवादी थे।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पंचमहाभूतवाद का वर्णन इस प्रकार है- अगाध जल से परिपूर्ण पुष्करिणी में खिले पुण्डरीक कमल को प्राप्त करने की इच्छावाला द्वितीय पुरुष पञ्चमहाभूतवादी है, जिसके अनुसार - इस जगत् में पंचमहाभूत ही सब कुछ है, जिनसे हमारी क्रिया-अक्रिया, सुकृत्-दुष्कृत, कल्याण-पाप, अच्छा-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, नरक-स्वर्ग तथा अन्ततः तृण मात्र कार्य भी इन्हीं पंचमहाभूतों से निष्पन्न होता है। उस भूत समवाय को पृथक्-पृथक् नामों से जानना चाहिए, यथा- पृथ्वी महाभूत, जल महाभूत, तेज महाभूत, वायु महाभूत, आकाश महाभूत। ये पंचमहाभूत अनिर्मित, अनिर्मापित, अकृत, अकृत्रिम, अकृतक, अनादि-अनिधन (अनन्त), अवन्ध्य (सफल), अपुरोहित (दूसरे के द्वारा अप्रवर्तित), स्वतन्त्र और शाश्वत है।[7]

पंचमहाभूतवाद पकुधकात्यायन के दार्शनिक पक्ष की एक शाखा है। बौद्ध-साहित्य में पकुधकात्यायन सम्मत सात कायों का उल्लेख मिलता है। 'पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, सुख, दुःख तथा जीव, ये सात काय (पदार्थ) अकृत, अकृतविध, अनिर्मित, अनिर्मापित, वन्ध्य, कूटस्थ तथा खम्भे के समान अचल है। वे हिलते नहीं, बदलते नहीं, आपस में कष्टदायक होते नहीं और एक-दूसरे को सुख-दुःख देने में भी असमर्थ है। इन सातों में मरनेवाला, मारनेवाला, सुननेवाला, कहनेवाला, जाननेवाला कोई नहीं। जो भी तीक्ष्ण शस्त्र से सिर का छेदन करता है, वह किसी जीव का व्यपरोपण नहीं करता। वह शस्त्र इन सात पदार्थों के अवकाश में घूसता है।[8]

अतीन्द्रिय पदार्थ का निषेध - पंचभूतवादी शरीर से भिन्न आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते। चूँकि आत्मा का अस्तित्व नहीं है, अतः परलोक, पुनर्जन्म और मोक्ष का तो प्रश्न ही नहीं उठता। भूतवादी सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु ही मोक्ष है। वे धर्माचरण को भी महत्त्व नहीं देते। उनका प्रतिपाद्य है कि धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए। इसकी पुष्टि में उनका तर्क है कि उसका फल परलोक में होता है। जब परलोक ही सन्दिग्ध है, तब उसका फल असंदिग्ध कैसे होगा ? कौन समझदार पुरुष हाथ में आये हुए मूल्यवान् पदार्थ को दूसरों को सौंपना चाहेगा? कल मिलने वाले मयूर की अपेक्षा आज मिलनेवाला कबूतर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्छा है। सन्दिग्ध सोने के सिक्के की अपेक्षा निश्चित् चाँदी का सिक्का अच्छा है।[9]

प्रत्यक्ष ही प्रमाण है - लोकायतिक अपने मत को सत्य प्रमाणित करने के लिए प्रमाण का भी सहारा लेते है। इनके अनुसार एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमान आदि प्रमाण मिथ्या भी हो जाते है और उनमें बाधक एवं असम्भव दोष भी हो सकते है। अत: प्रत्यक्ष में उपलब्ध पाँच महाभूतों से भिन्न आत्मा नामक किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं होता। मात्र इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष पदार्थ का ही स्वीकार होने से अतीन्द्रिय पदार्थ- आत्मा, कर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बंध-मुक्ति आदि की सत्ता स्वत: अस्वीकार्य हो जाती है।

पंचमहाभूतवाद का खण्डन

शास्त्रकार ने मूल ग्रन्थ में इस वाद का कहीं भी खण्डन नहीं किया गया है। किन्तु निर्युक्तिकार तथा वृत्तिकार ने इसका खण्डन किया है। निर्युक्तिकार के अनुसार पंचमहाभूतों का गुण चैतन्य नहीं होने से उससे उत्पन्न आत्मा में भी चैतन्य नहीं होगा। जैसे- बालू में तेल उत्पन्न करने वाला स्निग्धता का गुण नहीं है, इसलिये बालू को पीलने से तेल पैदा नहीं होता, उसी प्रकार पंचभूतों में चैतन्य उत्पन्न करने का गुण न होने से, उनके संयोग से चैतन्य उत्पन्न नहीं हो सकता। जिनका गुण चैतन्य से अन्य है, उन पृथ्वी आदि पंचभूतों के संयोग से चेतनादि गुण कैसे प्रकट हो सकते है?

चैतन्य गुण इन्द्रियों का न होने से आत्मा की सिद्धि

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्ररूप पाँच इन्द्रियों के जो उपादान कारण है, उनका गुण भी चैतन्य नहीं होने से भूतसमुदाय का गुण चैतन्य नहीं हो सकता। क्योंकि एक इन्द्रिय के द्वारा जानी हुई बात दूसरी इन्द्रिय नहीं जान पाती, तो फिर मैंने सुना भी, देखा भी, चखा, सूंघा और छुआ भी, इस प्रकार का संकलनरूप ज्ञान किस को होगा? परन्तु यह संकलनज्ञान अनुभवसिद्ध है।[10] इससे प्रमाणित होता है कि भौतिक इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई एक द्रष्टा अवश्य होना चाहिए, और वह द्रष्टा आत्मा ही हो सकता है, भूत समुदाय नहीं क्योंकि चैतन्यगुण आत्मा का है, भूत समुदाय का नहीं। इस सम्बन्ध में इस प्रकार का अनुमान प्रयोग होता है -

भूत समुदाय चैतन्य गुण वाला नहीं है, क्योंकि वह अचेतन गुण वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों से बना है। जो-जो अचेतन गुण वाले पदार्थों से बना होता है, वह सब अचेतन गुण वाला होता है। जैसे- घट, पट आदि।

चार्वाक मत में शरीर और इन्द्रियों के अतिरिक्त 'आत्मा' नहीं माना गया है। अत: आत्मा को द्रष्टा न मानने के कारण चक्षु आदि इन्द्रियों को ही द्रष्टा मानना पडा है। परन्तु पांचों इन्द्रियों के उपादान कारण ज्ञानरूप न होने से इन्द्रियाँ चैतन्य गुण या ज्ञान गुण वाली नहीं हो सकती।

अत: आत्मा अवश्य है, क्योंकि समस्त इन्द्रियों के द्वारा जाने हुए पदार्थों का सम्मेलनात्मक ज्ञान आत्मा के सिवाय किसी को हो नहीं सकता। 'मैंने पाँचों ही विषयों को जाना' यह सम्मेलनात्मक ज्ञान है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय का प्रत्यक्ष करती है, जैसे- आँख रूप को ही देखती है, स्पर्श या शब्दादि का ज्ञान नहीं कर सकती। इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श का ही ज्ञान करती है, रस या गंध का नहीं। अत: इन्द्रियों के द्वारा जाने गये समस्त विषयों और अर्थों को प्रत्यक्ष करने वाला एक आत्मा निश्चय ही है। पाँच खिड़कियों के समान पाँच इन्द्रियाँ उसके प्रत्यक्ष साधन है, जिनसे प्राप्त हुए ज्ञान को इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी कालान्तर में वह स्मरण कर लेता है।[11]

ज्ञानवान् इन्द्रियाँ नहीं, आत्मा है

यदि इन्द्रियों को ही ज्ञानवान् माना जाय तो प्रश्न होता है कि सब इन्द्रियाँ मिलकर ज्ञान का आधार है या पृथक्-पृथक् ? यदि कहे कि सब इन्द्रियाँ मिलकर आधार है, तब तो एक इन्द्रिय का नाश होने पर ज्ञानवान् का ही नाश हो जायेगा। वहाँ फिर ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं होगी क्योंकि ज्ञान के आधार का नाश हो चुका है। यदि कहे कि पृथक्-पृथक् एक-एक इन्द्रिय ज्ञान का आधार है, तब तो किसी कारणवश नेत्र के नष्ट होने पर पहले देखे हुए रूप का स्मरण होना चाहिए किन्तु वह नहीं होता क्योंकि अनुभवकर्त्ता (नेत्र) अब विद्यमान नहीं है।

तात्पर्यार्थ यह है कि जिस अधिकरण में जिस विषय का अनुभव उत्पन्न होता है, उसी अधिकरण में पूर्वोत्पन्न अनुभव से प्राप्त संस्कार के बल से कालान्तर में स्मरण उत्पन्न होता है। ऐसा नहीं होता कि अनुभव एक करे और स्मरण कोई दूसरा करे। यदि दूसरे के द्वारा अवलोकित पदार्थ का स्मरण दूसरे को होने लगे, तब तो सर्वज्ञ के द्वारा देखे गये पदार्थों का स्मरण हम लोगों को हो जाना चाहिए। लेकिन ऐसा कदापि नहीं होता। चूँकि दूसरे के द्वारा देखे गये पदार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को दूसरा स्मरण नहीं कर पाता - 'नान्यद् दृष्टं स्मरत्यन्यो नैकभूतमक्रमात्'। अतएव इन्द्रियाँ चेतनवान् या ज्ञानवान् नहीं है।[12]

पंचभूतों से भिन्न है आत्मा

वृत्तिकार एक शंका प्रस्तुत करते है- यदि पंचभूतों से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है तो फिर मृत शरीर के विद्यमान रहते भी 'वह (शरीरी) मर गया' ऐसा व्यवहार क्यों होता है ? क्योंकि मरते समय भी पाँचों भूत और तज्जन्य चैतन्य शक्ति तो रहती है।

चार्वाक इस शंका का समाधान यों करते है कि शरीर रूप में परिणत पंचभूतों में चैतन्यशक्ति प्रकट होने के पश्चात् उन पाँच भूतों में से वायु या तेज किसी भी एक या दोनों के विनष्ट हो जाने पर देही का नाश हो जाता है, उसी पर से 'वह मर गया' ऐसा व्यवहार होता है, परन्तु यह युक्ति निराधार है। मृत शरीर में भी पाँचों भूत विद्यमान रहते है, फिर भी उसमें चैतन्यशक्ति नहीं रहती। इसलिये यह सिद्ध है कि चैतन्य (आत्मा) पंचभौतिक शरीर से भिन्न है।[13]

जड पंचभूतों के संयोग से चैतन्य आत्मा की उत्पत्ति असंभव है

चार्वाकों की यह युक्ति भी अयथार्थ है कि गुड, आटा, महुआ आदि मद्य के प्रत्येक अंग में न रहने वाली मादकशक्ति उसके समुदाय से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार प्रत्येक भूत में चैतन्यशक्ति न होकर पंचभूतों के समुदाय से चैतन्यशक्ति प्रकट होती है। यहाँ दृष्टान्त और द्राष्टान्तिक में समानता नहीं है। गुड, आटा, महुआ आदि मद्य के प्रत्येक अंग में सूक्ष्म रूप से मादक शक्ति विद्यमान रहती है और वही समुदायावस्था में स्पष्ट रूप से प्रगट होती है। परन्तु यहाँ तो पृथ्वी, अप् आदि प्रत्येक भूत में चैतन्य का सर्वथा अभाव है, तब भूतों के समूह में चैतन्यशक्ति कहाँ से उत्पन्न होगी ?

लोकायतिक यह मानते है कि पंचभूतों के सम्मेलन मात्र से चैतन्यगुण उत्पन्न हो जाता है, पर यह कथन प्रत्यक्ष अनुभव की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। क्योंकि एक कारीगर द्वारा बनायी गयी मिट्टी की एक पुतली में पृथ्वी (मिट्टी), जल, तेज (धूप व पकाते समय अग्नि), हवा तथा आकाश इन पाँचों का संयोग होने पर भी वहाँ चेतना प्रकट होती हुई दिखायी नहीं देती। यदि पाँच भूतों के संयोग से ही चैतन्य उत्पन्न होता है, तो वह पुतली स्वयं बोलती या चलती क्यों नहीं ? जड ही क्यों बनी रहती है ?'[14] इससे स्पष्ट है कि पंचूभतों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के संयोग से चैतन्य उत्पन्न नहीं होता।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा की सिद्धि

पंचमहाभूतवाद का खण्डन करने के साथ वृत्तिकार ने ऐसे अनेक प्रमाणों का उल्लेख किया है, जो आत्मा की सिद्धि करते हैं।

वस्तु का प्रत्यक्ष न होना वस्तु के अभाव का बोधक नहीं है

भूतवादी एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते है। यदि प्रत्यक्ष ही सत्य है, तब तो घर से भागे हुए पुत्र का प्रत्यक्ष न होने से उसके भी अभाव (मृत्यु) का प्रसंग आयेगा। परन्तु ऐसा व्यवहारिक जीवन में नहीं देखा जाता। क्योंकि किसी वस्तु का केवल इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने मात्र से अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष से उसका अभाव तभी सिद्ध होता है, जब वह वस्तु प्रत्यक्ष से जानने योग्य हो, फिर भी न जाना जाता हो। तात्पर्य यह है कि यदि वस्तु का अप्रत्यक्ष वस्तु का अभाव सिद्ध करता हो तो घर के अन्दर रखी हुई वस्तु का भी दीवार आदि की ओट के कारण प्रत्यक्ष न होने से अभाव सिद्ध हो जायेगा।

वास्तव में अतिसमीपता, अतिदूरी आदि बाधकों से रहित प्रत्यक्ष जब किसी वस्तु को नहीं जानता है, तभी उस वस्तु के अभाव का बोध होता है। निम्नोक्त कारणों में प्रत्यक्ष रूप से विषय का ग्रहण न होने से उनका अभाव सिद्ध नहीं होता -[15]

1. **अतिदूरी** - आकाश में उड़ रहे पक्षी का अत्यन्त दूरी के कारण न दिखने मात्र अभाव नहीं हो सकता।

2. **अतिसामिप्य्** - आँख में लगा अंजन अतिनिकट होने से दिखायी नहीं देता, परन्तु इससे क्या अंजन का अभाव सिद्ध हो जायेगा ?

3. **इन्द्रियक्षति** - अन्धे या बहरे के न देखने और न सुनने मात्र से रूप या शब्द का अभाव नहीं होता।

4. **अन्यमनस्कता** - मन किसी अन्य विषय में एकाग्र होने पर प्रचण्ड प्रकाश होने पर भी सामने पडी हुई वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता पर इससे वस्तु का अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता।

5. **सूक्ष्मता** - चित्त की एकाग्रता होने पर भी परमाणु जैसा सूक्ष्म पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता परन्तु परमाणु का अस्तित्व तो विद्यमान ही रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. व्यवधान - किसी दिवार, पर्दे आदि का व्यवधान होने पर पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु इससे पदार्थ का नास्तित्व सिद्ध नहीं होता।

7. अभिभव - सूर्य के उदय होने पर चाँद-तारे अभिभव (दब जाने) के कारण दिखायी न देने मात्र से उनका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता।

8. सजातीय पदार्थों के साथ सम्मिश्रण - जलाशय में लोटे का पानी डाल देने पर लोटे के पानी का पृथक् ग्रहण नहीं हो सकता तथापि उसका अस्तित्व स्वत: सिद्ध है।

अतीन्द्रिय पदार्थों की अस्तित्वसिद्धि

चार्वाकमतानुयायी स्वर्ग, नरक, मोक्षादि अतीन्द्रिय पदार्थों के अस्तित्व का निषेध करते है। यहाँ वृत्तिकार ने यह प्रश्न किया है कि आप किस प्रमाण के आधार पर इनका निषेध करते है। क्या आप स्वर्ग को जानते है ? यदि जानते है तो प्रत्यक्ष से या अन्य किसी प्रमाण से ? प्रत्यक्ष से तो अतीन्द्रिय पदार्थों को जाना नहीं जा सकता क्योंकि वे इसीलिए अतीन्द्रिय कहलाते है कि उनका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता। तथैव प्रत्यक्ष प्रमाण से स्वर्गादि का निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि पहले यह स्पष्ट करना पड़ेगा कि वह प्रत्यक्ष स्वर्ग-मोक्षादि में प्रवृत्त होकर उनका निषेध करता है या निवृत्त होकर ? स्वर्ग या मोक्ष में प्रवृत्त होकर तो प्रत्यक्ष उनका निषेध कर नहीं सकता क्योंकि प्रत्यक्ष का अभाव-विषयक वस्तु के साथ विरोध होता है। चार्वाक मत में जब स्वर्ग, मोक्ष है ही नहीं, तब उनमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? चूँकि प्रत्यक्ष रूप से प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अत: प्रत्यक्ष प्रवृत्त होकर अतीन्द्रिय पदार्थों का निषेध नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष निवृत्त होकर मोक्षादि का निषेध करे, यह भी युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि स्वर्ग-मोक्षादि का जब प्रत्यक्ष ही नहीं है, तब प्रत्यक्ष से उनका अनिश्चय नहीं हो सकता।'[16]

इसके अतिरिक्त जिन्होंने स्वर्गादि को नहीं जाना, उन्हें उनके अभाव का बोध होना असंगत है। क्योंकि अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। जिस पुरुष ने घट को नहीं जाना, वह घटाभाव को भी नहीं जान सकता। घट को जाननेवाला ही घट का निषेध कर सकता है। चार्वाक मत में जब स्वर्ग-मोक्ष है ही नहीं, तब उनका निषेध कैसे समीचीन हो सकता है ? क्योंकि निषेध उसी का किया जा सकता है, जिसका अस्तित्व कहीं न कहीं, किसी न किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप में विद्यमान् हो। स्वर्गादि का अस्तित्व तो है, परन्तु वह प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है। चार्वाकों को स्वर्ग के अभाव के ज्ञान के लिए पहले स्वर्गादि का ज्ञान, प्रत्यक्ष के सिवाय अन्य किसी प्रमाण से करना ही होगा। इसी प्रकार दूसरों के अभिप्राय को जानना-समझना और दूसरों को अपना अभिप्राय समझना भी प्रत्यक्ष के सिवाय अनुमानादि प्रमाण द्वारा ही सम्भव होगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमानादि प्रमाणों की सिद्धि और उनसे स्वर्ग आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की भी सिद्धि हो जाती है।

प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा की सिद्धि

आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, क्योंकि उसका असाधारण गुण चैतन्य है, वह उपलब्ध होता है। इस प्रकार कार्य की उपलब्धि से कारण की अर्थात् देह से भिन्न आत्मा की सिद्धि होती है। आत्मा का अस्तित्व सब प्रमाणों में ज्येष्ठ तथा प्रधान प्रत्यक्ष प्रमाण से स्वयंसिद्ध है। आत्मा के ज्ञानादि गुण मानस-प्रत्यक्ष द्वारा भी प्रत्यक्ष किये जाते है। वे ज्ञानादि गुण अपने गुणी आत्मा से अभिन्न है। गुण तथा गुणी एक होने से मानस-प्रत्यक्ष से भी आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, आदि अनुभूत वाक्यों में 'मैं' यह ज्ञान आत्मा का ही ग्राहक है।[17]

अनुमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि

आत्मा है, क्योंकि उसका असाधारण गुण पाया जाता है, जैसे- चक्षुरिन्द्रिय। यद्यपि अतिसूक्ष्म होने के कारण आत्मा साक्षात् ज्ञात नहीं होती। तथापि स्पर्शन आदि इन्द्रियों से न होने योग्य रूप-विज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति ज्ञात होने से आत्मा का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार पृथ्वी आदि में न होने वाले चैतन्य-गुण को देखकर भी आत्मा का अनुमान होता है।[18]

अर्थापत्ति प्रमाण से आत्मा की सिद्धि

अर्थापत्ति, जो सातवाँ प्रमाण है, उससे भी आत्मा सिद्ध होता है। अर्थापत्ति प्रमाण का लक्षण है कि जिस पदार्थ का अन्य पदार्थ के बिना न होना छह प्रमाणों से निश्चित हो, वह पदार्थ अपनी सिद्धि के लिए जो अन्य अदृष्ट की कल्पना करता है, उसे अर्थापत्ति प्रमाण कहते है।[19]

अर्थापत्ति को समझाने के लिए इस प्रकार का दृष्टान्त करते है - 'पीनोऽयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवदत्तो दिवा न भुंक्ते।' यह मोटा-ताजा देवदत्त दिन में नहीं खाता है। बिना खाये कोई मोटा नहीं होता, यह सभी प्रमाणों से निश्चित है। पर यहाँ देवदत्त का दिन में खाने का निषेध किया है, साथ ही उसे मोटा भी कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह रात्रि में खाता है। यहाँ देवदत्त की रात में भोजन की बात नहीं कही गयी है फिर भी अर्थापत्ति प्रमाण से उसका ग्रहण कर लिया जाता है। इसी प्रकार दीवार आदि पर लेप्य कर्म वगैरह में पृथ्वी, जलादि पंचभूत समुदाय होते हुए भी सुख-दुःख, इच्छा आदि क्रियाएँ नहीं होती। इससे यह निश्चित होता है कि इन क्रियाओं का समवायी कारण पंचभूतों से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है, और वही पदार्थ आत्मा है। इस प्रकार अनुमानादि मूलक अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि होती है।

आगम प्रमाण से आत्मा की सिद्धि

आगम प्रमाण से भी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है। 'अत्थि मे आया उववाइए' परलोक में जाननेवाला मेरा आत्मा है।[20] 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' श्वेतकेतो ! वह आत्मा तुम्ही हो। इत्यादि आगम प्रमाण आत्मा के अस्तित्व को स्थापित करते है।

देह के विनाश से देही का विनाश मानना अयुक्तिसंगत

चार्वाक मतानुसार 'अह तेसिं विणासेण विणासो होइ देहिणो' पंच महाभूत का विनाश होने पर देही का भी विनाश हो जाता है। परन्तु ऐसा मानने पर निम्नलिखित तीन दोषापत्तियाँ आ पड़ेगी -

1. केवलज्ञान, मुक्ति या सिद्धि की प्राप्ति के लिये यम, नियम, प्राणायम, तप, स्वाध्याय, ध्यान, धारणा, समाधि रूप किया जानेवाला प्रखर पुरुषार्थ और साधना निष्फल हो जायेंगे।

2. किसी भी व्यक्ति को दया, दान, सेवा, परोपकार, लोक-कल्याण आदि पुण्यजनक शुभकर्मों का फल नहीं मिलेगा।

3. हिंसा, झूठ, चोरी, डकैती आदि अपराध करनेवाले लोक निःशंक होकर पापकर्म करेंगे। क्योंकि जब उनकी आत्मा, शरीर तथा पापकर्म यहीं नष्ट हो जायेंगे तब परलोक में उन पापकर्मों का भुगतान करने के लिए उनकी आत्मा को नरकादि दुर्गतियों में नहीं जाना पड़ेगा। इस प्रकार संसार में अव्यवस्था, अनैतिकता और अराजकता का साम्राज्य छा जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। यहाँ प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप के विषय में सापेक्ष कथन किया जाता है। लोकायतिकों के एकांगी एवं मिथ्या दृष्टिकोण का विविध युक्ति एवं हेतुओं से निराकरण करते हुए वृत्तिकार ने आत्मा के अस्तित्व के पक्ष में विभिन्न तर्क प्रतिपादित करते हुए उसके स्वरूप का विश्लेषण किया है।

आत्मा का नित्यानित्यत्व - जैनदर्शन के अनुसार आत्मा द्रव्य की दृष्टि से नित्य होते हुए भी पर्याय की दृष्टि से कथंचित् अनित्य है। जैसे - घट द्रव्य रूप से नित्य है परन्तु नवीनता, प्राचीनता आदि पर्यायों की दृष्टि से अनित्य है, इसी प्रकार आत्मा बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य है। संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबंध से जकड़ा हुआ सूक्ष्म-बादर, त्रस-स्थावर, पर्याप्त-अपर्याप्त, एकेन्द्रिय, बेईन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय आदि अनेक अवस्थाओं को प्राप्त करता है। कर्मबंधन के फलस्वरूप आत्मा एक गति से दूसरी गति में, एक जाति से दूसरी जाति में, एक योनि से दूसरी योनि में भ्रमण करता रहता है। कभी मनुष्य पर्याय से देव पर्याय को, कभी तिर्यञ्च पर्याय से नरक पर्याय को प्राप्त करता है। इन समस्त पर्यायों की अपेक्षा आत्मा अनित्य है परन्तु द्रव्य की अपेक्षा आत्मा नित्य है। क्योंकि समस्त योनियों में भ्रमण करनेवाला, विविध शरीर धारण करनेवाला और शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दुःख का वेदन करने वाला आत्मा है। उन विविध शरीरों के नष्ट होने पर, भी आत्मा नष्ट नहीं होता। यहाँ तक कि समस्त कर्मों का क्षय होकर वह मुक्त, शुद्ध, बुद्ध हो जाय, तब मोक्ष में भी आत्मा ही जाता है, अतः द्रव्यापेक्षया आत्मा नित्य और शाश्वत है।

आत्मा स्वशरीरव्यापी - विभिन्न मतवादी आत्मा के भिन्न-भिन्न परिमाण की कल्पना करते है। कोई आत्मा को अणुपरिमाण वाला मानते है, तो कोई ब्रह्माण्डव्यापी। कोई श्यामाकतंदुल (धान्य-विशेष) के बराबर मानते है, तो कोइ अंगुष्ट-पर्व जितना। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा न तो महत् (विराट्) परिमाणवाला है, न अणु जितना छोटा। वह मात्र स्वशरीरव्यापी है। जैसे- घट के रूपादि घट से भिन्न प्रदेश में नहीं पाये जाते। वे घट में ही रहते है, वैसे ही आत्मा के ज्ञानादि गुण भी शरीरपर्यन्त ही पाये जाते है, शरीर से अन्यत्र नहीं। इस कारण ज्ञानादि गुणों का अधिकरण (आत्मा) सर्वव्यापक नहीं बल्कि शरीरव्यापी ही है, जो विविध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योनियों में परिभ्रमण करता हुआ, जिस जीव के शरीर का जितना परिमाण है, उतने ही परिमाण में व्याप्त हो जाता है।[21]

प्रस्तुत विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकायतिक मत एकान्त मिथ्या आग्रह है। ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणों का अधिष्ठाता (आत्मा) पंचमहाभूतों से उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार द्रव्यापेक्षया आत्मा न जन्मता है, न मरता है। न उसकी आदि है, न उसका अन्त। वह सदाकाल से है व सदाकाल तक रहेगा। कर्मबद्ध आत्मा विविध योनियों में भ्रमण करता रहता है जबकि कर्मयुक्त आत्मा लोकान्त में सिद्धशिला पर सादि-अनन्तकाल तक स्थित हो जाता है। यहीं आत्मा का अर्हत् प्रणीत सत्य स्वरूप है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूयगडो, 1/1/1/7-8*
2. *(अ). सूत्रकृतांग चूर्णि - पृ. 23*
   (ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 15
3. *वही, पृ. - 16*
4. *सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. - 23-24*
5. *(अ). षड्दर्शनसमुच्च -*
   पृथिव्यादिभूत संहत्यां, तथा देहादि संभवः।
   मदशक्ति : सुरांगेभ्यो यत्तद्वच्चिदात्मनि॥84॥
   (ब). प्रमेयकमल मार्त्तण्ड, पृ. 115 : शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञेके च पृथिव्यादि भूतेभ्यश्चैतन्याभिव्यक्ति पिष्टोदकः गुडधात क्यादिभ्यो मदशक्तिवत्।
6. *सूयगडो, 2/1/23*
7. *वही, 2/1/23-26*
8. *दीघनिकाय, 1/2/4/25*
9. *सूयगडो, 1/1/1/7-8 टिप्पण - 30*
10. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 33*
11. *सूत्रकृतांग अमर सुख बोधिनी व्याख्या, प्र.भु. - पृ. 69*
12. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 16*
13. *वही*
14. *वही*
15. *सूत्रकृतांग अमर सुखबोधिनी व्याख्या, प्र.भु. - पृ. 75*
16. *वही*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

17. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 18*
18. *वही*
19. *वही*
प्रमाण षट्कविज्ञातौ, यत्रार्थो नान्यथा भवन्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं, साऽर्थापत्तिरूदाहृता॥
20. *आचारांग सूत्र, 1/1/1/1*
21. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 19*

2. एकात्मवाद

सूत्रकृतांग सूत्र में पंचमहाभूतवाद के पश्चात एकात्मवाद का निरूपण तथा निराकरण किया गया है। निर्युक्ति में इसे 'एकप्पए' अर्थात् एकात्मक कहा है।[1] परन्तु सूत्रकार ने इसका कोई नामोल्लेख नहीं किया है। सूत्रकृतांग सूत्र में इसके स्वरूप का निरूपण करते हुए सयुक्तिक खण्डन किया गया है।[2]

प्रथम श्रुतस्कन्ध में वर्णित एकात्मवाद उत्तर मीमांसा (वेदान्त वादियों) का प्रधान सिद्धान्त है। वे अद्वैत ब्रह्म की कल्पना करते हुये कहते है 'सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' अर्थात् इस जगत में सब कुछ ब्रह्मरूप ही है। उसके सिवाय नानारूपों में दिखाई देने वाले पदार्थ कुछ भी नहीं है। दूसरे शब्दों में, चेतन-अचेतन (पृथ्वी आदि पंचभूत तथा जड़ पदार्थ) जितने भी पदार्थ है, वे सब एक ब्रह्मरूप है। सभी प्राणियों के शरीर में जो भूतकाल में रहा है, भविष्य में रहेगा, वह एक ही ब्रह्म भासमान होता है।[3]

इसी बात को शास्त्रकार यहाँ पर स्पष्ट करते हुये कहते है कि 'एवं भो कसिणे लोए विण्णू नाणा हि दीसए' यह समस्त लोक एक ज्ञानपिण्ड है, जो नानारूपों में दिखायी देता है। एकात्मवादी नानारूपों में दिखाई देने वाले पदार्थों को भी दृष्टान्त द्वारा आत्मरूप सिद्ध करते है।

जिस प्रकार एक ही पृथ्वी-पिण्ड सरिता, सागर, ग्राम, घट, पट, पर्वत, नगर आदि नाना रूपों में दिखाई देता है अथवा ऊँचा-नीचा, कोमल-कठोर, लाल-पीला-भूरा आदि के भेद से नाना प्रकार का दिखाई देता है किन्तु इन सब में व्याप्त पृथ्वी तत्त्व का भेद नहीं होता, उसी प्रकार एक ज्ञान-पिण्ड आत्मा ही चेतन-अचेतन रूप समस्त लोक में पृथ्वी, जल आदि भूतों के आकार में नानाविध दिखाई देता है। इस भेद से आत्मा के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदान्ती समस्त जड़-चेतनात्मक लोक को आत्मस्वरूप, चैतन्यमय मानते है तथा ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को असत्य मानते है।

शास्त्रकार ने एकात्मवाद को 'एगे' शब्द द्वारा अन्य मत के रूप में निर्दिष्ट किया है। इससे यही फलित होता है कि जैन दर्शन के अनुसार जगत एकात्मक नहीं है। उसमें नाना जीव है और वे सभी अपने-अपने कर्मों का फल भोगते है न कि एक आत्मा।

सूत्रकृतांग में एकात्मवाद (आत्माद्वेतवाद) के स्वरूप निरूपण के पश्चात उसे अयथार्थ तथा युक्तिरहित बताया गया है, तथा उनकी प्ररूपणा करने वालों को सूत्रकार ने मन्दबुद्धि, अज्ञानी, विवेकहीन तथा मिथ्या प्रलाप करने वाले कहा है।[4]

एकात्मवादी जगत की एकात्मकता को सिद्ध करने के लिये अनेक दृष्टान्त और तर्क प्रस्तुत करते है। 'जैसे - चन्द्रमा जल से भरे हुये विभिन्न पात्रों में अनेक दिखाई देता है, इसी प्रकार एक ही आत्मा उपाधि भेद से नाना रूपों में दिखाई देता है।'

'जैसे एक ही वायु समस्त लोक में व्याप्त है परन्तु उपाधि भेद से अलग-अलग रूप वाला हो गया है, वैसे ही सर्वभूतों में रहा हुआ एक ही आत्मा उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न रूप वाला हो जाता है।'[5]

इन तर्कों के द्वारा वे सम्पूर्ण जगत को एक ब्रह्मरूप सिद्ध करने का हास्यास्पद प्रयास करते है इसलिये शास्त्रकार ने उन्हें जड़बुद्धि कहकर सम्बोधित किया है। एकात्मवाद के अनुसार सम्पूर्ण विश्व में एक ही आत्मा मानने पर निम्नलिखित आपत्तियाँ आ पड़ेगी -

1. सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही ब्रह्म (आत्मा) का अस्तित्व स्वीकार करने पर एक के द्वारा किये गये शुभ या अशुभ कर्मों का फल अन्य सभी को भोगना पड़ेगा जो कि अनुचित तथा अयुक्तिसंगत है।

2. एक के कर्मबंधन होने पर सभी कर्म से बद्ध तथा एक के कर्म से मुक्त होने पर सभी कर्ममुक्त हो जायेंगे। इस प्रकार बंध और मोक्ष की अव्यवस्था हो जायेगी।

3. एकात्मवाद मानने पर देवदत्त को प्राप्त ज्ञान यज्ञदत्त को होना चाहिये तथा एक के जन्म लेने, मरने या किसी कार्य में प्रवृत्त होने पर सभी जीवों को जन्म लेना, मरना तथा उस कार्य में प्रवृत्त हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा कदापि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्भव नहीं है।

4. जड़-चेतन सभी में एक ही आत्मा मानने पर आत्म का चैतन्य या ज्ञान गुण जड़ में भी आ जायेगा जो कि दोषपूर्ण है।

5. जिसे शास्त्र का उपदेश दिया जाता है वह तथा शास्त्र का उपदेष्टा, दोनों में भेद न होने के कारण शास्त्र रचना भी नहीं हो सकेगी।

उपरोक्त तर्कों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि एकात्मवाद की धारणा कपोल कल्पना है। इसलिये कहा है -

नैकात्मवादे सुख दुःख मोक्ष, व्यवस्था कोऽपि सुखादिमान् स्यात्।

एकात्मवाद में सुख, दुःख, मोक्ष आदि व्यवस्थाएँ गडबडा जायेगी इसलिये इस मत को मानकर कोई सुखी नहीं हो सकता। अतः जड़-चेतनात्मक जगत में सिर्फ एक ही आत्मा है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है।

शास्त्रकार कहते है कि कई आत्माद्वैतवादी 'ब्रह्म ज्ञान ही सर्वज्ञ ज्ञान है' इस मिथ्या धारणा में फँसकर निःशंक होकर आरम्भ-समारम्भ करते व पापाचरण में प्रवृत्त होते है। परन्तु यह ब्रह्म-ज्ञान उन्हें कर्मबंधन से बचाने में समर्थ नहीं होता। इस प्रकार वे अपनी आत्म वंचना करके पापकर्म के परिणामस्वरूप इह लोक में भी दुःख पाते है तथा परलोक में भी नरक, तिर्यंचादि दुर्गतियों में जाकर नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित होते है क्योंकि 'एगे किच्चा सयं पावं तिव्वं दुक्खं णियच्छई' जो पापकर्म करता है, उसे अकेले ही उसका फल तीव्र दुःख के रूप में भोगना पड़ता है।

एकात्मवाद का निरूपण सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के षष्ठ आर्द्रकीय अध्ययन में भी हुआ है।[6]

इस अध्ययन की 46वीं गाथा से 51वीं गाथा पर्यन्त एकदण्डी (सांख्यमतवादी) तथा आत्माद्वैतवादियों (वेदान्तवादी) का आर्द्रक मुनि के साथ हुए तात्त्विक संवाद का निरूपण है। ये सांख्यवादी एकदण्डी आर्हत् दर्शन से अपने दर्शन की तुलना करते हुये कहते है कि जिसे हम पुरुष कहते है, उसे आप जीवात्मा कहते है। वह जीवात्मा अमूर्त होने से अव्यक्त रूप है। वह कर, चरण, सिर और गर्दन आदि अवयवों से युक्त न होने से सर्वव्यापी है। उसकी नाना योनियों में गति होने पर भी उसके चैतन्य रूप का कदापि नाश नहीं होता, अतः वह नित्य है। उसके प्रदेशों को कोई खण्डित नहीं कर सकता, अतः अक्षय है। अनन्त काल बीत जाने पर भी उसके एक अंश का भी विनाश न होने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अव्यय है। जिस प्रकार चन्द्र अश्विनी आदि तारों के साथ पूर्ण रूप से सम्बद्ध रहता है, वैसे ही यह आत्मा शरीर रूप से परिणत सभी भूतों के साथ पूर्ण रूप में सम्बद्ध रहता है, किसी एक अंश से नहीं क्योंकि वह निरंश है। इस प्रकार आत्मा के ये समस्त विशेषण हमारे दर्शन में कहे गये है, आर्हत् दर्शन में नहीं। यह हमारे दर्शन की विशिष्टता है इसलिये आपको भी हमारा दर्शन स्वीकार करना चाहिये।[7]

इस प्रकार एकदण्डियों तथा वेदान्तवादियों ने जब आर्द्रक मुनि को स्वमत की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए उसे स्वीकारने का अनुरोध किया तब आर्हत (जैन दर्शन) के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा कि आपके साथ हमारा मतैक्य नहीं हो सकता। क्योंकि आप एकान्तवादी है और हम अनेकान्तवादी। आपके अनुसार जीवात्मा सर्वव्यापी है परन्तु आर्हत दर्शन में उसे मात्र शरीरव्यापी माना है। जिस प्रकार आत्मा के विषय में मतभेद है, उसी प्रकार संसार के स्वरूप के विषय में भी मतभेद है। आप कहते है कि सभी पदार्थ प्रकृति से सर्वथा अभिन्न है परन्तु हमारे अनुसार कारण में कार्य द्रव्य रूप में विद्यमान रहता है। पर्याय रूप से नहीं। आर्हत दर्शन एवं सांख्य-वेदान्त दर्शन में यह सबसे बड़ा मतभेद है।

आत्माद्वैतवादियों के अनुसार कार्य कारण में सर्वात्मरूप से विद्यमान रहता है परन्तु आर्हत दर्शन में सर्वात्म रूप से विद्यमान नहीं होता। इसके अनुसार सभी सत् पदार्थ उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य युक्त माने जाते है जबकि सांख्य मतवादी सभी पदार्थों को मात्र ध्रौव्यात्मक ही मानते है। यद्यपि पदार्थों का आविर्भाव तथा तिरोभाव मानते है लेकिन वे भी उत्पत्ति और विनाश के बिना नहीं हो सकते। अत: ऐहिक तथा पारलौकिक किसी भी पदार्थ के सम्बन्ध में दोनों एक मत नहीं है।

सांख्यवादी आत्मा को सर्वव्यापी, अव्यक्त, नित्य, सनातन, अनन्त, अक्षय, अव्यय तथा समस्त भूतों (चेतन-अचेतन) में सर्वात्मरूप से स्थित मानते है जोकि अयुक्तिसंगत है। एकान्तरूप से नित्य तथा अविकारी आत्मा को स्वीकारने पर समस्त पदार्थ नित्य हो जायेंगे तो बंध तथा मोक्ष का सद्भाव कैसे होगा ? बंध के अभाव से चतुर्गति रूप संसार नहीं होगा तथा मोक्ष के अभाव से यम-नियम-व्रत ग्रहण भी निरर्थक ही सिद्ध होगा।

आत्मा को सर्वव्यापी मानना भी युक्तिसगंत नहीं है, क्योंकि चैतन्य रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा का गुण सर्वत्र नहीं पाया जाता। शरीर में ही उसका अनुभव होता है। अत: आत्मा को सर्वव्यापी न मानकर मात्र शरीरव्यापी मानना ही उचित है। जो वस्तु आकाश की तरह सर्वव्यापी होती है, वह गमन नहीं कर सकती जबकि आत्मा कर्म से प्रेरित होकर नाना गतियों में भ्रमण करती है। जब उसे सदा अविकारी, एकरस, एकरूप होना बतलाते है तो ऐसी स्थिति में उसका विभिन्न गतियों और योनियों में गमनागमन कैसे सम्भव होगा ? आत्माद्वैत मानने पर नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, सुभग-दुर्भग, धनी-निर्धन, बाल-कुमार आदि भेद सम्भव नहीं होंगे जो कि प्रत्यक्ष जगत में अनुभव सिद्ध है। उसे एकान्त कूटस्थ नित्य मानना भी अनुचित है।

वस्तुत: प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, भिन्न-भिन्न है, स्वकर्मानुसार सुख-दु:ख भोगती है तथा स्व-शरीर पर्यन्त ही चैतन्य रूप है। वह नाना गतियों में जाती है इसलिये परिणामी नित्य है, कुटस्थ-नित्य नहीं। आत्मा का यही स्वरूप आर्हत दर्शन में मान्य है एवं युक्ति संगत है। सांख्यदर्शन और आत्मद्वैतवादियों का मत दोष पूर्ण होने से किसी भी स्थिति में मान्य नहीं हो सकता।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 30*
2. *सूत्रकृतांग सूत्र - 1/1/1/9-10*
3. *(अ) ब्रह्म सूत्र*
   (ब) छान्दोग्योपनिषद्, 3/14/1 'सर्वमेतदिदं ब्रह्म'
   (स) मैत्र्युपनिषद्, 4/6/3 'ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्'
   (द) श्वेताश्वतरोपनिषद्, अ. - 4, ब्रा. 6/13 'पुरुष एवेदं सर्वं यच्चभूतं यच्चभाव्यम्।'
4. *सूत्रकृतांग सूत्र - 1/1/1/10*
5. *कठोपनिषद्, 2/5/10*
   एक एवहि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थित:।
   एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जल चन्द्रवत्॥
   वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
   एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा, रूप रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
6. *सूत्रकृतांग सूत्र - 2/6/46-47*
7. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 401-403*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. तज्जीव-तच्छरीरवाद

सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में तज्जीव-तच्छरीरवाद का वर्णन प्राप्त होता है। 'वही जीव है और वही शरीर है, ऐसा जो बतलाता है, वह तज्जीव-तच्छरीरवादी है। यद्यपि पूर्वोक्त पंचमहाभूतवादी भी शरीर को ही आत्मा कहते है, तथापि उनके मत में पंचभूत ही शरीर के रूप में परिणत होकर सब क्रियाएँ करते है। परन्तु प्रस्तुत मतवादी ऐसा नहीं मानते। वे शरीर रूप में पंचभूतों से चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति मानते है। यही पंचमहाभूतवादियों से तज्जीव-तच्छरीरवादी की भिन्नता है।

प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध में इस वाद का प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है- 'जो बाल (अज्ञानी) तथा पण्डित है, उन सबके शरीर में पृथक्-पृथक् अखण्ड आत्मा है। वे आत्माएँ परलोक में नहीं जाती। उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

न पुण्य है, न पाप है। और न इस लोक से भिन्न दूसरा कोई लोक है। शरीर का विनाश होने पर आत्मा का भी विनाश हो जाता है।'

इस श्लोक-युगल में वर्णित तज्जीव-तच्छरीरवादियों के उपरोक्त मत से चार परिणाम फलित होते है-

1. अज्ञानी तथा पण्डित, सभी की आत्माएँ पृथक्-पृथक् है।
2. जीव के शुभाशुभ कर्म फलदायक पुण्य और पाप नहीं होते।
3. इस लोक से भिन्न किसी दूसरे लोक का अस्तित्व नहीं है।
4. शरीर के नष्ट होते ही आत्मा का भी नाश हो जाने से न उसका पुनर्जन्म सम्भव है, न अन्य गतियों में भ्रमण।

उपरोक्त मत से जैनदर्शन की तुलना की जाय तो प्रथम मान्यता में ही समानता दृष्टिगोचर होती है। तज्जीव-तच्छरीरवादी सभी की आत्माओं को भिन्न-भिन्न मानने पर भी शरीर से भिन्न, परलोक में जानेवाला, स्वकर्मफल का भोक्ता, अनन्तशक्तिमान आत्म-तत्व का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते। जबकि जैनदर्शन आत्मा के अनेकत्व को स्वीकारते हुए शरीर के उत्पाद-विनाश के साथ आत्मा की उत्पत्ति-विनाश को नहीं मानता। बल्कि शरीर से भिन्न, परलोककामी, सुख-दुःख का वेदन करनेवाला, स्वतन्त्र आत्मा ही यहाँ स्वीकार्य है।

शास्त्रकार ने प्रस्तुत मतवादियों के मिथ्यामत को श्लोक-युगल में स्पष्ट किया है कि जब शरीर के नष्ट होते ही आत्मा नष्ट हो जाती है, तो उसके पुण्य-पाप भी उसके साथ ही नष्ट हो जाते होंगे। जब सुकृत्-दुष्कृत् के फलस्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुण्य-पाप ही विनष्ट हो जाते है, तो उसके भुगतान के लिए इस लोक से भिन्न किसी लोक या परलोक की कल्पना करना भी निरर्थक है।

न्याय का यह सिद्धान्त है कि कारण के अभाव में कारण के आश्रित कार्य का भी अभाव होता है। जैसे- घड़े के ठीकरों का अभाव हो जाने पर घट भी किसी प्रकार से ठहर नहीं सकता, तथैव आत्मारूप (धर्मी) कारण का ही अस्तित्व नहीं है तो उसके आश्रित धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) का भी अभाव हो जाता है।

जीव तथा शरीर के एकत्व की सिद्धि

प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी तज्जीव-तच्छरीरवाद का वर्णन विस्तार से मिलता है। पुण्डरीक कमल प्राप्त करने की इच्छावाला प्रथम पुरुष तज्जीव-तच्छरीरवादी है। इसके अनुसार-

पैर के तलवे से लेकर, शिर के केशाग्र तक तथा तिरछे चमड़ी तक जो शरीर प्रतीत होता है, वही जीव है। यही पूर्ण आत्म-पर्याय है। यह जीता है, तब तक प्राणी जीता है। यह मरता है, तब प्राणी मर जाता है। शरीर रहता है (तब तक) जीव रहता है। उसके विनष्ट होने पर जीव नहीं रहता। शरीर पर्यन्त ही जीवन रहता है। शरीर के विकृत हो जाने पर दूसरे उसे जलाने के लिए ले जाते है। आग में जला देने पर उसकी हड्डियाँ कबतूर के रंग की हो जाती है। उसके पश्चात् आसंदी (अरथी, चारपाई) को उठाने वाले चारों पुरुष गाँव में लौट आते है। इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं है क्योंकि शरीर से भिन्न उसका संवेदन नहीं होता। जो लोग, जीव अन्य है और शरीर अन्य है, ऐसा मानते है, वे इस प्रकार नहीं जानते कि यह आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व, वलयाकार है या गोल, त्रिकोण है या चतुष्कोण या अष्टकोण, लम्बा है या चौड़ा, कृष्ण है या नील, लाल है या पीला है या शुक्ल। सुगंधित है या दुर्गन्धित। तीखा, कडुआ, कसैला, खट्टा, मीठा, कर्कश-कोमल, हल्का-भारी, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष कैसा है, यह नहीं बता सकते क्योंकि आत्मा का किसी भी रूप में ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं है क्योंकि शरीर से भिन्न उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। यदि जीव शरीर से भिन्न होता, तो उसे भी अवश्य इसी प्रकार पृथक् दिखाया जा सकता, जैसे -

1. तलवार को म्यान से अलग निकालकर दिखाया जा सकता है कि यह तलवार है और यह म्यान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. मूंज (घास) से शलाका को अलग निकालकर दिखाया जा सकता है।
3. पुरुष-माँस से अस्थि को पृथक् करके दिखाया जा सकता है।
4. हथेली से ऑवले को अलग दिखाया जा सकता है।
5. दही से नवनीत को अलग करके दिखाया जा सकता है।
6. तिलों से तेल अलग निकालकर दिखाया जा सकता है।
7. ईख से रस को अलग निकालकर दिखाया जा सकता है।
8. अरणी की लकड़ी से आग को अलग करके दिखाया जा सकता है।

तज्जीव-तच्छरीरवादी अपने मत को पुष्ट करने के लिए उपरोक्त आठ प्रतीकात्मक दृष्टान्तों को प्रयुक्त करते हुए यह कहते है कि जैसे म्यान से तलवार का, दही से मक्खन का, माँस से हड्डी का, अरणी से आग का, तिल से तेल का, मूँज से सलाका का और ईख से रस का अलग अस्तित्व है, जिसका हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व का न हमें प्रत्यक्ष होता है, न उसका भिन्न संवेदन। अत: शरीर से भिन्न जीव नहीं है।[2]

बौद्ध साहित्य में उपलब्ध अजितकेशकंबल के दार्शनिक विचारों की उक्त श्लोक-युगल एवं द्वितीय श्रुतस्कन्धगत विचारों से तुलना की जाय तो सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि यहाँ अजितकेशकंबल के विचार ही प्रतिपादित हुए है। दीघनिकाय के अनुसार अजितकेशकंबल के दार्शनिक विचार इस प्रकार है -

..... दान नहीं है, यज्ञ नहीं है, आहुति नहीं है, सुकृत् और दुष्कृत् कर्मों का फल-विपाक नहीं है। न यह लोक है, न परलोक। न माता है और न पिता। औपपातिक (देव) सत्व भी नहीं है। लोक में सत्य तक पहुँचे हुए तथा सम्यक् प्रतिपन्न श्रमण-ब्राह्मण नहीं है, जो इस लोक और परलोक को स्वयं जानकर, साक्षात् कर बतला सके। प्राणी चार महाभूतों से बना है। जब वह मरता है, तब (शरीरगत) पृथ्वी तत्व पृथ्वीकाय में, पानी तत्व अप्काय में, अग्नि तत्व तेजस्काय में और वायु तत्व वायुकाय में मिल जाते है। इन्द्रियाँ आकाश में चली जाती है। चार-पुरुष मृत व्यक्ति को खाट पर ले जाते है। जलाने तक उसके चिह्न जान पड़ते है। फिर हड्डियाँ कपोत वर्ण वाली हो जाती है। आहुतियाँ राख मात्र रह जाती है। 'दान करो' यह मूर्खों का उपदेश है। जो आस्तिकवाद का कथन करते है, वह उनका कहना तुच्छ और झूठा विलाप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्ख हो या पण्डित, शरीर का नाश होने पर सब विनष्ट हो जाते है। मरने के बाद कुछ नहीं रहता।[3]

पुण्य-पाप का निषेध - तज्जीव-तच्छरीरवादी पंचभूतात्मक शरीर के साथ ही आत्मा के विनष्ट हो जाने से जीव द्वारा उपार्जित पुण्य-पाप का भी निषेध करते है। पुण्य और पाप ये दोनों आत्मा रूपी धर्मी के धर्म है। जब तक धर्म टिकता है, तभी तक धर्म का अस्तित्व है। आत्मा रूपी धर्मी के अभाव से पुण्य-पाप रूपी धर्म का भी अभाव हो जाता है। आत्मा आधार है, पुण्य-पाप आधेय है। आधेय के अभाव में आधार की स्थिति कैसे संभव हो सकती है ?

परलोक का अभाव - पुण्य-पाप के कारण ही परलोक होता है। जब पुण्य-पाप रूप कारण ही नहीं है, तब उनसे होनेवाला परलोक भी असम्भव है। परलोक क्यों नहीं है ? ऐसा पूछने पर प्रस्तुत मतवादी कहते है कि जैसे बाँबी से बाहर निकलते समय सर्प पास में खड़े लोगों को दिखायी देता है, वैसे ही शरीर से बाहर निकलता हुआ जीव मृत-शरीर के पास बैठे हुए लोगों को दिखायी नहीं देता। अत: जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता, उसकी सत्ता कैसे मानी जा सकती है? यो अगर अनुपलब्ध पदार्थ की भी सत्ता मानी जाय तो फिर खरगोश के सींग और आकाश के पुष्प की भी सत्ता माननी पड़ेगी। अत: पंचभूतों से व्यतिरिक्त आत्मा जैसा कोई पदार्थ नहीं है। क्योंकि भूतों के विघटित होते ही आत्मा उसी में विलीन हो जाती है।

भूतवादी अपने इस पक्ष को पुष्ट करने के लिए विभिन्न दृष्टान्तों को प्रस्तुत करते हैं, जिनका उल्लेख वृत्तिकार ने किया है -

1. जैसे जल के बिना जल का बुदबुद नहीं होता, इसी प्रकार भूतों से व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है।
2. जैसे केले के तने की छाल को निकालने लगे तो उस छाल के अतिरिक्त अन्त तक कुछ भी सार-पदार्थ हस्तगत नहीं होता, इसी प्रकार भूतों के विघटित होने पर भूतों से व्यतिरिक्त और कुछ भी सार पदार्थ प्राप्त नहीं होता।
3. जब कोई व्यक्ति अलात को घुमाता है तो दूसरों को लगता है कि कोई चक्र घूम रहा है, उसी प्रकार भूतों का समुदाय भी विशिष्ट क्रिया द्वारा जीव की भ्रांति उत्पन्न करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. जैसे स्वप्न में विज्ञान बहिर्मुख आकार के रूप में अनुभूत होता है, आन्तरिक घटना बाह्य अर्थ के रूप में प्रतीत होती है, इसी प्रकार आत्मा के न होने पर भी भूत-समुदाय में विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है।
5. स्वच्छ दर्पण में बाहर के पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ने पर ऐसा आभास होता है कि वह पदार्थ दर्पण के अन्दर स्थित है, किन्तु वैसा नहीं होता।
6. जैसे गर्मी में भूमि की उष्मा से उत्पन्न किरणें दूर से देखने पर जल का भ्रम उत्पन्न करती है।
7. जैसे गन्धर्वनगर आदि यथार्थ न होने पर भी यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करते है। उसी प्रकार काया के आकार में परिणत भूतों का समुदाय भी आत्मा का भ्रम उत्पन्न करता है।
8. जैसे सीप में रजत बुद्धि तथा रस्सी में साँप की बुद्धि मिथ्या और अवास्तविक है, उसी प्रकार भूत समुदाय में चैतन्य-बुद्धि भी अयथार्थ एवं अवास्तविक है।[4]

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करते हुए कहा गया है- 'प्रज्ञान (विज्ञान) का पिण्ड यह आत्मा, इन भूतों से उठकर (उत्पन्न होकर) इनके नाश के पश्चात् ही नष्ट हो जाता है, अत: मरने के पश्चात् इसकी चेतना (आत्मा) संज्ञा नहीं रहती।[5]

तज्जीव-तच्छरीरवाद का खण्डन तथा शरीर से पृथक् आत्मा की सिद्धि

प्रस्तुत मत-वादियों का यह आग्रह नितान्त मिथ्या है कि वही जीव है और वही शरीर है, शरीर से अन्य आत्मा का अस्तित्व नहीं है। यदि आत्मा शरीर से भिन्न न हो तो किसी भी प्राणी का मरण नहीं हो सकता, क्योंकि मरने पर भी शरीर तो बना ही रहता है। फिर ऐसा कौन सा तत्व है, जिसके अभाव से शरीर के विद्यमान होने पर भी व्यक्ति को मृत कहा जाता है। यदि अभाव नहीं होता, ऐसा मानें तो फिर किसी की मृत्यु होनी ही नहीं चाहिए क्योंकि जो शरीर है, वही जीव है, आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और शरीर की उपलब्धि साक्षात् हो ही रही है। परन्तु व्यवहारिक जगत् में ऐसा नहीं दिखायी देता। शरीर के होने पर भी व्यक्ति को मृत समझकर जला दिया जाता है, इसके पीछे एक मात्र कारण आत्मा है, जिसका अभाव होने से शरीर को मुर्दा कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान की अमूर्त्तता से आत्मा की सिद्धि

इन भूतवादी नास्तिकों का यह कथन भी युक्ति-संगत नहीं है कि जो वस्तु जिससे भिन्न होती है, वह उससे अलग करके दिखायी जा सकती है, जैसे तलवार म्यान से अलग करके दिखायी जाती है, आदि। नास्तिकों का यह कथन उनके अज्ञान का ही परिचायक है, क्योंकि जो वस्तु मूर्त्त होती है, वहीं दिखायी जा सकती है। जो अमूर्त होने के कारण दिखायी जाने योग्य न हो, उसे कोई कैसे दिखा सकता है ? यदि अमूर्त्त पदार्थ भी प्रत्यक्ष दिखाया जाना सम्भव होता हो तो नास्तिक अपने ज्ञान को समझाने के लिए शब्द-प्रयोग क्यों करते है? उसे अपने दिमाग से निकालकर प्रत्यक्ष क्यों नहीं दिखा देते ? जैसे हथेली में रखे हुए आँवले को बताने के लिए शब्द-प्रयोग नहीं किया जाता अपितु दर्शक को सीधे ही वह दिखा दिया जाता है, तथैव ज्ञान को भी दिमाग से बाहर निकालकर प्रत्यक्ष दिखा देना चाहिए। यदि नास्तिक यह कहे कि अमूर्त्त होने के कारण ज्ञान दिखाया नहीं जा सकता। ठीक इसी प्रकार आत्मा भी अमूर्त्त होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता।

अमूर्त्तज्ञान गुण का अधिष्ठाता गुणी अमूर्त्त आत्मा

यह सर्वसामान्य सिद्धान्त है कि सभी चेतन प्राणी अपने-अपने ज्ञान का अनुभव करते है और वह अनुभव किया जानेवाला ज्ञान गुण है तथा अमूर्त्त भी है, यह हम स्पष्ट कर चुके है। उस अमूर्त्त ज्ञान गुण का आश्रय कोई गुणी अवश्य होना चाहिए। क्योंकि गुणी के बिना गुण का रहना असम्भव है। नास्तिकों के अनुसार ज्ञान का आश्रय शरीर है। परन्तु यह कथन परस्पर विरोधी है क्योंकि ज्ञान अमूर्त्त है जबकि शरीर मूर्त्त। मूर्त्त का गुण मूर्त्त ही होता है, अमूर्त्त कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार अमूर्त्त ज्ञानगुण का आश्रय अमूर्त्त गुणी आत्मा ही है।

इन्द्रियों का अधिष्ठाता आत्मा

इन्द्रियों का कोई न कोई अधिष्ठाता अवश्य है, क्योंकि इन्द्रियाँ (करण) साधन है। इस जगत में जो-जो करण होता है, उसका कोई न कोई अधिष्ठाता अवश्य होता है, जैसे- दण्ड आदि साधनों का अधिष्ठाता कुम्भकार होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नहीं होता, वह करण नहीं हो सकता, जैसे- आकाश। इन्द्रिया करण है, इसलिए उनका अधिष्ठाता आत्मा है, जो उनसे भिन्न है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर का भोक्ता आत्मा

इस शरीर का भोक्ता कोई-न-कोई अवश्य है, क्योंकि यह शरीर ओदन आदि के समान भोग्य पदार्थ है। इन्द्रियाँ और मन इस शरीर के भोक्ता इसलिए नहीं हो सकते, क्योंकि वे स्वयं शरीर के ही अंगभूत है। जैसे ओदन आदि भोग्य पदार्थों का भोक्ता कोई न कोई अवश्य होता है। इसी प्रकार इस शरीर का भी कोई भोक्ता अवश्य है और वह है आत्मा।

यहाँ नास्तिक मतवादी यह तर्क प्रस्तुत करते है कि आत्मा की सिद्धि के लिए प्रस्तुत किये गये अनुमानों में जो कुम्भकार आदि का हेतु दिया है, वह विरूद्ध है, क्योंकि कुम्भकार आदि कर्त्ता मूर्त्त, अनित्य तथा अवयवी है, जबकि आत्मा अमूर्त्त, नित्य और संहतरूप ही सिद्ध होता है। इन मिथ्यावादियों का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार संसारी आत्मा कर्म से परस्पर मिलकर शरीर के साथ सम्बद्ध होने के कारण कथंचित् मूर्त्त, अनित्य तथा अवयवी भी माना जाता है।

परलोकगामी आत्मा

तज्जीव-तच्छरीरवादियों का यह मत भी मिथ्या है कि आत्मा परलोकगामी नहीं है। इस अनुमान से आत्मा का परलोकगमन सिद्ध होता है- तत्काल जन्में हुए शिशु को माता के स्तनपान की इच्छा होती है। वह इच्छा पहलेपहल नहीं हुई है, किन्तु वह उसके पूर्व की इच्छा से उत्पन्न हुई है, क्योंकि वह इच्छा है। जो-जो इच्छा होती है, वह अन्य इच्छापूर्वक ही होती है, जैसे कुमार की इच्छा। इसी प्रकार बालक का विज्ञान, अन्य विज्ञानपूर्वक है, क्योंकि वह विज्ञान है। जो-जो विज्ञान है, वह अन्य विज्ञानपूर्वक ही होता है, जैसे कुमार का विज्ञान।

तत्काल जन्मा हुआ बच्चा जब तक 'यह वही स्तन है' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहीं कर लेता, तब तक रोना बन्द कर वह स्तन में मुख नहीं लगाता। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बालक में कुछ न कुछ प्रत्यभिज्ञान (विज्ञान) अवश्य होता है। वह यत्किचित विज्ञान अन्य विज्ञानपूर्वक होता है और वह अन्य विज्ञान पूर्वजन्म का ज्ञान ही हो सकता है। अत: यह सिद्ध होता है कि परलोक में जानेवाला तत्व आत्मा अवश्य है।

तात्पर्यार्थ यह है कि जिस पदार्थ का जिसने कभी उपभोग नहीं किया, उसकी इच्छा उसमें नहीं होती है। उसी दिन का जन्मा हुआ बालक, जिसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्म लेने से पहले कभी स्तनपान नहीं किया, स्तन पीने की इच्छा क्यों करता है ? इस अनुमान से यही फलित होता है कि उस बालक ने पूर्वजन्म में माता का स्तनपान किया है, उसी के परिणामस्वरूप उसे जन्म लेते ही उसकी इच्छा हुई है। अत: सिद्ध है कि परलोकगामी आत्मा अवश्य है।

धर्मीरूप आत्मा की सिद्धि से धर्म रूप पुण्य-पाप स्वत: सिद्ध है

तज्जीव-तच्छरीरवादी पाँचभूतों से भिन्न आत्मा नामक किसी धर्मी को नहीं मानते। अत: पुण्य-पाप रूप-धर्म की असिद्धि स्वयमेव हो जाती है। परन्तु उपर्युक्त विभिन्न तर्कों के द्वारा आत्मा की सिद्धि होने पर उसके पुण्य-पाप रूप धर्म स्वत: सिद्ध है। क्योंकि अगर पुण्य-पाप न होते, तो जगत में यह विचित्रता नहीं दिखायी देती। इस विश्व में कोई सुरूप है, तो कोई कुरूप। कोई धनवान है, तो कोई निर्धन। एक ही माँ के दो पुत्रों में एक मतिमन्द है, तो एक मतिमान्। कोई स्वस्थ है, तो कोई रोगी। कोई सुखी है, तो कोई दु:खी। जगत् में प्रत्यक्ष हो रही इस विचित्रता को हम न भ्रान्ति कह सकते है, न मिथ्या प्रतीति। अत: पुण्य-पाप के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि मिथ्यामतवादी जगत् की विचित्रता को स्वभाव से सिद्ध करने के लिए पत्थर के टुकड़ों का दृष्टान्त दें, तो वह भी युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि पत्थर के टुकड़ों में एक का देवमूर्ति बनकर पूजनीय बनना और दूसरे का पैर धोने की शिला बनना स्वभाव से नहीं हुआ बल्कि उसके पीछे उन पत्थरों के कर्म ही कारण है। उनके स्वामियों (पृथ्वीकाय-पत्थर का जीव) के कर्मवश ही वे दोनों शिला के टुकड़े वैसे हुए है। इसलिए पुण्य-पाप के अस्तित्व से इन्कार करना प्रत्यक्षानुभूत वस्तु से इन्कार करना है।[6]

समीक्षा

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि प्रस्तुत मत चार्वाकों के सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाला ही एक सम्प्रदाय रहा होगा। इनके जीवन का मूलभूत उद्घोष है- 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।' जब तक जीये सुखपूर्वक जीये क्योंकि न आत्मा है, न पुण्य-पाप और न शुभाशुभ कर्मों का फल देनेवाला कोई परलोक है। सूत्रकृतांग में इस मत का विस्तार से उल्लेख तथा खण्डन इस बात का द्योतक है कि उस युग में इस मत के अनुयायियों की संख्या विशेष रही होगी। परन्तु वर्त्तमान में हमें इस मत के कोई अनुयायी, धर्मगुरु या धर्मग्रन्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलब्ध नहीं होते।

पण्डित दलसुख मालवणिया ने इस मत की तुलना पुरणकस्सप के मत से की है।

इसिभासियाइं सूत्र के 19वे उत्कल अध्ययन में भी इसी प्रकार के सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है। इसके आधार पर यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि उत्कलाचार्य ही इस मत के उद्‌गाता रहे हों।

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूयगडो, 1/1/1/11-12*
2. *वही, 2/1/15-17*
3. *दीघनिकाय, 1/2/4/22*
4. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 21*
5. *बृहदारण्यकोपनिषद्, अ. 4, ब्रा. 6, श्लोक - 13*
   ''प्र(वि)ज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थायातान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीति।''
6. *(अ) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 22*
   (ब) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या प्र.श्रु., पृ. - 100-102

4. अकारकवाद (अक्रियावाद)

सूत्रकृतांग सूत्र में आत्मा के अकारकवाद (अक्रियावाद) का स्वरूप बताया गया है। चूर्णिकार ने इसे सांख्यदर्शन सम्मत बताया है।[1] व्याकरण शास्त्र के अनुसार जो क्रिया के प्रति स्वतन्त्र होता है, वह कर्ता है परन्तु अकारकवाद के अनुसार आत्मा अमूर्त, नित्य तथा सर्वव्यापी है। अत: वह कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि जो अमूर्त, नित्य तथा सर्वव्यापी होता है, वह क्रियाशून्य होता है।

सांख्यदर्शनमान्य आत्मा अकर्ता, निर्गुण (सत्य, रजस्, तमस्, त्रिगुणातीत) भोक्ता तथा नित्य है। अत: वह स्वतन्त्रकर्त्ता नहीं हो सकता। आत्मा अकर्ता इसलिये भी है कि वह विषय-सुख आदि तथा इनके कारण पुण्य-पापादि कर्मों को नहीं करता। सूत्रकृतांग के अनुसार आत्मा स्वयं न कुछ क्रिया करती है, न दूसरों से करवाती है। चूँकि समस्त क्रिया नहीं करती है, अत: आत्मा अकारक है। ऐसी प्ररूपणा अकारकवादी करते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांख्यकारिका में पुरुष (आत्मा) के पाँच धर्म बतलाए गये है - साक्षितत्व, कैवल्य, माध्यस्थ, द्रष्टत्व और अकर्तृत्व।[2] पुरुष के अकर्तृत्वभाव की सिद्धि में दो हेतु है - 'पुरुष विवेकी है तथा उसमें प्रसव धर्म का सर्वथा अभाव है। अविवेकिता से ही सम्भूयकारिता के रूप में कर्तृत्व आता है तथा जो प्रसव-धर्मी अर्थात् अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, वही कर्त्ता हो सकता है। अविवेकिता (सम्भूयकारिता) तथा प्रसवधर्मिता ये दोनों ही गुणों के धर्म है। अत: जहाँ गुण नहीं है, उस पुरुष तत्त्व में इन दोनों धर्मों का भी अभाव ही रहेगा- इसलिए वह कर्त्ता नहीं, अकर्त्ता ही सिद्ध होता है।[3]

शास्त्रकार ने गाथा के पूर्वार्ध में 'कुव्वं च कारवं चेव' में कुव्व पद के द्वारा आत्मा के स्वतन्त्र कर्ता का निषेध किया है। चूँकि आत्मा अमूर्त, नित्य, सर्वव्यापी है, इसलिये वह स्वतन्त्र कर्ता नहीं हो सकता और इसी कारण वह दूसरों से क्रिया करवाने वाला भी नहीं हो सकता। इस गाथा में प्रयुक्त प्रथम 'च' आत्मा के भूत तथा भविष्यत-कर्तृत्व का निषेधक है।

प्रश्न होता है कि जब इन दोनों पदों से समस्त क्रियाओं के स्वयं कर्तृत्व तथा कारयितृत्व का निषेध कर दिया गया, फिर पुन: 'सव्वं कुव्वं न विज्जइ' कहने की आवश्यकता क्यों पड़ी ?

इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि सांख्यमत में आत्मा समस्त क्रियाओं में प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु मुद्राप्रतिबिम्बोदय न्याय एवं जपास्फटिक न्याय से वह स्थितिक्रिया तथा भुजिक्रिया करता है। जैसे किसी दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार प्रकृति रूपी दर्पण में आत्मा (पुरुष) का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जैसे शीशे के हिलने पर उसमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब भी हिलता है, उसी तरह प्रकृति में रहे हुए विकार पुरुष में प्रतिभासित होते है। इस दृष्टि से जीव अकर्ता होकर भी कर्ता हो जाता है। प्रकृति में स्थिति क्रिया होने पर पुरुष में भी स्थिति क्रिया उपलब्ध होती है। इस कारण अचेतन प्रकृति भी चेतनवती हो जाती है और आत्मा अकर्ता होने पर भी शरीर के सम्बन्ध के कारण कर्ता सदृश हो जाता है।[4]

जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित मूर्ति अपनी स्थिति के लिये स्वयं प्रयत्न नहीं करती बल्कि अनायास ही वह अपने चित्र में स्थित रहती है, उसी प्रकार आत्मा भी अपनी स्थिति के लिये बिना प्रयत्न किये ही स्थित रहता है। इस मुद्राप्रतिबिम्बोदय न्याय की दृष्टि से आत्मा स्थिति क्रिया का स्वयं कर्ता न होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण अकर्ता सा है।

इसी प्रकार स्फटिक मणि के पास लाल रंग का जपा पुष्प रख देने पर श्वेत होने पर भी वह मणि पुष्प की छाया पड़ने से रक्तवर्णी प्रतीत होता है। इसी तरह सांख्य मत में आत्मा भोगक्रिया रहित होने पर भी बुद्धि के संसर्ग से बुद्धि का भोग आत्मा में प्रतीत होता है। यों जपास्फटिक न्याय से आत्मा की भोग क्रिया मानी जाती है।

चूँकि आत्मा स्थितिक्रिया और भोगक्रिया के लिये प्रयत्न नहीं करता, इसलिये शास्त्रकार के दुबारा कहा कि 'सव्वं कुव्वं ण विज्जई' अर्थात् आत्मा स्वयं किसी भी क्रिया का कर्ता नहीं है। एक देश से दूसरे देश में जाने की परिस्पन्दनादि सभी क्रियाएँ वह नहीं करता क्योंकि सर्वव्यापी और अमूर्त होने के कारण वह आकाश की तरह निष्क्रिय है।[5]

प्रस्तुत मत पूरणकाश्यप का दार्शनिक पक्ष है। पूरणकाश्यप को अक्रियावादी विचारधारा का समर्थक माना जाता है, क्योंकि इनकी दृष्टि में आत्मा निष्क्रिय तथा कर्म निष्फल है। पुण्य तथा पाप का भी कोई अस्तित्व नहीं है। सांख्य सिद्धान्त की तरह ये भी आत्मा को अकारक मानने के साथ पर पुरुषार्थ का फल नहीं मानते थे। बौद्ध साहित्य में पूरणकाश्यप के विचारों का प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है -

'यदि कोई गंगा नदी के दक्षिणी किनारे पर हव्य करे या डाका डाले, तो भी कोई पाप नहीं होगा और यदि कोई उत्तरी किनारे पर यज्ञ करे या दान दे, तो भी किसी प्रकार का पुण्य नहीं मिलेगा। कर्म करते-कराते, छेदन करते-कराते, पकाते-पकवाते, शोक करते-करवाते, प्राणों का अतिपात करते-कराते, सेंध काटते-कटवाते, गाँव लूटते-लूटवाते, बटमारी करते-करवाते, पर-स्त्रीगमन करते तथा झूठ बोलते हुए भी पाप नहीं होता। तीक्ष्ण धार के चक्र से प्राणियों का वध करने से धरती पर यदि माँस का खलिहान भी लग जाये तो भी पाप का आगम नहीं होता। इसी प्रकार दान, दमन, यज्ञ, संयम आदि से पुण्य का आगम नहीं होता।[6]

अकारकवाद का खण्डन

शास्त्रकार ने सांख्यमत की आत्मा सम्बन्धी इस प्ररूपणा को सिद्धान्त-विरूद्ध तथा अनुभव-विरूद्ध बताया है, क्योंकि सामान्यतया जो कर्ता होता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वही भोक्ता होता है परन्तु सांख्य मत में कर्ता प्रकृति को माना है, और भोक्ता पुरुष (आत्मा) को। यज्ञ, दानादि कार्य प्रकृति करती है और उन शुभ कार्यों के पुण्यफल का भोक्ता है चेतन पुरुष। इस प्रकार पुरुष के साथ कर्तृत्व-भोक्तृत्व का समानाधिकरणात्व छोड़कर प्रकृति को कर्तृत्व और पुरुष को भोक्तृत्व मात्र का व्यधिकरणत्व मानना, पहला विरोध है। पुरुष चैतन्यमय होने पर भी नहीं जानता, यह दूसरा विरोध है।

पुरुष न बद्ध होता है, न मुक्त, और न ही भवान्तरगामी होता है। प्रकृति ही बद्ध और मुक्त होती है। नाना पुरुषों का आश्रय लेने वाली प्रकृति ही भवान्तरगामिनी होती है[7], यह सिद्धान्तविरूद्ध तथा अनुभवविरूद्ध कथन भी उनकी अज्ञानता ही है।

अकृतागम तथा कृतप्रणाश दोष

सांख्यमतवादियों की इस मिथ्या धारणा पर तीखा प्रहार करते हुये शास्त्रकार ने 'एवं ते उ पगाब्भिया' कहकर उन्हें धृष्ट एवं मिथ्याभिनिवेश से ग्रस्त, असत्य प्रलाप करने वाला कहा है। आत्मा को अकारक (अकर्ता) मानने वाले सांख्यमतवादियों के सामने निर्युक्तिकार ने अनेक आपत्तियाँ उठाई है कि जब आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है और उसका किया हुआ कर्म नहीं है, तो अकृत (बिना किये) कर्म का वेदन या भोग कैसे करता है ? जब आत्मा स्वयं निष्क्रिय है, तो वेदन क्रिया कैसे सम्भव हो सकती है ? यदि कर्म किये बिना ही उसके फल की प्राप्ति मानी जाती है, तो इस प्रकार मानने से अकृतआगम तथा कृतनाश की दोषापत्तियाँ खड़ी होती है। फिर तो एक प्राणी के द्वारा किये गये पाप से सब प्राणियों को दुःखी और एक के किये हुए पुण्य से सबको सुखी हो जाना चाहिये। परन्तु यह न तो दृष्ट (प्रत्यक्ष तथा अनुभव से सिद्ध) है, और न ही इष्ट (सर्व आस्तिकों को अभीष्ट) है।

आत्मा सर्वव्यापी नहीं

आत्मा को यदि सर्वव्यापक माना जाता है, तो उसकी देव, नारक, मनुष्य, तिर्यंच तथा मोक्ष रूप पाँच प्रकार की गति भी नहीं हो सकेगी।[8] ऐसी दशा में सांख्यवादी संन्यासी, जो कषायवस्त्र धारण, शिरोमुण्डन, दण्डधारण, भिक्षान्न भोजन तथा पंचरात्रोपदेश (ग्रन्थ) के अनुसार यम, नियमादि का पालन करते है, वे समस्त अनुष्ठान व्यर्थ हो जायेंगे तथा 'पच्चीस तत्त्वों का ज्ञाता पुरुष चाहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस किसी आश्रम में रहे और वह जटी, मुण्डी अथवा शिखाधारी हो, मुक्ति को प्राप्त करता है,[9] यह कथन भी निरर्थक हो जायेगा। इस प्रकार आत्मा में सर्वव्यापित्व गुण मानने से देव, मनुष्यादि गतियों में उसका गमनागमन भी नहीं हो सकेगा। सांख्यमतवादी आत्मा को एकान्त रूप से नित्य मानते है। नित्य अर्थात् जो विनष्ट न हो, उत्पन्न न हो, स्थिर हो, सदा एक स्वभाव वाला हो।[10]

आत्मा केवल नित्य भी नहीं

आत्मा को सदा एक स्वभाव वाला, अपरिवर्तनशील मानने पर जो बालक है, वह बालक ही रहेगा। जो मूर्ख है, वह मूर्ख ही रहेगा अर्थात् जो जैसा है, वह वैसा ही रहेगा। क्योंकि नित्य मानने पर न तो नये स्वभाव की उत्पत्ति होती है, न पुराना स्वभाव विनष्ट होता है। वह तो सदा एक-सा ही रहता है। अपरिवर्तनशील तथा स्थिर मानने पर पुण्य के फलस्वरूप देव, मनुष्यादि शरीर की प्राप्ति भी नहीं हो सकेगी। न मूर्ख विद्वान बन सकेगा, न अज्ञानी के ज्ञानी बनने की गुंजाइश रहेगी। ऐसी स्थिति में न त्रिविध दु:खों का सर्वथा नाश होगा, न ही मोक्षादि की प्राप्ति होगी। तथा कुटस्थनित्य ऐसा निष्क्रिय जडात्मा 25 तत्त्वों का ज्ञान भी कैसे प्राप्त कर सकेगा ? एवं उस आत्मा में विस्मृति के अभाव से जातिस्मरण (पूर्व जन्मों का स्मरण) आदि क्रिया भी कैसे सम्भव होगी ?

आत्मा निष्क्रिय नहीं

सांख्यमतवादी निष्क्रिय, अकर्ता आत्मा को भोक्ता मानते है, यह भी घटित नहीं होता क्योंकि यदि आत्मा निष्क्रिय है तो भोगने की क्रिया कैसे कर सकता है, फिर अकर्ता को फल का भोक्ता मानने से अकृतागम दोष आ पड़ेगा, जिससे कर्म कोई करेगा, भोगेगा कोई और। जैसे प्रकृति ने किया है पर फल उसे नहीं मिला यह स्पष्टत: कृतनाश दोष है।

सांख्यवादी आत्मा को निष्क्रिय मानते हुये भी भोगने की क्रिया द्वारा भोक्ता बनाकर पुन: सक्रिय बना देते है यह तो वदतो व्याघात जैसा ही है। इसी प्रकार कर्मों का अकर्ता आत्मा से कर्मफलों का भोग करवाना भी प्रमाण से विरूद्ध है। यदि निष्क्रिय आत्मा भुजिक्रिया नहीं करता है, तो उसे भोक्ता कैसे कहा जा सकता है ? अनुमान प्रमाण से भी आत्मा का अभोक्तृत्व ही सिद्ध होता है। संसारी आत्मा भोक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह भोगक्रिया नहीं करता, जैसे - मुक्त आत्मा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि सांख्यमतवादी कहे कि 'दर्पण में प्रतिबिम्बित मूर्ति बाहर रहकर भी दर्पण में दिखाई देती है, इसी प्रकार आत्मा में न होता हुआ भोग भी आत्मा में प्रतीत होता है' यह कथन भी युक्ति विरूद्ध ही है। प्रतिबिम्ब का उदय भी तो एक प्रकार की क्रिया है। वह क्रिया विकार रहित नित्य आत्मा में कैसे हो सकती है ?

कदाचित् वे यों कहे कि इस आत्मा को भोगक्रिया तथा स्थितिक्रिया मात्र से ही निष्क्रिय नहीं कहते बल्कि समस्त क्रियाओं से रहित होने पर ही निष्क्रिय कहते हैं, तो यह कथन भी न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि वृक्षाभाव के साध्य होने पर फलाभाव को हेतु नहीं बनाया जा सकता अर्थात् ऐसा नहीं होता कि वृक्ष फलवान् हो तभी वृक्ष कहलाये और जब उसके फल न लगे हों तब उसमें वृक्षाभाव हो जाये या वह वृक्ष न कहलाये। इसी तरह सुप्त आदि अवस्थाओं में आत्मा कथंचित् निष्क्रिय होता है, इतने मात्र से उसे निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता।

निर्युक्तिकार ने आत्मा की निष्क्रियता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए कहा है कि जैसे अफलत्व, स्तोकफलत्व तथा अनिश्चितकालफलत्व- ये अद्रुम (वृक्षाभाव) के साधक हेतु नहीं है, अदुग्ध या स्तोकदुग्ध भी गोत्व का अभाव साधने वाले हेतु नहीं है, उसी प्रकार सुप्त, मूर्च्छित आदि अवस्था में कथंचित् निष्क्रिय होने पर भी आत्मा को अक्रिय नहीं कहा जा सकता।'[11]

यदि स्तोक (थोड़े) फल वृक्ष को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है, तो आत्मा की भोक्ता रूप स्वल्प क्रिया भी उसे अवश्य क्रियावान् सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है।

कदाचित् सांख्यवादियों की बुद्धि यह तर्क उपस्थित करे कि स्वल्प क्रिया उसी प्रकार निष्क्रिय रूप है, जैसे एक कार्षापण धन निर्धनता रूप है क्योंकि इस स्वल्प धन से कोई भी व्यक्ति धनवान् नहीं कहला सकता। यह कथन भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि प्रतिनियत अर्थात् शत-सहस्राधिपति पुरुष की अपेक्षा से यदि कहा जाता है, तो यह अवश्य सत्य है कि वह निर्धन है, परन्तु निर्धन पुरुषों की अपेक्षा से वह धनवान् भी है। जैसे जर्जर चीवरधारी की अपेक्षा एक कार्षापणवाला भी अधिक धनवाला ही माना जायेगा।

इसी प्रकार विशिष्ट शक्ति वाले पुरुष की क्रिया की अपेक्षा से यदि आत्मा को क्रियारहित कहे, तो कोई हानि नहीं है, परन्तु सर्वसामान्य की अपेक्षा से यदि आत्मा को निष्क्रिय कहते हैं, तो यह बात असंगत है, क्योंकि सर्व-सामान्य की अपेक्षा से तो आत्मा क्रियावान् ही सिद्ध होता है।'[12]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समीक्षा

सांख्य दर्शन में आत्मा का जो अमूर्त, अकर्ता, नित्य तथा निष्क्रिय स्वरूप माना गया है, वह प्रमाण, युक्ति तथा अनुभव की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। वे एक दोष को मिटाने के लिये सैकड़ों दूषणों का प्रयोग करते हुए नजर आते है। उनका मत एकान्त रूप होने से दूषित है, तथापि वे उसे सत्यता का चोला पहनाकर मिथ्या आग्रह का ही पोषण करते है। इस मिथ्यात्व के कारण वे यहाँ भी 25 तत्त्वों के ज्ञाता होने का झूठा अभिमान कर पाप कर्मोदय वश अज्ञान के गहरे अन्धकार में डूबे रहते है, तथा परलोक में भी दुर्लभबोधि होने से गाढतम अन्धकार में भटकते रहते है।[13]

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *(अ). सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ.-27 : एगे णाम सांख्यादय:।*
   (ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 21
2. *सांख्यकारिका, गा. 19*
3. *सांख्याकारिका, पृ. 89-90 (ब्रजमोहन चतुर्वेदी कृत अनुवाद)*
4. *सांख्यकारिका, 20 तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनवदिव लिंगम्।*
   गुण कर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीन:॥
5. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 21*
6. *दीघनिकाय, 1/2/4/17*
7. *सांख्यकारिका*
   तस्मान्न बध्यते अद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।
   संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति:॥
8. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 34*
   को वेएई अकयं ? कयनासो पंचहा गइ नत्थि।
   देवमणुस्सगयागइ जाइ सरणाइयाणंइ च॥
9. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 23 पंचविंशतितत्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमेरत:।*
   जटीमुण्डीशिखी वापि, मुच्यते नात्र संशय:॥
10. *सांख्यतत्त्वकौमुदी - अप्रच्युताऽनुत्पन्न-स्थिरैक स्वभाव: नित्य:॥*
11. *(अ). सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 35*
    (ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 23
12. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 23*
13. *सूत्रकृतांग सूत्र - 1/1/1/14*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. आत्मषष्ठवाद

सूत्रकृतांग सूत्र के (प्र. श्रु.) प्रथम समय अध्ययन की 16वीं तथा 17वीं गाथाद्वय में आत्मषष्ठवाद का उल्लेख किया गया है। जो पाँचभूतों के अतिरिक्त आत्मा को भी मानते है, वे आत्मषष्ठवादी कहलाते है। वृत्तिकार ने[1] इसे वेदवादी, सांख्य तथा शैवाधिकारियों (वैशेषिको) का मत बताया है। चूर्णि में इस मत को अफलवाद भी कहा है।[2] प्रो. हर्मन जेकोबी[3] इसे चरक मत मानते है। बौद्ध ग्रन्थ 'उदान' में आत्मा और लोक को शाश्वत मानने वाले कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का उल्लेख प्राप्त होता है।[4]

सूत्रकृतांग में वर्णित आत्मषष्ठवाद के अनुसार इस जगत में पाँच महाभूत तथा छट्ठा आत्मा है। ये छः पदार्थ सहेतुक (सकारण) या अहेतुक (अकारण) दोनों ही प्रकार से नष्ट नहीं होते। न ही असत् वस्तु की कभी उत्पत्ति होती है। सभी पदार्थ सर्वथा नियतिभाव (नियत्व) को प्राप्त होते है। आत्मा तथा लोक नित्य (शाश्वत) है।[5]

आत्मषष्ठवाद की मुख्य मान्यताएँ - शास्त्रकार ने इन दो गाथाओं में आत्मषष्ठवाद की मुख्य 5 मान्यताओं को स्पष्ट किया है -

(1) पाँच महाभूत अचेतन है तथा छट्ठा पदार्थ आत्मा है, जो सचेतन है।
(2) आत्मा तथा लोक, दोनों शाश्वत है।
(3) छहों पदार्थ सहेतुक या अहेतुक, दोनों ही प्रकार से विनष्ट नहीं होते।
(4) असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती तथा सत् का कभी नाश नहीं होता।
(5) सभी पदार्थ सर्वथा नित्य है।

आत्मषष्ठवादी आत्मा की नित्यता सिद्ध करने के लिये कहते है कि भूत-चैतन्यवादियों का यह कथन असंगत है कि आत्मा अनित्य है। आत्मा को सर्वथा अनित्य मानने से बंध तथा मोक्ष की व्यवस्था नहीं होगी, अतः आत्मा आकाश की तरह सर्वव्यापी तथा अमूर्त्त होने से नित्य है। इस प्रकार पंचमहाभूत रूप लोक भी अपने स्वभाव तथा स्वरूप से च्युत न होने के कारण अविनाशी, नित्य तथा शाश्वत है।[6]

बौद्ध दर्शन में आत्मवाद की धारणा अनित्यवाद पर स्थित है। आत्मा केवल शरीर घटक धातुओं का समुच्चय मात्र है, जिसका प्रतिक्षण विनाश एवं उत्पाद होता है। इसके अतिरिक्त आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। पदार्थ की उत्पत्ति के पश्चात् तत्काल ही निष्कारण विलय या विनाश क्षणिकवाद है। इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनाश का कारण भी उत्पत्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट न हुआ, वह बाद में किस कारण नष्ट होगा, अत: उत्पत्ति के अनन्तर ही पदार्थ विनष्ट हो जाता है।[7]

आत्मषष्ठवादी इस अकारण विनाश को नहीं मानते, और न ही वैशेषिक दर्शन सम्मत डण्डे, लाठी के प्रहार से सहेतुक (सकारण) विनाश को मानते है। उनकी प्रबल मान्यता है कि सकारण तथा अकारण दोनों ही प्रकार से आत्मा तथा लोक का नाश नहीं होता।

'दुहओ वि' पद का सम्भवित अर्थ यह भी हो सकता है कि पृथ्वी आदि पंचभूत अपने अचेतन स्वभाव से तथा आत्मा अपने चैतन्य स्वभाव से कभी च्युत या नष्ट नहीं होते, अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, अत: आत्मा तथा लोक नित्य ही है।

आत्मा किसी के द्वारा कृत नहीं होने से अकृत है, निर्मित नहीं होने से अनिर्मित है, इत्यादि हेतुओं से भी नित्य है। अकृत, अनिर्मित और अवन्ध्य-नित्यवाद की सूचना देनेवाले ये तीनों शब्द जैन और बौद्ध, दोनों की साहित्य परम्पराओं में समान है। पंचमहाभूत और सात काय- ये दोनों भिन्न पक्ष है। इस भेद का कारण पकुधकात्यायन की दो विचार शाखाएँ हो सकती है और यह भी सम्भव है कि जैन और बौद्ध लेखकों को दो भिन्न अनुश्रुतियाँ उपलब्ध हुई हो।

प्रस्तुत आत्मषष्ठवाद पकुधकात्यायन के दार्शनिक पक्ष की दूसरी शाखा है। इसकी सम्भावना की जा सकती है कि पकधुकात्यायन के कुछ अनुयायी केवल पंचमहाभूतवादी थे। वे आत्मा का अस्वीकार करते थे। और कुछ अनुयायी पंचमहाभूत के साथ छठा आत्म-तत्त्व भी स्वीकारते थे। वह स्वयं भी आत्मा को स्वीकार करता था। सूत्रकार ने उसकी दोनों शाखाओं को एक ही प्रवाद में प्रस्तुत किया है। इसी आधार पर उक्त सम्भावना की जा सकती है।

पकुधकात्यायन भूतों की भाँति आत्मा को भी कूटस्थनित्य मानता था। आत्मषष्ठ-वाद का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी उपलब्ध होता है। आत्मषष्ठवादी मानते है -

..... सत् का नाश नहीं होता, असत् का उत्पाद नहीं होता, इतना ही (पंचमहाभूत या प्रकृति) जीवकाय है। इतना ही अस्तिकाय है। इतना ही समूचा लोक है और यही लोक का कारण है और यही सभी कार्यों में कारण रूप से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याप्त होता है। अन्ततः तृण मात्र कार्य भी उन्हीं से होता है। (उक्त सिद्धान्त को माननेवाला) स्वयं क्रय करता है, दूसरों से करवाता है, स्वयं पकाता है, दूसरों से पकवाता है और अन्ततः मनुष्य को भी बेचकर या मारकर कहता है - इसमें भी दोष नहीं है- ऐसा जानो।[8]

भगवद्गीता में आत्मा की अनश्वरता और नित्यता स्पष्टतः उल्लिखित है- इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, पानी भिगों नहीं सकता, हवा सुखा नहीं सकती। अतः आत्मा अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अविकारी, नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अविचल, और सनातन (शाश्वत) कहलाती है।[9]

असत् पदार्थ की कभी उत्पत्ति नहीं होती। सर्वत्र सत् पदार्थ की ही उत्पत्ति देखी जाती है।[10] इस कथन में सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद के द्वारा आत्मा तथा लोक की नित्यता की सिद्धि करता है, क्योंकि जो पदार्थ असत् है, उसमें कर्ता, करण आदि कारकों का व्यापार नहीं होता। सत् पदार्थ में ही ऐसा सम्भव होता है।

सत्कार्यवाद की सिद्धि में निम्न पाँच कारण अपेक्षित है -[11]

(1) **असदकरणात्** - जो वस्तु है ही नहीं, ऐसी अविद्यमान वस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि कारण में कार्य की सत्ता वस्तुतः नहीं होती, तो कर्ता के कितने भी प्रयास करने पर उसमें कार्य उत्पन्न हो नहीं सकता। जैसे खरविषाण, शशशृंग या आकाशपुष्प का अस्तित्व ही नहीं है, उसे कैसे बनाया जा सकता है?

(2) **उपादानग्रहणात्** - जो वस्तु सत् है, उसी वस्तु का उपादान विद्यमान होता है। कर्ता किसी वस्तु को बनाने के लिये उपादान को ही ग्रहण करता है। मृत्तिका में घट अवश्यमेव अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। कुम्हार घट को बनाने की इच्छा से उसके उपादान कारण मृत्पिण्ड को ही ग्रहण करता है। इन व्यावहारिक दृष्टान्तों से कार्य-कारण का सम्बन्ध नियत है। अतः स्पष्ट है कि विद्यमान उपादान से ही सत् की उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा न होता तो कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न होता दिखाई पड़ता, तब मिट्टी से कपड़ा भी बन जाता परन्तु प्रत्यक्ष जगत में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता।

(3) **सर्वसम्भवाभावात्** - सब कारणों से सब कार्यों की सिद्धि कभी नहीं होती। यदि ऐसा सम्भव होता तो वृक्ष की लकड़ी से पुतली ही क्यों बनायी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाती है ? गेहूँ, जौ, चना, घट, पट भी बनाये जाते। अत: प्रत्येक कार्य अपने नियत उपादान में ही रहता है। बालु से तेल निकल नहीं सकता। तेल की प्राप्ति के लिये तिल की ही अपेक्षा होगी।

(4) शक्तस्यशक्यकरणात् - मनुष्य शक्त (शक्ति सम्पन्न) से जो शक्य हो, उसे ही करता है। कर्ता द्वारा अशक्य पदार्थ बनाने पर असत् की उत्पत्ति का प्रश्न भी आ पड़ेगा, जो कि सम्भव नहीं है। चूँकि असत् की उत्पत्ति नहीं होती, अत: कर्ता भी शक्ति द्वारा जो साध्य शक्य हो, वही करता है।

(5) कारणभावाच्च सत्कार्यम् - 'कार्य कारण के समान होता है' यह हेतु भी सिद्ध करता है कि कार्य उत्पत्ति से पूर्व कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। योग्य या उपादान कारण में स्थित (सत्) पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है। जैसे आम के बीज से आम की ही उत्पत्ति होती है, बबूल की नहीं। यदि कारण में स्थित कार्य उत्पन्न नहीं होता है, तो आम के बीज से बबूल पैदा होने का दोष आ पड़ेगा। वस्तुत: कारण और कार्य एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाओं के भिन्न नाम है। व्यक्त दशा कार्य है, जो घट रूप है। अव्यक्त दशा कारण है, जो मृत्पिण्ड रूप है।

उपर्युक्त सत्कार्यवाद पंचयुक्तियों द्वारा पंचमहाभूत तथा आत्मा, इन छहों की नित्यता सिद्ध करने का प्रयास करता है। ये छ: पदार्थ पहले अभाव रूप थे, फिर भाव रूप हो गये हो, ऐसा नहीं है।

निष्कर्ष यही निकलता है कि सत्यकार्यवाद में उत्पत्ति तथा विनाश केवल आविर्भाव तिरोभाव के अर्थ में है। न तो किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है, न विनाश। वह अपने स्वरूप में सदैव विद्यमान रहती है। कर्ता के व्यापार से वस्तु का आविर्भाव मात्र होता है। अव्यक्त वस्तु व्यक्त रूप में प्रकट होती है।

आत्मषष्ठवाद के एकान्त नित्यत्व का खण्डन

आत्मषष्ठवादियों का एकान्त नित्यवाद यथार्थ नहीं है, क्योंकि समस्त पदार्थों को एकान्त नित्य मानने पर आत्मा में कर्तृत्व परिणाम नहीं हो सकेगा। कर्तृत्व परिणाम के अभाव में कर्मबंध कैसे होगा ? कर्मबंध न होने पर उसके सुख-दु:ख रूप फल का भोग कौन करेगा ? इस प्रकार आत्मा को अकर्ता मानने पर कर्मबंध का सर्वथा अभाव हो जायेगा।

जैन दर्शन के अनुसार कोई भी पदार्थ एकान्त नित्य या अनित्य नहीं हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता। एकान्त कथन वस्तु के एकपक्ष को ही व्यक्त करता है, सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं।

सत्कार्यवाद असत् की उत्पत्ति को सर्वथा असिद्ध करने का प्रयास करता है। यदि असत् की उत्पत्ति कथंचित् न माने तो पूर्वभव का त्याग कर उत्तरभव की उत्पत्ति रूप जो आत्मा की चतुर्गति तथा पंचम मोक्षगति बताई है, वह कैसे सम्भव होगी? आत्मा को अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर, अचल एवं नित्य मानने पर उसका मनुष्य, देवादि गतियों में गमना-गमन असम्भव होगा तथा स्मृति का अभाव न होने से जातिस्मरण भी नहीं हो सकेगा। अत: आत्मा को एकान्त नित्य कहना सर्वथा मिथ्या है। इसी प्रकार सत् की ही उत्पत्ति होती है, यह एकान्त कथन भी दोषपूर्ण है। यदि वह (कार्य) पहले से ही सर्वथा सत् है, तो फिर उत्पत्ति कैसे ? और उत्पत्ति होती है, तो सर्वथा सत् कैसे ? इसलिये कहा गया है -

कर्मगुणव्यपदेशा: प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात्।
कार्यमसद्विज्ञेयं, क्रिया प्रवृत्तेश्च कर्तृणाम्॥ *न्याय सिद्धान्त*

अर्थात् जब तक घटादि कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक उनके द्वारा जलधारण या जलानयन कार्य सम्पन्न नहीं किये जा सकते तथा उनके गुण भी नहीं पाये जाते। उन्हें घटादि रूप में तभी सम्बोधित किया जाता है, जब वे जलधारण के घटत्व गुण से युक्त हो जाये। मृत्पिण्ड से न जल लाया जा सकता है, न जलधारण किया जा सकता है। मृत्पिण्ड घट का उपादान कारण होने पर भी जब तक वह घटत्व के गुणों से परिपूर्ण नहीं होता, तब तक मिट्टी के पिण्ड को कोई घड़ा नहीं कहता। घट निर्माण की आवश्यकता घट न होने पर ही होती है, घट बन जाने पर नहीं। अत: घट रूप कार्य को उत्पत्ति से पूर्व असत् ही समझना चाहिये।

विमर्शणीय है कि प्रत्येक कार्य उत्पत्ति से पूर्व असत् ही होता है। उत्पत्ति होते ही वह कार्य सत् कहलाता है। अत: आत्मा आदि पदार्थ कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथंचित् सत्, कथंचित् असत् है। आत्माषष्ठवादी उसे सदसत्कार्यवाद न मानकर एकान्त सत्कार्यवाद का ही राग आलापते है। यह एकान्त आग्रह ही मिथ्यात्व है।

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का प्राण है। अनेकान्तवाद की मजबूत और सुदृढ़ नींव पर ही जैन दर्शन का विराट् महल टिका हुआ है। सूत्रकृतांग में षट्पदार्थवादियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के इस मत को मिथ्या बताया गया है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य रूप से सत् तथा पर्याय रूप से असत् है। इस प्रकार सदसत् की यह व्याख्या अनेकान्त की ही फलश्रुति है।[12]

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 24 : एकेषां वेदवादिनां सांख्यानां शैवाधिकारिणाञ्चेतद् आख्यातम्।
2. सूत्रकृतांग चूर्णि पृष्ठ - 28 : इदाणिं आयच्छट्ठाऽफलवादिति।
3. 'This is the opinion expressed by charak'
   The sacred book of the east Vol. XLV Page No. 237
4. उदान पृ. 146 : सन्ति पनेके समण ब्राह्मणा एवं वादिनो एवं दिट्ठिनो-सस्सत्तो अत्ता च लोको च, इदमेव मोघञ्ञंति।
5. सूत्रकृतांग सूत्र, 1/1/1/15-16
6. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 24
7. बौद्ध दर्शन : जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते।
   यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत पश्चात् स केन च?
8. सूयगडो, 2/1/27, 28
9. गीता अ.-2/23-24 : नैनं छिन्दन्ति शास्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
   न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारूतः॥
   अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
   नित्यं सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
10. गीता अ. 2/16 - 24 : नासतो विद्यते भावो, ना भावो जायते सतः।
    उभयोपि दृष्टोऽन्तरस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥
11. सांख्यकारिका : असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भावाऽभावात्।
    शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥
12. अ). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 24
    ब). सूत्रकृतांग - अमरसुख बोधिनी व्याख्या, प्र.श्रु. पृ. 113/114

6. क्षणिकवाद

सूत्रकृतांग सूत्र में आत्मषष्ठवाद के पश्चात् क्षणिकवाद का खण्डन किया गया है। यह क्षणिकवाद दो रूपों में उल्लिखित है। चूर्णिकार ने इसे शाक्यदर्शन का मत कहा है परन्तु वृत्तिकार ने पञ्चमहाभूतवादी, तज्जीव-तच्छरीरवादी तथा सांख्य आदि मोक्षवादियों का ग्रहण किया है।[1]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्रहवीं गाथा में पञ्चस्कन्धवादी कतिपय बौद्धों की क्षणिकवाद की मान्यता प्रतिपादित है तो अठारहवीं गाथा में कुछ बौद्धों के चातुर्धातुकवाद का वर्णन है, जो क्षणिकवाद का ही दूसरा रूप है। इसका प्रतिपादन शास्त्रकार ने इस प्रकार किया है-

कुछ बाल अज्ञानी क्षणमात्र स्थिर रहने वाले पाँच स्कन्ध बताते है। उनके अनुसार इन पाँच स्कन्धों से भिन्न या अभिन्न, कारण से उत्पन्न (सहेतुक) या अकारण उत्पन्न (अहेतुक) आत्मा नहीं है।

धातुवादी बौद्ध पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चतुर्धातु जब शरीर के रूप में परिणत होकर एकाकार हो जाते है, तब इनकी जीव संज्ञा होती है, ऐसा मानते है।[2]

1. क्षणिकवादी पञ्चस्कन्धवाद

शास्त्रकार 'वयंतेगे' पद द्वारा पञ्चस्कन्ध को ही आत्मा मानने वाले बौद्धों की ओर संकेत करते है अर्थात् सभी बौद्ध मत वाले ऐसा नहीं मानते। चूर्णिकार के अनुसार बौद्ध आत्मा को पञ्चस्कन्धों से भिन्न या अभिन्न- दोनों को नहीं मानते।[3]

उस समय दो दृष्टियां प्रचलित थीं। कुछ दार्शनिक आत्मा को शरीर से भिन्न मानते थो तो कुछ अभिन्न। बौद्ध इन दोनों दृष्टियों से सहमत नहीं थे। आत्मा के विषय में उनका अभिमत था कि वही जीव है और वही शरीर है - ऐसा नहीं कहना चाहिए। जीव अन्य है और शरीर अन्य है - ऐसा भी नहीं कहना चाहिए।

बौद्ध का दृष्टिकोण यह है कि स्कंधों का भेदन होने पर यदि पुद्गल आत्मा का भेदन होता है तो उच्छेदवाद प्राप्त हो जाता है। स्कंधों का भेदन होने पर यदि पुद्गल का भेदन नहीं होता है तो पुद्गल शाश्वत हो जाता है। वह निर्वाण जैसा बन जाता है। उक्त दोनों- उच्छेदवाद तथा शाश्वतवाद से बुद्ध सम्मत नहीं है, इसलिए यह नहीं कहना चाहिए कि स्कंधों से पुद्गल भिन्न है और यह भी नहीं कहना चाहिए कि स्कंधों से पुद्गल अभिन्न है।

बौद्ध पिटकों में पाँच स्कन्ध इस प्रकार प्रतिपादित है[4] -

1. **रूप स्कन्ध** - पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार धातु तथा रूप आदि विषय रूपस्कन्ध कहलाते है। भूत और उपादान के भेद से रूपस्कन्ध दो प्रकार का होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. **वेदना स्कन्ध** - सुख-दु:ख और असुख-दु:ख रूप (जो न सुख रूप हो, न दु:ख रूप हो) वेदन को वेदना स्कन्ध कहते है। यह वेदना पूर्वकृत कर्म विपाक से होती है।

3. **संज्ञा स्कन्ध** - विभिन्न संज्ञाओं के कारण वस्तु विशेष को पहचानने के लक्षण वाला स्कन्ध संज्ञा स्कन्ध कहलाता है। संज्ञा वस्तु-विशेष का बोधक शब्द है, जैसे - अश्व, गौ आदि।

4. **संस्कार स्कन्ध** - पुण्य, पापादि धर्म समुदाय को संस्कार स्कन्ध कहते है।

5. **विज्ञान स्कन्ध** - जो जानने के लक्षण वाला है, उस रूपविज्ञान, रसविज्ञान आदि विज्ञान समुदाय को विज्ञान स्कन्ध कहते है।

पंचस्कन्धवादियों के अनुसार इन पाँचों स्कन्धों से भिन्न या अभिन्न सुख-दु:ख, इच्छा, द्वेष, ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नहीं है, न स्कन्धों से भिन्न आत्मा का प्रत्यक्ष से ही अनुभव होता है। उस आत्मा के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाला कोई निर्दोष लिंग भी गृहीत नहीं होता, जिससे कि वह अनुमान द्वारा सिद्ध हो सके। प्रत्यक्ष तथा अनुमान के अतिरिक्त और कोई तीसरा अविसंवादी प्रमाण नहीं है। अत: पञ्चस्कन्धों से भिन्न आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है।

बौद्ध सम्मत ये पाँचों स्कन्ध क्षणयोगी है। क्षणमात्र अवस्थित रहते है, दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाते है। ये स्कन्ध न तो कुटस्थनित्य (सदा एक से रहने वाले) है, न ही कालान्तर स्थायी (दो चार क्षण ठहरने वाले), परन्तु जल प्रवाह की तरह प्रतिक्षण में परिणाम प्राप्त करते रहते है।[5] स्कन्धों के क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिये बौद्धमतवादी अनुमान प्रमाण का भी प्रयोग करते है -

स्कन्ध क्षणिक है, क्योंकि वह सत् है।

जो-जो सत् होता है, वह-वह क्षणिक होता है। जैसे मेघमालाएँ क्षणिक है, क्योंकि वे सत् है। उसी प्रकार सभी सत् पदार्थ क्षणिक है।

सत् का लक्षण - सत् का लक्षण है- अर्थक्रियाकारित्व।[6] वस्तु की क्रिया ही अर्थक्रिया है, जैसे अग्नि का जलाना, पानी का प्यास बुझाना। जो वस्तु की क्रिया करता है, वही वस्तु है। स्पष्ट है कि वह क्रिया करना वस्तु का लक्षण है। क्रियावान् ही वस्तु अर्थात् सत् है। अत: सत् पदार्थ में नित्यत्व या स्थायित्व घटित नहीं हो सकता क्योंकि नित्य पदार्थ अकर्त्ता या अक्रिय होता है। अत:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत् पदार्थ में क्षणिकत्व ही सिद्ध होता है।

पदार्थ की क्षणिकता - नित्य पदार्थ में क्रम से या युगपत् (एकसाथ) अर्थक्रिया नहीं हो सकती क्योंकि नित्य, अविनश्वर पदार्थ का स्वभाव बदलेगा ही नहीं और बिना स्वभाव परिवर्तन के भिन्न-भिन्न क्रियाएँ सम्भव नहीं, अत: नित्य पदार्थ द्वारा क्रिया नहीं हो सकने के कारण वह कोई वस्तु हो ही नहीं सकता।[7]

यदि नित्य पदार्थ क्रम से कार्य करेगा तो कालान्तर में होने वाली समस्त क्रियाओं को पहली क्रिया के समय में क्यों नहीं कर लेता ? क्योंकि समर्थ कालक्षेप नहीं करता। यदि ऐसा कहे कि पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ तो है, बशर्ते कि उसे सहकारी कारणों का सहयोग मिले, तो यह समाधान भी उपयुक्त नहीं है। ऐसा होने पर तो वह असमर्थ और पराश्रित हो जायेगा। अत: नित्य पदार्थ का क्रम से अर्थक्रियाकारित्व असमीचीन है।

यदि नित्य पदार्थ युगपत् अर्थ-क्रिया करने लगे तो एक पदार्थ समस्त देशकालों में होने वाली समस्त क्रियाओं को एक साथ ही कर लेगा। परन्तु ऐसी प्रतीति कहीं भी किसी को नहीं होती। यदि सभी पदार्थों की उत्पत्ति एक साथ मानी जाय तो कार्य और कारण भी एक साथ उत्पन्न होने लगेंगे, तब दण्ड-घटादि में परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं बन सकेगा और यदि स्थिर पदार्थ एक साथ ही समस्त अर्थ-क्रियाओं को कर डालेगा, तो दूसरे-तीसरे क्षण में क्या करेगा ? अत: एक साथ (युगपत्) अर्थ-क्रिया करने का पक्ष भी असत्ग्राही है।

इस प्रकार बौद्धमतवादी पदार्थ की नित्यता के विरोध में तर्क प्रस्तुत कर उसे अनित्य सिद्ध करने का प्रयास करते है। पदार्थ को अनित्य मानने पर उसकी क्षणिकता अनायास ही सिद्ध हो जाती है।

शास्त्रकार के 'अण्णो-अणण्णो' इन पदों को वृत्तिकार ने स्पष्ट किया है- पाँच भूत और छठे आत्मा को मानने वाले आत्मषष्ठवादी पाँच भूतों से अन्य (पृथक्) आत्मा का अस्तित्व स्वीकारते है, जबकि तज्जीव-तच्छरीरवादी, पंचमहाभूतवादी इन भूतों से अभिन्न (अनन्य) आत्मतत्व को मानते है, परन्तु बौद्ध मत इन दोनों से पृथक् है। बुद्ध ने पाँच भूतों से निर्मित शरीर से आत्मा को अन्य या अनन्य कहने से इन्कार किया है। यह उनके अव्याकृत प्रश्नों से स्पष्ट होता है।[8]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार बौद्धमतवादी आत्मा को न तो सहेतुक, न अहेतुक आत्मा मानते है। इस मत को शास्त्रकार ने 'हेउयं च अहेउयं च' इस पद के द्वारा सूचित किया है।

क्षणिकवादी चातुर्धातुकवाद - इसी क्रम में शास्त्रकार ने क्षणिकवाद के दूसरे रूप चातुर्धातुकवादियों के मत का उल्लेख किया है। वृत्तिकार के अनुसार यह मत भी कतिपय बौद्धों का है।[9]

चातुर्धातुकवाद का स्वरूप मज्झिमनिकाय के अनुसार निम्न प्रकार से है -[10] जगत् में पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातु ही सर्वस्व है। ये चारों जगत् का धारण-पोषण करने से धातु कहलाते है। इन चारों से जगत् की उत्पत्ति होती है। ये ही एकाकार होकर जब शरीर रूप में परिणत होते है, तब इनकी जीवसंज्ञा होती है। अर्थात् इनसे भिन्न आत्मा नहीं है। इन्हीं के समुदाय को आत्मा का नाम दिया जाता है। वे कहते है- 'चातुर्धातुकमिदं शरीरं, न तदत्यतिरिक्तं आत्मा।' चतुर्धातुओ का सम्मेलन ही शरीर है। इनसे भिन्न कोई आत्मा नहीं है। यह भूतसंज्ञक रूप स्कन्धमय होने के कारण पंचस्कन्धों की तरह क्षणिक है। अत: चातुर्धातुकवाद भी क्षणिकवाद का ही एक रूप है।

किसी-किसी प्रति में गाथोक्त 'आवरे' के स्थान पर 'जाणगा' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है, ऐसा उल्लेख वृत्तिकार ने किया है।[11] 'जाणगा' अर्थात् 'हम जानकार है'। बौद्ध मतवादियों के इस कथन से यह प्रतीत होता है कि वे अभिमान की अग्नि से दग्ध है, जो इस प्रकार अपने ज्ञान का प्रदर्शन करते हुए कहते है कि चतुर्धातुओं से उत्पन्न शरीर से भिन्न कोई आत्मतत्व नहीं है।

अफलवादी बौद्धों के मत का निरसन

वृत्तिकार ने बौद्धों के क्षणिकवाद एवं पूर्वोक्त सांख्यवेदान्ती सभी मतानुयायियों को अफलवादी कहा है। इनमें से किन्हीं (सांख्यादि) के मत में आत्मा नित्य, अमूर्त, सर्वव्यापी तथा अकर्ता है, उनके मतानुसार विकारहीन, निष्क्रिय आत्मा में कर्तृत्व या फल भोक्तृत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ?

कूटस्थ-नित्य, क्रिया से रहित आत्मा में किसी प्रकार की कृति नहीं होती। कृति के अभाव में कर्तृत्व नहीं होता और कर्तृत्व के अभाव में क्रिया का सम्पादन करना कैसे सम्भव होगा ? ऐसी स्थिति में सुख-दु:ख रूप क्रिया का भोग नहीं होगा। जो सर्वथा एक स्वभाव वाला है, उदासीन और प्रपंच रहित है, वह कर्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या भोक्ता नहीं हो सकता।

कुछ मतवादी पंचस्कन्धों या पंचभूतों से भिन्न आत्मा नहीं है, ऐसा कहते है। यदि आत्मा का अभाव है, तो सुख-दु:खादि का अनुभव कैसे होगा और कौन करेगा ?

क्षणिकवादियों के मतानुसार क्रिया करने के क्षण में ही कर्ता (आत्मा) का समूल विनाश हो जाता है। अत: उसका क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जब फल प्राप्ति तक आत्मा रहता ही नहीं, तो इहलोक-परलोक सम्बन्धित फल का भोक्ता कौन होगा ? चूँकि इनके मत में पदार्थ मात्र क्षणिक है, आत्मा भी क्षणिक है और दानादि क्रियाएँ भी क्षणिक है, अत: समस्त वस्तुओं के क्षणिक होने से किसी क्षण की क्रिया फल दिये बिना ही अतीत के गर्भ में विलीन हो जाती है।

यदि यह कहे कि सुख-दु:खात्मक क्रियाफल का भोग विज्ञानस्कन्ध करता है, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि विज्ञानस्कन्ध भी तो क्षणिक है और ज्ञानक्षण अति सूक्ष्म होने के कारण उसमें सुख-दु:ख का अनुभव नहीं हो सकता।

इसी प्रकार क्रियावान् को क्षण-विनश्वर मानने से क्रियावान् और फलवान् में समय का काफी अन्तर हो जायेगा। इस कारण जो पदार्थ क्रिया करता है और जो उसके फल को भोगता है, इन दोनों में भेद हो जायेगा। कर्त्ता और भोक्ता का परस्पर अन्यन्त भेद कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम दोषों को उत्पन्न करेगा।

यदि कहे कि ज्ञान-सन्तान (ज्ञान की परम्परा) एक है, इसलिये जो ज्ञान-सन्तान क्रिया करता है, वही उसका फल भोगता है। अत: पूर्वोक्त दोष नहीं आते तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वह ज्ञान-सन्तान भी प्रत्येक ज्ञानों से भिन्न नहीं है। अत: उस ज्ञान-सन्तान से भी कुछ फल नहीं है।

यदि ऐसा कहे कि पूर्व-क्षण उत्तर-क्षण में अपनी वासना को स्थापित करके नष्ट होता है, जैसाकि कहा है - जिस ज्ञान-सन्तान में कामवासना स्थित रहती है, उसी में फल उत्पन्न होता है।[12] जिस कपास में लाली होती है, उसी में फल उत्पन्न होता है, तो यहाँ भी विकल्प पैदा हो जायेगा कि वह वासना उस क्षणिक पदार्थ से भिन्न है या अभिन्न है ? यदि भिन्न है, तो वह वासना उस क्षणिक पदार्थ को वासित नहीं कर सकती। यदि अभिन्न है, तो उस क्षणिक पदार्थ के समान वह भी क्षण-क्षयिणी है।

अत: आत्मा के न होने पर सुख-दु:ख का भोग नहीं हो सकता। परन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख-दुःख का अनुभव अवश्यमेव होता है अतः आत्मा निश्चय ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

यदि यह कहे कि क्षणमात्र स्थित रहने वाले पूर्व-पदार्थ से उत्तर-पदार्थ की उत्पत्ति होती है, इसलिये क्षणिक पदार्थों में परस्पर कार्य-कारण भाव हो सकता है, तो यह कथन भी असंगत है। क्योंकि यहाँ प्रश्न होगा कि पहला पदार्थ स्वयं नष्ट होकर उत्तर पदार्थ को उत्पन्न करता है अथवा नष्ट न होकर उत्पन्न करता है ? यदि नष्ट होकर उत्पन्न करता है तो यह कैसे सम्भव होगा ? जो स्वयं नष्ट हो गया हो, वह दूसरे को उत्पन्न करने में असमर्थ है। यदि नष्ट न होकर उत्पन्न करता है, तो यहाँ उत्तर-पदार्थ के काल में पूर्व पदार्थ की विद्यमानता की आपत्ति होगी। ऐसा कथन क्षणभंगवाद की मान्यता के विरूद्ध होगा।

इसका समाधान अगर यो करे कि जैसे तराजु का एक पलड़ा, स्वयं नीचा होता हुआ दूसरे पलड़े को ऊपर उठाता है, उसी तरह पहला पदार्थ स्वयं नष्ट होता हुआ उत्तर पदार्थ को उत्पन्न करता है, तो यह कथन भी समीचीन नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर दो पदार्थों की एक काल में स्थिति हो जायेगी जो कि क्षणिकवाद सिद्धान्त के प्रतिकूल है। ऐसी दशा में उत्पत्ति और विनाश एक साथ मानने पर उनके धर्मी-रूप पूर्व और उत्तर पदार्थ की भी एक काल में स्थिति सिद्ध होगी। अगर उत्पत्ति और विनाश को पदार्थों का धर्म न माने तो उत्पत्ति और विनाश कोई वस्तु ही सिद्ध न होंगे।[13]

'पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके नाश का कारण है' यह कथन भी दोष-दुष्ट है। यदि पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके नाश का कारण है तो किसी भी पदार्थ को उत्पन्न ही नहीं होना चाहिये क्योंकि उनके नाश का कारण उनके निकट ही विद्यमान है।

क्षणिकवादी पदार्थ को क्षणिक मानकर उस पदार्थ का सर्वथा अभाव मानते है, वह भी ठीक नहीं है। क्षणिक सत्ता मानने पर आत्मा भी अभावरूप हो जायेगी तो इहलोक-परलोक संबंधी सारी व्यवस्थाएँ ही चौपट हो जायेगी।

पदार्थों की व्यवस्था के लिये चार प्रकार के अभाव माने गये है - प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव।

1. **प्रागभाव** - वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व रहने वाला अभाव।

2. **प्रध्वंसाभाव** - वस्तु के नष्ट हो जाने पर होने वाला अभाव।

3. **अत्यन्ताभाव** - वस्तु का अत्यिन्तक अभाव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4.अन्योन्याभाव - वस्तु का पारस्परिक अभाव।

जैनदर्शन के अनुसार यहाँ प्रध्वंसाभाव मानना चाहिए। प्रध्वंसाभाव में कारकों का व्यापार होता ही है। क्योंकि वह वस्तुत: पदार्थ का पर्याय यानी अवस्था-विशेष है, अभावमात्र नहीं है। वह अवस्था-विशेष भाव-रूप है, क्योंकि वह पूर्व-अवस्था को नष्ट करके उत्पन्न होती है, अत: जो कपाल आदि की उत्पत्ति है, वही घट आदि का विनाश है, जो कारणवश, कभी-कभी होता है। इस कारण वह सहेतुक भी है। इस प्रकार क्षणभंगवाद विचारसंगत न होने से वस्तु परिणामी नित्य है, यह पक्ष मानना ही ठीक है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा परिणामी, ज्ञान का आधार, दूसरे भावों में जानेवाला और भूतों से कथंचित् भिन्न तथा शरीर के साथ मिलकर रहने से वह शरीर से कथंचित् अभिन्न भी है। वह आत्मा नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवादि गति में कारण रूप कर्मों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में बदलता रहता है, इसलिए वह सहेतुक भी है। आत्मा के निज-स्वरूप का कभी नाश नहीं होता इसलिए वह नित्य तथा निर्हेतुक भी है।[14]

इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा सिद्ध होने पर भी उसे चतुर्धातुओं से निर्मित अथवा पंचस्कंधों का संघात मानते हुए क्षणिक मानना मिथ्या-आग्रह ही है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *अ). सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 29*
   ब). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 25
2. *सूयगडो - 1/1/1/17-18*
3. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 29*
4. *दीघनिकाय 10/3/20 पञ्चक्खन्धो - रूपक्खन्धो, वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खंधो, संङ्खारक्खंधो, विञ्ञाणक्खंधो त्ति। तत्थ यं किंचि सीतादि हि रूपन्न लक्खण धम्मजातं सत्वं तं एकतो कत्वा रूपक्खंधो ति वेदितव्वं।..... यं किंचि वेदयति लक्खणं ..... वेदनाक्खंधो वेदितव्वो यंकिंचि संजानन लक्खणं..... सञ्ञखंधो वेदितव्वो।*
5. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 25*
6. *(अ) प्रमाणवार्तिक-अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्।*
   (ब) न्यायबिन्दु-अर्थक्रियासामर्थ्य-लक्षणत्वादवस्तुत:।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. *तत्त्वसंग्रह - क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थ क्रिया कृता न भवन्ति स्थिराभावा निःसत्वा स्ततो मतः॥*

8. *मज्झिमनिकाय, चूलमालुंक्य सुत्त - 63*

9. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 26*

10. *विसुद्धिमग्ग खंधनिद्देश पृ. - 309 : ..... तत्थभूतरूपं चउव्विधं-पृथवीधातु, आयोधातु, तेजोधातु वायोधातुत्ति।*

11. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 26*

12. *(अ) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 26 : यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव संधत्तेः, कर्पासे रक्तता यथा॥*

(ब) अमरसुख बोधिनी व्याख्या पृ. - 119-124

13. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 27*

14. *वही*

7. नियतिवाद

सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नियतिवाद का निरूपण हुआ है।

इससे पूर्व पंचमहाभूतवाद, तज्जीव-तच्छरीरवाद, पंचस्कन्धवाद, आत्माद्वैतवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद तथा क्षणिकवाद आदि का विस्तृत वर्णन-विश्लेषण हुआ। इन वादों से भिन्न एवं विपरीत तथा युक्तिसंगत, यथार्थ वस्तुस्वरूप नियतिवाद में बताया गया है।

सूत्रकृतांग के मूलपाठ में इस मत के पुरस्कर्ता गोशालक का कहीं भी नाम नहीं है। वृत्तिकार ने इस मत को नियतिवादी कहा है।[1]

उपासकदशा नामक सप्तम अंग आगम में गोशालक तथा उसके मत नियतिवाद का स्पष्ट उल्लेख है।[2] उसमें बताया गया है कि गोशालक के मतानुसार बल, वीर्य, उत्थान, कर्म आदि कुछ भी नहीं है। सब भाव सर्वदा के लिये नियत है। अन्य आगम ग्रन्थ व्याख्याप्रज्ञप्ति, स्थानांग, समवायांग व औपपातिक में भी आजीवकमत प्रवर्तक नियतिवादी गोशालक का (नामपूर्वक अथवा नामरहित) वर्णन उपलब्ध है।

बौद्धग्रन्थ दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय आदि में भी गोशालक के नियतिवाद का उल्लेख है। गोशालक का आजीवक सम्प्रदाय राजमान्य भी हुआ। बौद्ध ग्रन्थ महावंश की टीका में यह बताया गया है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशोक का पिता बिन्दुसार भी आजीवक सम्प्रदाय का आदर करता था। छठी शताब्दी में हुए वराहमिहिर के ग्रन्थ में भी आजीवक भिक्षुओं का उल्लेख मिलता है। बाद में धीरे-धीरे इस सम्प्रदाय का ह्रास होते-होते अन्त में किसी भारतीय सम्प्रदाय में विलयन हो गया। फिर तो यहाँ तक हुआ कि आजीवक सम्प्रदाय, त्रैराशिकमत और दिगम्बर परम्परा इन तीनों के बीच कोई भेद ही नहीं रहा। शीलांकदेव[3] व अभयदेव[4] जैसे विद्वान वृत्तिकार तक इनकी भिन्नता न बता सके। कोशकार हलायुध (10वीं शताब्दी) ने इन तीनों को पर्यायवाची माना है[5]। 13वीं शताब्दी के कुछ शिलालेखों में ये तीनों अभिन्न रूप से उल्लेखित है।[6]

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में नियतिवाद इस प्रकार वर्णित हुआ है-

'कुछ (नियतिवादी) दार्शनिक यह प्रतिपादित करते है कि संसार में सभी जीव पृथक्-पृथक् है, यह युक्ति से सिद्ध होता है तथा वे जीव पृथक्-पृथक् दुःख भोगते है और पृथक्-पृथक् ही अपने स्थान से दूसरे स्थान पर च्युत होते है, मरते है।

यह दुःख स्वयंकृत नहीं होता, अन्यकृत भी नहीं होता। सैद्धिक (निर्वाण) सुख हो अथवा असैद्धिक (सांसारिक) सुख, वह सब नियतिकृत होता है।

सभी जीव न स्वकृत सुख-दुःख का वेदन करते है, न अन्यकृत सुख-दुःख का वेदन करते है। वह सुख-दुःख सांगतिक-नियतिजनित है, ऐसा किन्हीं (नियतिवादियों) का मत है।

इस प्रकार नियतिवाद का प्रतिपादन करने वाले स्वयं अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको पण्डित मानते है। कुछ सुख-दुःख नियत होता है और कुछ अनियत, परन्तु इस सत्य को वे बुद्धिहीन नहीं जानते।

इस प्रकार नियतिवादरूप पाश से जकड़े हुए बार-बार नियति को ही (सुख-दुःखादि का) कर्ता कहने की धृष्टता करते है। वे साधना मार्ग में प्रवृत्त होने पर भी अपने दुःखों का विमोचन नहीं कर सकते।'[7]

शास्त्रकार ने प्रथम गाथा में 'उववण्णा पुढो जिया' पद के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में नियतिवाद का जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, वह जैन दर्शन सम्मत तथा यथार्थ है। नियतिवादियों के अनुसार संसार में सभी जीव अपना भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते है। यह बात प्रत्यक्ष, अनुमान तथा युक्ति से भी सिद्ध है क्योंकि जब तक आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं मानी जायेगी, तब तक जीव स्वयंकृत कर्म फलों का सुख-दुःख नहीं भोग सकेगा और न ही सुख-दुःख का वेदन करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान अर्थात् उस शरीर, गति, पर्याय या योनि को छोड़कर दूसरे शरीर, दूसरी योनि या गति को प्राप्त कर सकेगा। आत्मा का अस्तित्व पृथक्-पृथक् स्वीकारने पर ही ये सब बातें घटित होती है, क्योंकि कोई सुखी, कोई दु:खी, कोई धनी तो कोई निर्धन, ये विभिन्नताएँ प्रत्यक्ष दृष्टिगत होती है। प्रत्येक प्राणी के अनुभव से सिद्ध सुख-दु:ख रूप फलभोग को हम झुठला नहीं सकते। आयु का क्षय होने पर प्राणी इस शरीर और भव को छोड़कर अन्य शरीर और भव में चले जाते है तथा कई व्यक्तियों को अपने पूर्व जन्म का स्मरण भी हो जाता है। इस अनुभव को भी हम मिथ्या नहीं कह सकते। इस प्रकार आत्मा का पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर पंचभूतात्मवाद, एकात्मवाद, तज्जीव-तच्छरीरवाद, पञ्चस्कन्धवाद या चातुर्धातुकवाद आदि वादों का खण्डन हो जाता है।[1]

जैन दर्शन के अनुसार भी आत्मा अनेक, पृथक्-पृथक्, स्वकृत सुख-दु:ख का भोक्ता तथा नाना गतियों में गमानगमन करने वाला है। फिर शास्त्रकार ने नियतिवाद के खण्डन का उपक्रम क्यों किया ? इसका समाधान सूत्रकृतांग में इस प्रकार किया गया है कि उपरोक्त कथन में नियतिवादी मान्यता अंशत: सत्यस्पर्शी है। परन्तु जब वे आगे यह कहते है कि प्राणियों द्वारा भोगा जाने वाला सुख-दु:ख न स्वकृत है, न परकृत अपितु वह एकान्त नियतिकृत है, यह कथन उनके एकान्त मिथ्याग्रह को सूचित करता है।

यहाँ गाथा में कारण में कार्य का उपचार करके दु:ख शब्द से दु:ख का कारण ही कहा गया है। दु:ख शब्द उपलक्षण है, इसलिये इससे सुख आदि अन्य बातों को भी ग्रहण कर लेना चाहिये। तात्पर्यार्थ यह है कि जीवों को जो सुख-दु:ख का अनुभव होता है, वह उनके उद्योग रूप कारण से उत्पन्न किया हुआ नहीं है। यदि अपने-अपने उद्योग के प्रभाव से सुख-दु:खादि की प्राप्ति होती है, तब तो सेवक, किसान और वणिक् आदि का उद्योग एक सरीखा होने पर भी उनके फल में विसदृशता क्यों देखी जाती है ? जबकि जगत में ऐसा विरोध देखा जाता है कि किसी सेवक को विशिष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती, तो किसी वणिक् को उत्तम फल की प्राप्ति होती भी है, तो किसी किसान को पुरुषार्थ के अनुरूप फल नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि व्यक्ति को सुख-दु:ख का फल पुरुषार्थ से नहीं मिलता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल

कालवादी सुख-दु:खादि का कारण काल को मानते हुये कहते है- काल ही सबका कर्त्ता है। उसी के कारण सारे विश्व की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय होता है। काल ही समस्त भूतों को परिपक्व बनाता है, प्रजा का संहार करता है, सोते हुये जगत् के जीवों में स्वयं जागता रहता है। काल का सामर्थ्य अनुल्लंघनीय है।[9] काल ही समस्त कार्यों का जनक और जगत का आधार है।[10] काल के बिना चम्पा, अशोक, आम आदि वनस्पतियों में फल-फूल लगना, कोहरे से जगत् को धूमिल करनेवाला हिमपात, नक्षत्रों का संचार, गर्भाधान, वर्षादि ऋतुओं का समय पर आगमन, बाल-यौवन-वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ, ये सब काल के प्रति नियत है। काल आने पर ही देवताओं का च्यवन होता है, काल आने पर ही सुर-असुर आदि तथा राजा आदि जीव नष्ट होते हैं। जो कुछ भी कर्म वर्त्तमान में हम देख रहे है, उन सबका प्रवर्त्तक काल ही है।

काल को त्रिकाल-त्रिलोकव्यापी तथा प्रत्येक कार्य का कर्ता, सुख-दु:खादि का कारण मानने वाले कालवादियों का खण्डन करते हुये नियतिवादी कहते है कि यदि काल ही सर्वव्यापक तथा समस्त कार्यों का कारण है तो एक ही काल में दो पुरुषों द्वारा किये जाने वाले एक समान कार्य में सफलता-असफलता रूप विभिन्नता क्यों दिखायी देती है ? जहाँ एक ही कारण हो वहाँ कार्यों में भेद असम्भव है। चूँकि यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण है, अत: काल को समस्त कार्यों का कारण नहीं माना जा सकता।[11]

स्वभाव

स्वभाववादियों के अनुसार सारा जगत स्वभाव से ही निष्पन्न है। सभी पदार्थ स्वत: परिणमनशील स्वभाव के कारण ही उत्पन्न होते है। अर्थात् वस्तुओं का स्वभाव स्वत: परिणाति करने का है। मिट्टी से घड़ा ही उत्पन्न होता है, कपड़ा नहीं। सूत से कपड़ा ही बनता है, घड़ा नहीं। यह प्रतिनियत कार्य-कारण भाव स्वभाव के बिना असम्भव है। संसार में सारी प्रवृत्तियों का कारण स्वभाव है- काँटों में नुकीलापन, हरिण और पक्षियों के विचित्र स्वभाव, उनके विविधरंगी पंख, उनकी मधुर कूजन, मृगों की सुन्दर आँखें, उनकी कुलांचे भरकर कूदने की प्रवृत्ति, यह सब स्वभाव के कारण ही है।[12]

स्वभाववादियों की इन युक्तियों का खण्डन करते हुये नियतिवादी कहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि स्वभाव सुख-दुःख का कर्त्ता नहीं हो सकता। वे प्रति-प्रश्न करते है कि स्वभाव पुरुष से भिन्न है या अभिन्न ? यदि पुरुष से भिन्न है तो वह स्वभाव पुरुष के सुख-दुःखों को उत्पन्न नहीं कर सकता, पुरुष से भिन्न होने से। यदि अभिन्न है, तो वह पुरुष ही है और पुरुष सुख-दुःख का कर्त्ता नहीं है, यह नियतिवादियों ने पहले ही स्पष्ट कर किया है। नियतिवादी युक्तिपूर्वक नियतिवाद के पक्ष में तर्क देते हुए कहते है कि एक ही माता के उदर से जन्में दो प्राणियों का पृथक्-पृथक् स्वभाव नियत करने का काम नियति के बिना नहीं हो सकता।[13]

ईश्वर

ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर ही जगत् तथा सुख-दुःख का कर्त्ता है। इसका खंडन करते हुए नियतिवादी कहते है कि ईश्वर को भी सुख-दुःखादि का कर्त्ता नहीं माना जा सकता। यदि उसे कर्त्ता माना जाये तो यह प्रश्न उठेगा कि वह मूर्त्त है या अमूर्त्त ? ईश्वर को मूर्त्त मानना असंगत है क्योंकि मूर्त्त मानने पर वह हम लोगों के समान ही देहादिमान् होने से सबका कर्त्ता नहीं हो सकेगा। अमूर्त्त मानने पर आकाश की तरह सदा-सर्वदा निष्क्रिय हो जायेगा। जो निष्क्रिय होता है, वह किसी कार्य का कर्त्ता नहीं होता। फिर यह शंका भी होगी कि पुरुष रागादिमान् है या वीतराग? यदि रागयुक्त ईश्वर की कल्पना की जाती है, तो वह हम लोगों के समान होने से जगतकर्त्ता नहीं हो सकता। यदि वह वीतराग है, तो उसके द्वारा कोई स्वरूपवान्, कोई कुरुपवान्, निर्धन, धनवान् आदि विचित्र जगत् की रचना न होती। इस प्रकार ईश्वर को कर्ता मानने पर उसमें निर्दयता, पक्षपात, अन्याय आदि अनेक दोषापत्तियाँ आ जायेगी। अतः समस्त जीवात्मा नियति के ही अधीन है।

कर्म

कर्मवादियों के अनुसार कर्म ही सुख-दुःख का कर्त्ता है। किसान, वणिक् व्यक्ति के उद्यम में सदृशता होने पर भी उनके फल में जो विसदृशता दिखायी देती है, वह पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म का ही प्रभाव सूचित करती है। इसका प्रतिवाद करते हुए नियतिवादी कहते है कि कर्म भी सुख-दुःख का कर्त्ता नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ भी प्रश्न होगा कि वह कर्म पुरुष से भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो वह पुरुष मात्र ही है। तब वह सुख, दुःख का कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि भिन्न है, तो वह सचेतन है या अचेतन ? यदि सचेतन है, तो एक शरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में दो चेतन मानने का दोष आयेगा। यदि कर्म अचेतन है, तो पाषाण खण्ड के समान परतंत्र होने से सुख-दुःख कर्त्ता कैसे हो सकेगा ?

इस व्याख्या से यह सिद्ध होता है कि काल, स्वभाव, ईश्वर और कर्म - ये सब सुख-दुःख के कर्त्ता नहीं हो सकते। एकमात्र नियति ही जगत के समस्त पदार्थों का कारण हो सकती है।[14]

नियतिवाद का स्वरूप

शास्त्रकार ने गाथात्रयी में नियतिवाद के स्वरूप को स्पष्ट किया है, विस्तृत विश्लेषण वृत्तिकार ने प्रस्तुत किया है।

सूत्रकार नियतिवाद या नियति शब्द का उल्लेख न कर 'संगइअं तं' इसे सांगतिक कहते है। वृत्तिकार[15] ने इसकी व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है - सम्यक् अर्थात् अपने परिणाम से जो गति है, उसे संगति कहते है। जिस जीव को, जिस समय, जहाँ जिस सुख-दुःख को अनुभव करना होता है, वह संगति कहलाती है। वही नियति है। इस नियति से सुख-दुःख उत्पन्न होता है, उसे सांगतिक कहते है। जैसे कि शास्त्रवार्ता समुच्चय में कहा गया है- चूँकि संसार के सभी पदार्थ अपने-अपने नियत स्वरूप से उत्पन्न होते है। अतः यह ज्ञात होता है कि ये सब नियति से उत्पन्न हुए है। यह समस्त चराचर जगत् नियति तत्व से गुंथा हुआ है। उससे तादात्म्य होकर वे नियतिमय हो रहे है। जिसे, जिससे, जिस समय, जिस रूप में होना है, वह उससे, उसी समय, उसी रूप में उत्पन्न होता है। इस तरह अबाधित प्रमाण से सिद्ध इस नियति के स्वरूप को कौन रोक सकता है ? यह सर्वत्र निर्बाध है।[16]

नियतिवादी कहते है कि नियति एक स्वतन्त्र तत्त्व है, जिससे सभी पदार्थ नियत रूप से उत्पन्न होते है, अनियत रूप से नहीं। यदि नियति तत्त्व न हो तो संसार से कार्य-कारण भाव की तथा पदार्थों के अपने निश्चित स्वरूप की व्यवस्था ही उठ जायेगी। यदि इस प्रतीति सिद्ध वस्तु का लोप होता है, तो संसार से प्रमाण मार्ग ही उठ जायेगा जैसा कि वे कहते है -

नियति के बल से शुभाशुभ जो कुछ भी मिलने वाला होता है, वह मनुष्य को अवश्य प्राप्त होता है। किन्तु जो होनहार नहीं है, वह महान् प्रयत्न करने पर भी नहीं होता और जो होनहार है, वह टल भी नहीं सकता।[17]

सूत्रकृतांग चूर्णिकार ने नियतिवादियों के एक तर्क का उल्लेख किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियतिवादी मानते है कि अकृत का फल नहीं होता। मनुष्य जो फलभोग करता है, उसके पीछे कर्तृत्व अवश्य है, किन्तु वह कर्तृत्व मनुष्य का नहीं है। यदि मनुष्य का कर्तृत्व हो, वह क्रिया करने में स्वतन्त्र हो तो वह सब कुछ मनचाहा करेगा। उसे जो इष्ट नहीं है, वह फिर क्यों करेगा? किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। मनुष्य बहुत सारे अनिप्सित कार्य भी करता है। इससे सिद्ध होता है कि सब कुछ नियति करती है।[18]

बौद्ध ग्रन्थ मज्झिमनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में आजीवकमत-प्रवर्तक मंखली गोशालक के नियतिवाद का उल्लेख इस प्रकार हुआ है- सत्वों के क्लेश (दु:ख) का हेतु नहीं है, कोई प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के ही सत्व (प्राणी) क्लेश पाते है। बिना हेतु और प्रत्यय के ही सत्व शुद्ध होते है। न वे स्वयं कुछ कर सकते है, न पराये कुछ कर सकते है। पुरुषार्थ (पुरुषकार) नहीं है, बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष का साहस नहीं है और न पुरुष का कोई पराक्रम है। समस्त सत्व, समस्त प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अवश (लाचार) है, निर्बल है, निर्वीर्य है, नियति के संयोग से छह जातियों में (उत्पन्न होकर) सुख-दु:ख भोगते है। जिन्हें मूर्ख और पण्डित जानकर और अनुगमन कर दु:खों का अन्त कर सकते है। वहाँ यह नहीं है कि इस शील, व्रत, तप या ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को परिपक्व कर लूँगा। परिपक्व कर्म को भोगकर अन्त करूँगा। सुख और दु:ख तो द्रोण (माप) से (नपेतुले) नियत है। संसार में न्यूनाधिक उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं है। जैसे सूत की गोली फेंकने पर खुलती हुई गिर पड़ती है, वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर, आवागमन में पड़कर दु:ख का अन्त करेंगे।[19]

नियतिवाद का खण्डन

नियतिवाद के एकान्त तथा युक्तिहीन सिद्धान्त का खण्डन करते हुये शास्त्रकार कहते है कि नियतिवादी हठाग्रही और पण्डितमानी है। 'बाला' शब्द इसलिये प्रयुक्त किया गया है कि वे अज्ञ एवं नासमझ बालकों जैसी बचकानी बातें करते है। नियति की निश्चितता न केवल कर्त्तव्यभ्रष्ट करती है अपितु पुरुष के अनन्त बल, वीर्य, पराक्रम, उत्थान और पौरुष को भी समाप्त कर देती है। जब जगत् के प्रत्येक पदार्थ की व्यवस्थाएँ निश्चित है और सब अपनी नियति की पट्टी पर दौड़ते जा रहे है, तब शास्त्रोपदेश, शिक्षा, दिक्षा और उन्नति, उपदेश तथा प्रेरणाएँ, सब कुछ व्यर्थ है। इस नियतिवाद में क्या सदाचार और क्या दुराचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

? जिसने जिसकी हत्या की, उसका उसके हाथ से वैसा होना ही था। जिसे हत्या के अपराध में पकड़ा जाता है, वह भी जब नियति के परवश था, तब उसका स्वातंत्र्य कहाँ है, जिससे उसे हत्या का कर्त्ता कहा जाए। इस प्रकार के नियतिवाद से तो जगत् में सारी व्यवस्थाएँ ही चौपट हो जायेगी और चोरी, हत्या आदि अपराध की वृत्तियों के लिए व्यक्ति जिम्मेदार न होकर नियति ही जिम्मेदार होगी।[20]

अत: स्पष्ट है कि जगत् में सारे सुख-दु:ख नियतकृत नहीं होते। कुछ सुख-दु:ख अवश्य नियतिकृत होते है व उन-उन सुख दु:खादि कर्मों का अबाधाकाल समाप्त होने पर अवश्य उदय होता है, जैसे निकाचित कर्म का।[21] परन्तु कई सुख-दु:ख अनियत (नियतिकृत नहीं) भी होते है। वे पुरुष के पुरुषार्थ, काल, स्वभाव, ईश्वर और कर्म आदि के द्वारा किये हुए होते है। अत: सुख-दु:ख का कारण मात्र नियति नहीं अपितु काल, स्वभावादि सभी मिलकर ही कारण होते है।

जैन दर्शन केअनुसार पंचसमवाय से कार्य की निष्पत्ति

आचार्य सिद्धसेन ने सन्मति तर्क में कहा है- 'कालो सहाव नियइ'- काल, स्वभाव, नियति, अदृष्ट (कर्म) और पुरुषार्थ ये पंचसमवाय है। इनके सम्बन्ध में एकान्त कथन मिथ्यात्व है और परस्पर सापेक्ष कथन ही सम्यकत्व है।[22]

जैन दर्शन में सुख-दु:ख आदि को कथंचित् उद्योग साध्य भी माना गया है। क्योंकि जिस क्रिया से फल की निष्पत्ति होती है, वह क्रिया उद्योगाधीन है। जैसा कि कहा है - जो भाग्य में लिखा है, वही होगा। ऐसा सोचकर व्यक्ति को अपना पुरुषार्थ नहीं त्यागना चाहिए। बिना पुरुषार्थ के तिलों से तेल कौन प्राप्त कर सकता है?[23]

नियतिवादियों ने काल, स्वभाव, पुरुषार्थ, ईश्वर और कर्म को युक्तिरहित सिद्ध करने के लिए जिन प्रश्नों को उपस्थित किया है, उन समस्त प्रश्नों का जैन दर्शन तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत करता है। पुरुषार्थ की समानता होने पर भी फल की विचित्रता को नियतिवादी दोषपूर्ण मानते है, परन्तु वास्तव में यह दोषपूर्ण नहीं है। क्योंकि पुरुषार्थ का वैचित्र्य भी फल की विचित्रता का कारण होता है। एक समान उद्यम होने पर भी किसी को फल नहीं मिलता, वह उसके अदृष्ट (कर्म) का फल है। जैन दर्शन में अदृष्ट (कर्म) को भी सुख-दु:ख का कारण माना जाता है। इसी प्रकार काल भी सुख-दु:ख का कर्त्ता है, क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चम्पक, अशोक, नाग और आम आदि वृक्षों में फल-फूल की उत्पत्ति विशिष्ट काल आने पर ही होती है, सर्वदा नहीं। यहाँ नियतिवादियों ने आपत्ति उठाई है कि काल एक रूप होने से उससे विचित्र जगत की या सुख-दुःखादि फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। परन्तु यह आपत्ति उचित नहीं है क्योंकि आर्हत दर्शन में फल की उत्पत्ति में अकेले काल को ही कारण नहीं माना गया है। स्वभाव भी कथंचित् कर्त्ता है क्योंकि आत्मा का उपयोग रूप तथा असंख्य प्रदेशी होना तथा पुद्गलों का मूर्त होना, धर्म तथा अधर्म का क्रमशः गति-स्थिति में सहयोगी व अमूर्त होना, यह सब स्वभावकृत ही है।

वह स्वभाव आत्मा से भिन्न है या अभिन्न ? नियतिवादियों के इस प्रश्न का समाधान वृत्तिकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है - स्वभाव आत्मा से भिन्न नहीं है तथा आत्मा कर्त्ता भी है। आत्मा का यह कर्तृत्व स्वभावकृत है। इसी प्रकार ईश्वर (कर्मबद्ध ईश्वर-संसारी आत्मा) भी जगत् एवं सुख-दुःख का कर्त्ता है क्योंकि आत्मा ही विभिन्न योनियों में उत्पन्न होता हुआ, सर्वव्यापक होने के कारण ईश्वर है। 'वही ईश्वर सुख-दुःखादि का कर्त्ता है' यह सर्वमतवादियों को अभीष्ट है। फिर सुख-दुःख का कर्त्ता ईश्वर है, इस मान्यता को दूषित करने के लिये नियतिवादी, आत्मा मूर्त्त है या अमूर्त्त ? ऐसा प्रश्न करते है। यह दूषण भी आत्मा (कर्मबद्ध आत्मा) को ईश्वर मानने पर समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार कर्म भी कर्त्ता है क्योंकि वह जीव प्रदेश के साथ परस्पर मिल कर रहता हुआ कथंचित् जीव से अभिन्न है और उसी कर्म के वश जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में भ्रमण करता हुआ सुख-दुःख भोगता है। कर्म की विचित्रता ही फल की विचित्रता का कारण है।[24]

विमर्शणीय है कि आर्हत दर्शन में ये पाँचों समवाय जब एक साथ मिलते है, तब कहीं जाकर किसी कार्य की निष्पत्ति होती है। मात्र नियतिवाद का कथन एकान्त मिथ्याआग्रह है। नियतिवादी एक तरफ नियति को ही सर्वस्व मानते है, परन्तु दूसरी तरफ परलोक सुधारने के लिये अपने मत द्वारा मान्य विविध क्रियाएँ करते हुए अपने ही मत का खण्डन करते है।

सूत्रकार ने इन्हें पार्श्वस्थ कहते हुए इसका कारण बताया है कि ये कारण चतुष्टय को छोड़कर मात्र नियति को ही मानने के कारण एक पार्श्व में- एक किनारे पर स्थित हो गये है। इस एकान्तवादी मान्यता के मिथ्या जाल में फँसकर ये आत्मावंचना करते हुए असत् प्ररूपणा के कारण अशुभ कर्मबंधनों से जकड़

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाते है और अपने आप को दु:खों से मुक्त नहीं कर पाते।

सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम पौण्डरीक अध्ययन में भी नियतिवाद का वर्णन हुआ है। पुण्डरीक कमल प्राप्त करने के अभिलाषी चार पुरुषों में चौथा पुरुष नियतिवादी है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में नियतिवाद का वर्णन नामोल्लेखपूर्वक नही है, जबकि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 'णियइवाइए' नियतिवाद का नामोल्लेखपूर्वक विश्लेषण है।

यहाँ नियतिवादी इस प्रकार कथन कहते है कि इस लोक में दो प्रकार के पुरुष होते है- क्रियावादी तथा अक्रियावादी। ये दोनों ही नियति के अधीन है। नियति की प्रेरणा से ही क्रियावादी क्रिया का समर्थन करता है तो अक्रियावादी अक्रिया का। इसलिये इन दोनों में कोई भेद नहीं किया जा सकता। क्योंकि इन दोनों का कारण एक है और वह है नियति।

नियतिवादी ऐसा मानते है कि मुझे जो सुख-दु:ख, संताप आदि मिल रहा है वह सब नियति का ही प्रभाव है। चूँकि मेरा सुख-दु:ख मेरे द्वारा कृत नहीं है एवं दूसरे का सुख-दु:ख भी उसके द्वारा कृत नहीं है अत: सब कुछ नियतिकृत है। परन्तु अज्ञ जीव (पुरुषार्थवादी आदि) उसे स्वकृत मानकर दु:खी होता है।

नियतिवादियों की दृष्टि में नियतिवाद का स्वीकार करने वाला 'मेहावी' तथा अस्वीकार करने वाला बाल होता है।

वास्तव में एकान्त नियतिवाद युक्तिसंगत नहीं है। वृत्तिकार ने नियतिवाद की विप्रतिपत्ति बतलाते हुए लिखा है - क्या नियति अपने आप ही नियति स्वभाव वाली है या यह दूसरी नियति से नियंत्रित-संचालित होती है। यदि यह तथा-स्वभाव वाली है, तो सभी पदार्थों को तथा-स्वभाव वाला मानने में क्या आपत्ति है ? अर्थात् पदार्थों को अपने-अपने स्वभाव में नियत करने के लिये नियति नामक किसी दूसरे पदार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि यह माना जाय कि नियति दूसरी नियति से नियन्त्रित है तो फिर दूसरी नियति तीसरी नियति से और तीसरी चौथी से नियंत्रित होगी। यह क्रम अनवरत चलता रहेगा, जिसका कहीं अन्त नहीं होगा। इस स्थिति में यहाँ अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित होगा।[25]

यदि यह कहा जाय कि नियति का एक ही स्वभाव है, भिन्न-भिन्न स्वभाव नहीं है, तो फिर उसका कार्य भी एक रूप ही होना चाहिये, भिन्न-भिन्न नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु ऐसा नहीं है। संसार में हम विविध विचित्रताओं का अनुभव करते है, जो प्रत्यक्षदृष्ट है। इसलिये नियतिनामक पदार्थ का एकतन्त्रीय शासन नहीं माना जा सकता।

नियतिवादियों का यह कथन कि क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों ही नियति के अधीन है, अत: उनमें कोई भेद नहीं है, यह कथन भी प्रतीतिबाधित है। क्योंकि क्रियावादी क्रियावाद का समर्थन करता है, जबकि अक्रियावादी अक्रियावाद का। इसलिये इनकी भिन्नता स्पष्ट होने से किसी भी प्रकार की तुल्यता नहीं हो सकती। यदि ऐसा कहे कि ये दोनों नियति के अधीन होने के कारण तुल्य है, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि नियति की सिद्धि किये बिना इन दोनों का नियति के वश होना सिद्ध नहीं होता। अत: क्रियावादी तथा अक्रियावादी को नियति के द्वारा संचालित कहना असमीचीन है।

शास्त्रकार कहते है कि ये नियतिवादी मिथ्याभिनिवेशी है, जो नियति को ही सब कुछ मानकर चारों प्राणातिपात आदि का आरम्भ करते है। तथा क्रिया-अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, साधु-असाधु आदि का कोई विचार नहीं करते। इस प्रकार वे नाना प्रकार के कामभोगों में गृद्ध व आसक्त होकर संसार-चक्र के परिभ्रमण रूप दु:ख को भोगते रहते है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 26*
2. *उपासकदशांग, अध्ययन - 7*
3. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 393 :*
   'स एवं गोशालकमतानुसारी त्रैराशिक निराकृत:। पुन: अन्येन प्रकरणेन आह।'
4. *समवायवृत्ति (अभयदेव) पृ. - 130 - : तं एव च आजीविका त्रैराशिका भणिता:।*
5. *हलायुधकोश, द्वितीय काण्ड -*
   रजोहरणधारी च श्वेतवासा: सिताम्बर: ॥344॥
   नग्नाटो दिग्वासा क्षपण: श्रमणश्च जीवको जैन:।
   आजीवो मलधारी निर्ग्रन्थ: कथ्यते सद्भि: ॥345॥
6. *जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग - 1, पृ. - 175-176*
7. *सूयगडो, 1/1/2/1-5*
8. *सू. शी. वृ. प. - 30*
9. *महाभारत, आदिपर्व - अ.1, 273-275*
   काल: पचति भूतानि, काल: संहरते प्रजा:।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल सुमेषु जागर्ति, कालोहि दुरतिक्रमः ॥

10. जन्मानां जनक कालो, जगतामाश्रयो मतः।

11. (अ) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. - 143-144

(ब) हारितसंहिता - 'काले देवा विनश्यन्ति, काले चासुर पन्नगाः।
नरेन्द्रा सर्व जीवाश्च, काले सर्वे विनश्यति ॥'

12. (अ) बुद्धचर्या 9/62-कः
कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ?

(ब) बुद्धचरित -
यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः, प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव।
सुयुज्यते यज्जरयाऽऽर्तिभिश्च, करस्तत्र यत्नो ? ननु स स्वभावः ॥

13. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 30-31

14. वही - पृ. 31

15. वही - पृ. 31

16. शास्त्रवार्ता समुच्चय समु. - 2/61
नियतेनैव रूपेण सर्वेभावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुबंधतः ॥
यद्यदेव यतो यावत्त तदैव ततस्तथा।
नियतं जायते न्यायात् कः एनं बाधायितुं क्षमः ?.

17. लोकतत्व - अ. 29 :
प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभोवा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति, न भाविनोऽस्ति नाशः ॥

18. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 323

19. (अ) मज्झिमनिकाय 2/ 3/61
(ब) दीघनिकाय 1/2/4/19

20. जैनदर्शन - महेन्द्र कुमारजी पृ. - 67

21. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड गा. 440

22. सम्मतितर्क प्रकरण खण्ड-5, गा. 53
कालो सहाव णियइ, पुव्वकयं पुरिसकार णेगंता।
निच्छत्तं ते चेव समासओ होति सम्मतं ॥

23. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 31 उक्तं च -
न दैवमिति संचिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्यमेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्रामुमर्हति ? ॥

24. वही - 31-32

25. वही- पृ. - 289-290

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8. कर्मोपचय निषेधवाद

सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के द्वितीय उद्देशक की अंतिम नौ गाथाओं में कर्मोपचय निषेधवाद की चर्चा की गयी है।[1]

कर्म के उपचय (बंध) का जहाँ निषेध किया जाता है, वह कर्मोपचय निषेधवाद है। सूत्रकार ने इसे क्रियावादी दर्शन कहा है। परंतु चूर्णिकार ने 'कर्म' को क्रिया का पर्यायवाची मानकर इसका अर्थ कर्मवादी दर्शन किया है।[2]

वृत्तिकार ने क्रियावादी दर्शन का रहस्य स्पष्ट करते हुए कहा है - जो केवल चैत्यकर्म (चित्त विशुद्धिपूर्वक किया जाने वाला कोई भी कर्म) को प्रधान रूप से मोक्ष का अंग मानते है, उनका दर्शन क्रियावादी दर्शन है।[3]

यद्यपि सूत्रकृतांग सूत्र के बारहवें समवसरण अध्ययन के प्रथम श्लोक की चूर्णि एवं वृत्ति में बौद्धों को अक्रियावादी के रूप में उल्लिखित किया है तथा बौद्धग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय के तृतीय भाग अट्ठकनिपात के सिंहसुत में तथा विनयपिटक के महावग्ग (पाली) के सीहसेनापति में भी बुद्ध को अक्रियावादी कहा है, तथापि यहाँ सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से बौद्ध दर्शन को 'किरियावाइदरिसणं' क्रियावादी दर्शन बताया है। यह अपेक्षाकृत जानना चाहिये।[4]

बौद्धों को यहाँ एकान्त क्रियावादी क्यों कहा गया है, इसका कारण स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते है कि वे 'कम्म चिन्ता पणट्ठाणं' कर्मों की चिन्ता से प्रनष्ट अर्थात् दूर है। ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म कैसे, किन कारणों से, मन्द-तीव्रादि रूप से आत्मा से बंध जाते है, उनसे मुक्त होने का उपाय क्या है, सुख-दु:ख के जनक है या नहीं, आदि कर्म सम्बन्धी चिन्तन चिन्ता है। बौद्ध इस प्रकार की कर्म चिन्ता से नितान्त अस्पृष्ट है। अत: उन्हें यहाँ कर्म चिन्ता प्रनष्ट एकान्त क्रियावादी के रूप में निर्दिष्ट किया है।

बौद्ध-आगम के अनुसार चार प्रकार का कर्म उपचय (बंध) को प्राप्त नहीं होता है। निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति में तथा टीकाकार ने टीका में भी स्पष्ट किया है कि भिक्षु समय (शाक्य आगम) में चार प्रकार के कर्मों का उपचय नहीं होता।[5]

ये चार कर्म इस प्रकार है -

1. **अविज्ञोपचित कर्म** - अविज्ञा अर्थात् अविद्या। अज्ञान के वश भूल से हुआ कर्म अविज्ञोपचित कर्म कहलाता है। भूल से जीव की हिंसा आदि होने पर कर्म का उपचय नहीं होता।

2. **परिज्ञोपचित कर्म** - जो कोपादि कारणवश केवल मनोव्यापार से प्राणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की हिंसा करता है परन्तु शरीर से छेदन-भेदन रूप व्यापार नहीं करता, अत: केवल मन के द्वारा परिज्ञा (घात का चिन्तन) होने से कर्म का उपचय नहीं होता।

3. ईर्यापथ कर्म - मार्ग में आते-जाते जो हिंसा होती है, उससे भी कर्मोपचय नहीं होता।

4. स्वप्नान्तिक कर्म - स्वप्न में कृत हिंसा से भी कर्म का उपचय नहीं होता।

इन चारों में से शास्त्रकार ने परिज्ञोपचित तथा अविज्ञोपचित, इन दोनों का तो मूल पाठ में उल्लेख किया है। शेष दोनों का उल्लेख न करके 'च' शब्द ही प्रयुक्त किया है। उससे इन दोनों का अध्याहार (ग्रहण) हो जाता है।[6] ये चतुर्विध कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते है, ऐसा क्रियावादियों का मत है।

सूत्रकृतांग में क्रियावाद का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है - जो जीव को जानता हुआ (संकल्प पूर्वक) काया से उसे नहीं मारता अथवा अबुध हिंसा करता है - अनजान में शरीर से हिंसा करता है, वह उस कर्म के फल को स्पर्शमात्र से भोगता है। वस्तुत: वह सावद्य (पाप) कर्म अव्यक्त -अप्रकट होता है अर्थात् उपरोक्त कर्म उपचय से पुरुष बद्ध नहीं होता।

प्रश्न होता है कि यदि उक्त प्रकार से कर्मों का उपचय नहीं होता तो बौद्धों के अनुसार किस प्रक्रिया से कर्मबंध होता है ? इसका उत्तर देते हुए वे कहते है कि तीन आदान मार्ग द्वारा कर्मोपचय होता है। शास्त्रकार ने आदान मार्ग को सूत्र के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट किया है - (1) अभिक्रम्य- किसी प्राणी को मारने के लिये स्वयं उस पर आक्रमण करना। (2) प्रेष्य - अन्य के द्वारा प्राणी का घात करवाना। (3) अनुमोदन - घात करने के लिये मन से अनुमोदना करना।

ये तीन आदान ही कर्मबंध के कारण है, जिनसे पापकर्म किया जाता है। जहाँ ये तीन नहीं है तथा जहाँ इस प्रकार भावों की विशुद्धि है, वहाँ कर्मबंध नहीं होता प्रत्युत जीव निर्वाण को प्राप्त करता है।[7]

जिस प्रकार दुष्काल आदि विपत्ति के समय कोई असंयमी पिता अपने पुत्र को मारकर भोजन करे, तब भी वह उस पापकर्म से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार राग-द्वेष रहित निस्पृह, मेधावी साधु माँस खाता हुआ भी उस पापकर्म से बद्ध-लिप्त नहीं होता।

शास्त्रकार ने उपरोक्त कथन द्वारा क्रियावादियों की कर्मचिन्ता के प्रति उपेक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा बाद में तीन प्रकार के आदान से कर्मोपचय की मान्यता को स्पष्ट किया है।

प्रस्तुत मत के सन्दर्भ में चूर्णिकार ने यह प्रश्न उठाया है कि बौद्ध दर्शन में कर्मोपचय कब होता है ? इसका समाधान बौद्ध इस प्रकार करते है- प्राणी, प्राणी का ज्ञान, घातक की चिन्ता, घातक की क्रिया और प्राण वियोग इन पाँचों बातों से हिंसा होती है तथा इन्हीं से कर्मबंध होता है। अर्थात् - (1) प्रथम तो हनन किया जाने वाला प्राणी सामने हो, (2) फिर हनन करने वाले को यह ज्ञान हो कि यह प्राणी है, (3) पश्चात् हनन करने वाले की ऐसी बुद्धि हो कि मैं इसे मारू या मारता हूँ, (4) इन सबके रहते हुए यदि वह शरीर से उस प्राणी को मारने की चेष्टा करता है, (5) उस चेष्टानुसार उस प्राणी को मार दिया जाता है, तब हिंसा होती है और तभी कर्मोपचय होता है। कर्मोपचय इन पाँचों कारणों से ही होता है। इनमें से किसी एक के भी न होने पर न हिंसा होती है, न कर्म का उपचय होता है।[8]

यहाँ जो हिंसा के निमित्त पाँच पद कहे गये है, उनके कुल मिलाकर 32 भांगे होते है। उनमें से हिंसक तो प्रथम भंग वाला पुरुष ही होता है, शेष 31 भंग हिंसक नहीं होते।

बौद्धमत में कर्मबंध के तीन आदान

शास्त्रकार ने बौद्धों के कर्मबंध के तीन आदान का कथन किया है- वध्य प्राणी को मारने की इच्छा से उस पर प्रहार करना, अन्य से करवाना, प्राणीघात करते हुए पुरुष का अनुमोदन करना।[9]

बौद्ध मत के अनुरूप ही जैन दर्शन में भी कर्मबंध के ये तीन कारण है - कृत, कारित और अनुमोदित परन्तु इनके साथ मन, वचन और कर्म इन तीन योगों का भी समावेश किया जाता है। जिससे कुल मिलाकर 49 भंग होते है। यदि इनमें से किसी एक भंग का भी सेवन किया जाता है, तो वह व्यक्ति कर्मबंधन अवश्यमेव करता है। परन्तु बौद्ध मत में ऐसा नहीं है। वे कहते है कि ये तीनों आदान मिलकर ही कर्मबंधन करते है। यदि इन तीनों में से मन से, शरीर से अथवा अनुमोदन से रहित दोनों से प्राणातिपात हो जाता है, तो वहाँ भाव-विशुद्धि होने के कारण कर्म का उपचय नहीं होता है। सूत्र में 'उ' शब्द, जोकि निश्चयार्थक है, इसके द्वारा यही भाव फलित होता है। अर्थात् इस भाव-विशुद्धि से निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। भाव-विशुद्धि को बौद्धमतवादी एक दृष्टान्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के द्वारा समझाते हुए कहते है कि जैसे राग-द्वेष रहित असंयमी पिता विपत्ति के समय अपनी उदरपूर्ति हेतु अपने पुत्र को मारकर उसके माँस का भक्षण करे तो भी वह कर्मबंध से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसे अपने पुत्र पर किसी भी प्रकार का द्वेष नहीं है। इसी प्रकार शुद्ध चित्तवृत्तिपूर्वक निस्पृह साधु यदि माँसभक्षण करे, तब भी वह कर्म से अलिप्त रहता है।

इस सम्बन्ध में बौद्धग्रन्थ में ऐसा ही बुद्धवचन मिलता है कि (दूसरे माँस की बात जाने दो) कोई अज्ञानी पुरुष अपने पुत्र तथा स्त्री को मारकर उस माँस का दान करे और प्रज्ञावान् संयमी (भिक्षु) उस माँस का भक्षण करे, तब भी उसे पाप नहीं लगता।[9]

चूर्णिकार[10] ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है- पुत्र का भी समारम्भ करके (समारम्भ अर्थात् बेचकर), मारकर, उसके माँस से या द्रव्य से और तो क्या कहे, पुत्र न हो तो सूअर या बकरे को भी मारकर भिक्षुओं के आहारार्थ भोजन बनाए। स्वयं भी खाएँ।

तथागत बुद्ध ने इस रूपक द्वारा भिक्षुओं को यह समझाया कि वे स्वाद के लालच से, बलवर्धन, शक्तिसंचय, सौन्दर्य और लावण्य की दृष्टि से आहार न लेवे।

मालूम होता है कि बीतते समय के साथ इस रूपक का आशय विस्मृत हो गया है और केवल शब्द का अर्थ ही ध्यान में रह गया है इसलिये इस अर्थ का उपयोग माँसभक्षण के समर्थन में लोग तो क्या, भिक्षुगण भी करने लग गये हो। विशुद्धिमग्ग तथा महायान के शिक्षा समुच्चय में भी इस बात की प्ररूपणा की गयी है।

ज्ञाताधर्मकथा नामक छठे अंग आगम में सुंसुमा नामक एक अध्ययन है, जिसमें पूर्वोक्त संयुत्तनिकायादि प्रतिपादित रूपक के अनुसार यह प्रतिपादित किया गया है कि आपत्तिकाल में आपवादिक रूप से मनुष्य अपनी खुद की सन्तान का भी माँसभक्षण कर सकता है। यहाँ मृत सन्तान के माँसभक्षण का उल्लेख है, न कि मार कर उसका माँस खाने का। इस चर्चा का सार केवल यही है कि अनासक्त होकर भोजन करने वाला कर्म से लिप्त नहीं होता।[11]

कर्मोपचय निषेधवाद का खण्डन

पूर्वोक्त चतुर्विध कर्मोपचय का निषेध करने वाले बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते है कि जो मन से किसी पर द्वेष करते है, उनका चित्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशुद्ध नहीं है। उस हिंसा में मनोभाव नहीं जुड़ने पर कर्मबंध का अभाव मानना युक्तिसिद्ध नहीं है। क्योंकि ऐसा कभी नहीं होता कि मन में हिंसा के भाव तो हो पर चित्त राग-द्वेष रूप संक्लिष्ट परिणामों से अलिप्त रहे। प्राय: सभी भारतीय दर्शनिक एक स्वर से यह स्वीकार करते है कि कर्म के बंध में मन ही प्रधान कारण है।[12] यही कारण बौद्धों ने स्वीकार किया है कि मनोव्यापार रहित केवल शरीर व्यापार से कर्म का उपचय नहीं होता। प्रधान कारण भी वही होता है, जो, जिसके होने पर हो, और न होने पर न हो। मन भी इसलिये कर्मोपचय का प्रधान कारण है, क्योंकि मनोव्यापार से ही कर्मोपचय होता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि बौद्धों ने तो शरीर चेष्टा से रहित मनोव्यापार को कर्मोपचय का कारण न होना भी बताया है। इसका समाधान उन्हीं के कथन में निहित है। जैसा कि उन्होंने माना है कि चित्तविशुद्धि ही मोक्ष का प्रधान कारण है। राग-द्वेष से वासित चित्त ही संसार है और वही चित्त रागादि क्लेशों से मुक्त होने पर मोक्ष कहलाता है। बौद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' में मन को ही प्रधान कारण बताया है।[13] इस प्रकार बौद्धों के मन्तव्यानुसार क्लिष्ट मनोव्यापार पापकर्मबंध का कारण सिद्ध होता है। ईर्यापथ कर्म में सावधानी तथा उपयोगपूर्वक चलना जहाँ भावविशुद्धि है, वहीं असावधानी पूर्वक गमनागमन करना चित्त की क्लिष्टता का परिणाम है और जहाँ चित्त के परिणाम संक्लिष्ट है, वहाँ कर्मोपचय अवश्य होता है।

जैन दर्शन के अनुसार जो साधक जयणा अर्थात् विवेकपूर्वक चलता है, बैठता है, सोता है, खाता है, बोलता है, वह कर्मबंध से लिप्त नहीं होता।[14] परन्तु जो पुरुष बिना उपयोग के प्रमाद पूर्वक चलता है, तो वह जीवरक्षा में सावधान न होने के कारण पापकर्म से लिप्त होता ही है। और जब सावद्य मनोव्यापार होने पर भी कर्मबंध होता है, तब 'प्राणी, प्राणी का ज्ञान आदि पाँच कारणों के सम्मिलित होने पर ही कर्म का उपचय होता है।' यह कथन स्वत: असिद्ध हो जाता है। साथ ही बौद्धों का पिता द्वारा पुत्र की हत्या कर उसका माँस भक्षण करने पर भी कर्मबंधन नहीं होता, यह कथन भी असंगत सिद्ध हो जाता है। क्योंकि जब तक चित्त में 'मैं मारता हूँ' ऐसा रौद्र परिणाम नहीं आता, तब तक कोई भी व्यक्ति किसी भी जीव की हिंसा नहीं कर सकता।

बौद्धों ने कहीं यह भी कहा है कि जैसे दूसरों के हाथ से अंगारा पकड़ने पर हाथ नहीं जलता, वैसे ही दूसरे के द्वारा मारे हुए जीव का माँसभक्षण करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर पाप नहीं होता, ऐसा कहना भी उनकी बकवास ही है। क्योंकि दूसरे के द्वारा मारे हुए प्राणी का माँस खाना भी एक प्रकार से परोक्ष अनुमोदना ही है। बौद्धों ने भी तीन आदानों में एक आदान अनुज्ञा (अनुमति) माना ही है। अन्य मतवालों ने भी कहा है -

अनुमन्ता विशसिता संहर्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपभक्ता च घातकश्चाष्टघातका: ॥[15]

माँस खाने का अनुमोदन करने वाला, पशुवध करके उसके अंगों को काटकर अलग-2 करनेवाला, पशु को मारने के लिए उसे कत्लखाने में ले जाने वाला या माँस खरीदने-बेचनेवाला, पशु को मारने के लिए खरीदने या बेचने वाला, पशु माँस पकाने वाला तथा खानेवाला, ये आठों ही घातक है तथा पशुघात के पाप के भागी है।

जीव हिंसा करने, कराने तथा अनुमोदन करने से कर्मोपचय होंना बौद्ध भी स्वीकार करते है। इस प्रकार बौद्धमतवादी उन्मत होकर प्रलाप करते हुए स्वयं की बात का खण्डन स्वयं ही करते है। इसलिये शास्त्रकार ने इन पर 'कर्मचिन्ताप्रनष्ट' का आक्षेप लगाया है। क्रियावादियों का यह मत कि 'चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होते' संसार को बढ़ाने वाला ही है।

जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति छिद्रवाली नौका पर सवार होकर नदी के उस पार जाना चाहता है परन्तु वह बीच में ही डूबकर मर जाता है, उसी प्रकार ये विभिन्न मतवादी मिथ्यात्व एवं मतमोहान्ध होकर माँसाहार, मद्यपान आदि विविध हेय कर्मों में स्वयं लिप्त होकर अपनी-अपनी दर्शन रूपी नौका के सहारे संसार को पार करना चाहते है परन्तु मिथ्यात्व की रतौंधी के कारण वे पार नहीं पाते। बल्कि बीच में ही संसार सागर में डूबकर बार-बार जन्म-मरण एवं दुर्गति के दु:खों को भोगते रहते है।

सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आर्द्रकीय नामक छट्ठे अध्ययन में भी आर्द्रकुमार नामक प्रत्येकबुद्ध के शाक्य भिक्षुओं के साथ हुए वाद-विवाद में कर्मबंधन के स्वरूप की ही चर्चा है। यहाँ शाक्यभिक्षु (बौद्ध) अपनी बात का प्रतिपादन इस प्रकार करते है कि मानसिक संकल्प ही हिंसा का कारण है। कोई व्यक्ति खली के पिण्ड को मनुष्य तथा तुम्बे को बालक समझकर पकायें तो प्राणीवध के पाप का वह भागी होता है। इससे विपरीत पुरुष को खली एवं बालक को तुम्बा समझकर पकाने वाला व्यक्ति प्राणीवध के पाप का भागी नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतना ही नही, इस प्रकार की बुद्धि अर्थात् मनुष्य को खली एवं कुमार को तुम्बा समझकर पकाया गया माँस बुद्धों के पारणे के योग्य है। इस प्रकार पकाये हुए माँस द्वारा जो व्यक्ति प्रतिदिन दो हजार शाक्य भिक्षुओं को भोजन कराता है, वह महान् पुण्यराशि का उपार्जन करता है। उसके फलस्वरूप आरोप्य नामक देवयोनि में जन्म लेता है।

आर्द्रक मुनि द्वारा बौद्धों के अपसिद्धान्त का खण्डन - बौद्धावलम्बिओं की इस मान्यता का प्रतिकार करते हुए आर्द्रकुमार कहते है कि खली को पुरुष तथा तुम्बे को कुमार समझना कैसे सम्भव है? पुरुष में खली एवं कुमार में तुम्बे की बुद्धि नही हो सकती। ऐसी प्ररूपणा में जो विश्वास करते है, वे घोर अज्ञानी है।

उनका यह कथन भी निराधार एवं नितान्त मिथ्या है कि जो व्यक्ति दो हजार शाक्य भिक्षुओं को नित्य प्रति भोजन करवाता है, वह उत्तमगति को प्राप्त होता है। बल्कि ऐसे माँसाहारी साधुओं को जो भोजन करवाता है, वह असंयत है, अनार्य है, रक्तपाणि है, अत: परलोक में वह अनार्य गति को प्राप्त होता है। बौद्ध भिक्षु माँसभक्षण के द्वारा भी अपने आपको पापकर्म से अलिप्त मानते है - इससे बढ़कर और क्या अज्ञान हो सकता है। माँस हिंसाजनित रौद्रध्यान का हेतु, अपवित्र, अनार्यजन से सेवित एवं नरकगति का कारण है। जो माँसभोजी है, वे अनार्य और रसलोलुप राक्षस के समान होने से नरकगामी है। आत्मा को स्वयमेव नरक में डालने के कारण आत्मद्रोही है।[16]

आर्हतसिद्धान्त का समर्थन - समस्त प्राणियों की रक्षा के उद्देश्य से ज्ञातपुत्र महावीर तथा उनके अनुयायी ओद्देशिक भोजन का सर्वथा त्याग करते है। वे सात्विक आहार भी उद्गम, उत्पादना एवं एषणा के 42 दोषों से रहित, शुद्ध, निरवद्य एवं कल्पनीय होने पर ही ग्रहण करते है। इसलिये माँस भोजन की बात तो बहुत दूर है, परन्तु ओद्देशिक भोजन का भी वे त्याग करते है।

प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक की पहली गाथा में भी उद्दिष्ट भोजन का निषेध किया गया है। किसी भिक्षुविशेष या भिक्षुसमूह के लिये बनाया जाने वाला भोजन, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि आर्हत मुनि के लिये अग्राह्य है। परन्तु बौद्ध भिक्षुओं के विषय में ऐसा नहीं है। तथागतबुद्ध स्वयं आमंत्रण स्वीकार करते थे। वे एवं उनका भिक्षुसंघ, उन्हीं के लिये तैयार किया गया निरामिष अथवा सामिष आहार ग्रहण करते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. सूयगडो, 1/1/2/51-59
2. सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. - 37
3. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 37
4. (अ) सूत्रकृतांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ. - 97
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र-214
   (स) सूयगड सूत्तं (जंबुविजयजी म. सम्पादित) की प्रस्तावना पृ. - 10
   (द) सुत्तपिटके अंगुत्तरनिकाय- पालि भा.- 3, अट्ठकनिपात पृ. - 293-296
   ... अहं हि सीह! अकिरियं वंदामि कायदुच्चरितस्स, वचीदुच्चरितस्स, मनोदुच्चरितस्स, अनेकविहितानां पापकानं अकुसलानं धम्मानं अकिरियं वंदामि।
5. (अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा, 31
   कम्पचयं न गच्छइ, चउव्विहं भिक्खु समयंसि।
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 11/12
6. सूत्रकृतांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ. - 9 : तेषां हि परिज्ञोपचितं ईर्यापथं, स्वप्नान्तिकं च कर्मचयं न यातीत्यतस्ते कम्मचिंतापणट्ठा।
7. सूयगडो, 1/1/2/53-54
8. (अ) सूत्रकृतांग चूर्णि, मूल पाठ टिप्पण, पृ. - 9 : स्यात् कथं पुनरूपचीयते ? उच्यते, यदि सत्वश्च भवति ?, सत्व संज्ञा च 2 संचित्य-संचित्य, 3, जीविताद् व्यपरोपणं प्राणातिपातः।
   (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र 38 :
   प्राणी प्राणीज्ञानं घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा।
   प्राणैश्च विप्रयोगः पंचभिरापद्यते हिंसा॥
9. सुत्तपिटक, खुद्दकनिकाय, बालोवादजातक पृ. 64
   पुत्तदारंपि चे हत्वा, देति दानं अञ्ञतो।
   भुञ्जमानो पि सम्पञ्ञा न पापमुपलिम्पति॥
10. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 38
11. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग - 1, पृ. - 180
12. मनः एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः।
13. (अ) धम्मपद/पढमो यमकवग्गो 1 :
    मनोपूव्वंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
    मनसा च पदुट्ठेन भासति वा करोति वा॥
    (ब) चित्तमेव ही संसारो रागादि क्लेश वासितम्।
    तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

14. *दशवैकालिक सूत्र, 4/8*

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सये।
जयं भुंजंतो भासंतो पाव कम्मं न बंधई॥

15. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 40*

16. *वही - 396*

9. जगत्कर्तृत्ववाद

सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में जगत्कर्तृत्ववाद का विशद वर्णन है। इसके द्वारा शास्त्रकार ने जगत् की रचना के सन्दर्भ में अज्ञानवादियों के प्रमुख 7 मतों का निरूपण किया है। यह जगत् -

(1) किसी देव द्वारा कृत, गुप्त (संरक्षित) एवं उप्त (बोया हुआ) है।

(2) ब्रह्मा द्वारा रचित, रक्षित या उत्पन्न है।

(3) जीव और अजीव से युक्त तथा सुख-दुःख से समन्वित ईश्वर के द्वारा कृत-रचित है।

(4) प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा कृत है।

(5) स्वयंभूकृत है।

(6) यमराज (मार-मृत्यु) रचित माया है, अतः अनित्य है।

(7) अण्डे से उत्पन्न है।

लोक रचना के सम्बन्ध में शास्त्रकार ने उपरोक्त जिन विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया है, उनके बीज उपनिषदों, पुराणों एवं स्मृतियों में तथा सांख्यादि दर्शनों में मिलते है।

1. देवकृत लोक

'देवउत्ते' यह लोक देव द्वारा उप्त है। जैसे कृषक बीजों का वपन कर फसल उगाता है, वैसे ही देवताओं ने बीज वपन कर इस संसार का सर्जन किया है। 'देवउत्ते' शब्द के संस्कृत में तीन रूप हो सकते है -[1]

(1) देवउप्त - देव द्वारा बीज की तरह वपन किया हुआ।

(2) देवगुप्त - देव द्वारा रक्षित (पालित)।

(3) देवपुत्र - देव द्वारा उत्पादित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूँकि वैदिक युग में मनुष्यों का एक वर्ग अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश, विद्युत्, दिशा आदि प्राकृतिक तत्त्वों का उपासक था अत: प्रकृति को ही देव मानकर पूजता था और यह विश्वास रखता था कि इस विराट् ब्रह्माण्ड की रचना सामान्य प्राणी के द्वारा नहीं हो सकती। देव अपनी शक्ति के द्वारा ही ऐसी अद्भुत रचना कर सकता है, अत: यह लोक देव द्वारा बीज की तरह बोया हुआ है अथवा किसी देव द्वारा रक्षित है अथवा यह जगत् तथाकथित देव का पुत्र है, जिसने इसको पैदा किया है।[2]

2. ब्रह्मरचित लोक

'बंभउत्ते' यह लोक ब्रह्मा द्वारा उप्त अर्थात् बीज वपन किया हुआ है। कुछ प्रावादुक ऐसा मानते है कि ब्रह्मा जगत् का पितामह है। जगत् सृष्टि के आदि में वह अकेला था। उसने प्रजापतियों को, फिर क्रमश: संसार को बनाया।[3] चूर्णिकार ने इसके भी तीन विकल्प प्रस्तुत किये है -[4]

(1) ब्रह्मउप्त - ब्रह्मा द्वारा बीज बोया हुआ।
(2) ब्रह्मगुप्त - ब्रह्मा द्वारा संरक्षित (गोपित)।
(3) ब्रह्मपुत्र - ब्रह्मा द्वारा उत्पादित।

ब्रह्मा द्वारा सृष्टिवाद के विविध पक्षों का निरूपण वैदिक साहित्य में विस्तृत रूप से उपलब्ध होता है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में पुरुष (आदिपुरुष) को सृष्टि का कर्त्ता माना गया है। उसके हजार सिर, हजार पैर और हजार आँखें थी। सारी सृष्टि उसकी है। उस पुरुष से 'विराज' उत्पन्न हुआ और उससे दूसरा पुरुष 'हिरण्यगर्भ' पैदा हुआ।

तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार 'आत्मा था। उसने सोचा, मैं अकेला हूँ, बहुत हो जाऊँ। उसने तपश्चर्या की। विश्व की सृष्टि की'। प्रश्नोपनिषद् में थी इसी का समर्थन मिलता है। बृहदारण्यक के अनुसार 'पहले एक ही आत्मा पुरुष के रूप में था। उसे अकेले में आनन्द नहीं आया। उसमें एक से दो होने की भावना जगी। उसने अपनी आत्मा को दो भागों में बाँटा। एक भाग स्त्री और दूसरा भाग पुरुष बना। दोनों पति-पत्नी के रूप में रहे। उससे सारी मानव सृष्टि का अस्तित्व आया। फिर प्राणी जगत् बना। फिर नाम रूप में आत्मा का प्रवेश हुआ।' छन्दोग्योपनिषद् के अनुसार 'पहले केवल सत् था। एक से अनेक होने की भावना जगी। उसने तेज उत्पन्न किया। तेज से पानी उत्पन्न हुआ। पानी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से पृथ्वी उत्पन्न हुई। दिव्यशक्ति ने तीनों - तेज, पानी और पृथ्वी में प्रवेश कर उन्हें नाम रूप दिया।[5]

एक वैदिक पुराण में सृष्टिक्रम इस प्रकार बताया गया है कि 'पहले यह जगत् घोर अन्धकारमय था। बिल्कुल अज्ञात, अविलक्षण, अतर्क्य और अविज्ञेय। मानों वह बिल्कुल सोया हुआ था। वह एक समुद्र के रूप में था। उसमें स्थावर, जंगम, देव, राक्षस, उरग, भुजंग आदि सब प्राणी नष्ट हो गये थे। केवल गड्ढा सा बना हुआ था, जो पृथ्वी आदि महाभूतों से रहित था। मन से भी अचिन्त्य विभु सोये हुए तपस्या कर रहे थे। सोये हुये विभु की नाभि से एक कमल निकला, जो तरूण सूर्य बिम्ब के समान तेजस्वी, मनोरम और स्वर्णकर्णिका वाला था। उस कमल में से दण्ड और यज्ञोपवित से युक्त ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिन्होंने वहीं आठ जगन्माताएँ बनायी - (1) दिति, (2) अदिति, (3) मनु, (4) विनता, (5)कद्रु, (6) सुलसा, (7) सुरभि और (8) इला। दिति ने दैत्यों को, अदिति ने देवों को, मनु ने मनुष्यों को, विनता ने सभी प्रकार के पक्षियों को, क्रदु ने सभी प्रकार के सरीसृपों को, सुलसा ने नागजातीय प्राणियों को, सुरभि ने चौपाये जानवरों को और इला ने समस्त बीजों को उत्पन्न किया।

मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा ने अपने शरीर को दो भागों में बाँटा- एक पुरुष, दूसरी स्त्री। स्त्री ने 'विराज' को उत्पन्न किया। उसने तपस्या कर एक पुरुष को जन्म दिया। वही मनु कहलाया। मनु ने पहले दस प्रजापतियों को जन्म दिया। उनसे सात मनु, ईश्वर, देवता, ऋषि, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सराएँ, सर्प, पक्षी, तथा अन्यान्य सभी जीव और नक्षत्र उत्पन्न हुए।[6]

ब्रह्मा गाढ निद्रा से जागृत हुए। सृष्टि का विचार उत्पन्न हुआ। उन्होंने पहले आकाश को उत्पन्न किया। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी और पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई। यह समूची सृष्टि का आदि क्रम है।[7]

3. ईश्वरकृत लोक

'इसरेण कडे लोए' अर्थात् यह लोक ईश्वरकृत है। ईश्वरकर्तृत्ववाद की मान्यता मुख्यतया तीन दर्शनों में प्रचलित है - वेदान्त, न्याय एवं वैशेषिक।

वेदान्ती ईश्वर को ही जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण मानते है। मुण्डको-पनिषद् के अनुसार जिस प्रकार मकड़ी अपने ही शरीर से स्वयं जाला बनाती है तथा उसे अपने ही शरीर में समेट लेती है, जिस प्रकार पृथ्वी में औषधियाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न होती है, जैसे पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते है, उसी प्रकार उस नित्य ब्रह्म (ईश्वर) से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है।[8] तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है - जिस ब्रह्म (ईश्वर) से ये प्राणी उत्पन्न होते है, जिससे ये भूत (प्राणी) उत्पन्न होकर जीवित रहते है, जिसके कारण प्रयत्न (हलन-चलनादि क्रियाएँ) करते है, जिसमें विलीन हो जाते है, उन सबका तादात्म्य कारण ईश्वर है।[9]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में बताया गया है कि वही देवों का अधिपति है, उसी में सारा लोक अधिष्ठित है। वही इस द्विपद-चतुष्पद लोक पर शासन करता है। वही विश्व का एक मात्र परि-वेष्टिता, भुवन का गोप्ता, विश्वाधिप एवं समस्त प्राणियों में गूढ है।[10]

बृहदारण्यक के अनुसार - उस ब्रह्म के दो रूप है - मूर्त्त और अमूर्त्त अथवा मर्त्य और अमृत, जिसे यत् और त्यत् कहते है। वही एक ईश्वर सब प्राणियों के अन्तर में छिपा हुआ है।[11]

वेदान्ती जगत्कर्त्ता के रूप में ईश्वर को सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रमाण का भी प्रयोग करते है -

ईश्वर जगत् का कर्त्ता है। (प्रतिज्ञा)

क्योंकि वह चेतन है। (हेतु)

जो-जो चेतन होता है, वह-वह कर्त्ता होता है। जैसे कुम्हार घट का कर्त्ता है।[12] (उदाहरण)।

द्वितीय ईश्वरकर्तृत्ववादी नैयायिक मत अक्षपाद ऋषि द्वारा प्रतिपादित है। इस मत के आराध्य शिव माहेश्वर है। माहेश्वर ही इस चराचर जगत् का निर्माण एवं संहार करता है।

नैयायिक भी अनुमान प्रमाण के आधार पर ईश्वर को जगत्कर्त्ता के रूप में सिद्ध करते है - पृथ्वी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, शरीर, इन्द्रियाँ आदि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान् कर्त्ता द्वारा बनाये गये है। क्योंकि वे कार्य है। जो-जो कार्य होते है, वे किसी न किसी बुद्धिमान् द्वारा ही निर्मित होते है। वह बुद्धिमान् जगत् का कर्त्ता ईश्वर ही है। जो बुद्धिमान् कर्त्ता द्वारा उत्पन्न नहीं किये गये है, वे कार्य नहीं है, जैसे- आकाश।

यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा ईश्वर की जगत्कर्त्ता के रूप में सिद्धि की गयी है।

नैयायिक ईश्वर को जगत्कर्त्ता मानने के साथ उसे एक, सर्वव्यापी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकाशवत् नित्य, स्वाधीन, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् भी मानते है और संसारी प्राणियों से कर्मफलों का भुगतान कराने वाला भी ईश्वर ही है, ऐसा मानते है।[13]

नैयायिकों का ईश्वर जगत् का उपादान या समवायी कारण नहीं है। क्योंकि उपादान कारण तो कार्यरूप होता है। यदि ईश्वर को जगत् के जड़-चेतन पदार्थों का उपादान कारण माना जाय, तो वह जड़ को बनाकर स्वयं जड़मय बन जायेगा, चेतनवान् नहीं रहेगा। यदि उसे जगत् का समवायी कारण माना जाता है, तो जैसे समवायी कारण अपने समान-जातीय दूसरे गुणों को कार्यरूप में उत्पन्न करता है, वैसे ही इस नियमानुसार ईश्वर में विद्यमान सर्वज्ञता का गुण उसके द्वारा निर्मित जगत् में भी होता। पर ऐसा दिखायी नहीं देता। अत: ईश्वर जगत् का समवायी कारण भी नहीं है। वह कुम्हार की तरह जगत् का कर्त्ता रूप निमित्त कारण है।

वैशेषिकों की मान्यता भी ईश्वरकर्तृत्ववाद के सम्बन्ध में लगभग ऐसी ही है।[14]

सूत्रकृतांग सूत्र के द्वि. श्रु. के प्रथम पौण्डरीक अध्ययन में भी ईश्वरकर्तृत्वाद की चर्चा की गयी है। विशाल पुष्करिणी के ठीक मध्य में खिले पुण्डरीक कमल को प्राप्त करने की इच्छा वाला तृतीय पुरुष ईश्वरकारणवादी है। उसके मत से यह जगत् ईश्वरकृत है अर्थात् संसार का कारण ईश्वर है। शास्त्रकार ने ईश्वरवादियों की उन सात युक्तियों का भी उल्लेख किया है, जिनसे वे समस्त पदार्थों के रचयिता ईश्वर को मानकर ईश्वरकर्तृत्ववाद को सिद्ध करने का प्रयास करते है, जैसे -[15]

(1) किसी प्राणी के शरीर में लगा हुआ फोड़ा शरीर से ही उत्पन्न होता है, शरीर में ही बढ़ता है, शरीर का ही अनुगामी होता है और शरीर का आधार लेकर ही टिकता है, उसी प्रकार सभी धर्म (पदार्थ) ईश्वर के ही अनुगामी होते है और ईश्वर का आधार लेकर ही स्थित रहते है।

(2) जैसे अरति (मानसिक उद्वेग) शरीर में ही उत्पन्न होकर, शरीर में ही बढ़ती हुई, शरीर की अनुगामिनी बनती है, शरीर को ही आधार बनाकर के पीड़ित करती हुई रहती है, इसी तरह सभी पदार्थ ईश्वर से ही उत्पन्न, उसी में वृद्धिगत और उसी के आश्रय में स्थित है।

(3) जैसे वल्मीक (कीटविशेषकृत मिट्टी की स्तूप या दीमक के रहने की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बांबी) पृथ्वी से उत्पन्न होकर उसी में बढ़ता है, उसी का अनुगामी है और उसी के आश्रय से स्थित है, उसी प्रकार समस्त पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न, संवर्द्धित और अनुगामी तथा उसी में व्याप्त होकर रहते है।

(4) जैसे कोई वृक्ष मिट्टी से उत्पन्न होकर, मिट्टी से ही संवर्धित होकर, मिट्टी का ही अनुगामी होता है, मिट्टी में ही व्याप्त रहता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न यावत् उसी में व्याप्त होकर रहते है।

(5) जैसे पुष्करिणी (बावड़ी) पृथ्वी से उत्पन्न होती है और यावत् अन्त में पृथ्वी में ही विलीन हो जाती है, उसी प्रकार समस्त पदार्थ ईश्वर से ही उत्पन्न होते हुए यावत् उसीमें लीन हो जाते है।

(6) जैसे कोई जल का पोखर (पुष्कर) जल से ही उत्पन्न होकर, जल से ही संवर्धित, अनुगामिक होकर अन्त में जल को ही व्याप्त करके रहता है, उसी प्रकार यह चेतनाचेतनात्मक जगत् भी ईश्वर से उत्पन्न, संवर्द्धित एवं अनुगामी होकर उसीमें विलीन होकर रहता है।

(7) जैसे कोई पानी का बुलबुला, पानी से उत्पन्न होकर, पानी में बढ़ता है, पानी का अनुगमन करता है और अन्त में पानी में ही विलीन हो जाता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से ही उत्पन्न होते है और अन्त में उसी में व्याप्त (लीन) होकर रहते है।

इसिभासियाइं में भी इन्हीं कारणों का वर्णन पाया जाता है।[16]

4. प्रधानादिकृत लोक

'पहाणाइं तहावरे' अर्थात् यह लोक प्रधानादि कृत है। प्रधान का अर्थ है, सांख्यसम्मत प्रकृति।

लोक की रचना के सन्दर्भ में पूर्वोक्त विकल्प में जगत् के रचयिता ईश्वर है, तो दूसरा विकल्प यह है कि पुरुष (ईश्वर) जगत्कर्त्ता नहीं हो सकता क्योंकि पुरुष (ईश्वर) स्वयं कर्तृत्व से रहित है, निर्गुण साक्षी व निर्लेप है। अत: प्रकृति ही जगत् की विधात्री, कर्त्री, धर्त्री है।

प्रकृति का अपर नाम अव्यक्त भी है। सुख-दु:ख आदि सब प्रपंच प्रकृति के कार्य है। अत: वही जगत् का उपादान कारण है। सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है।[17] यह प्रकृति पुरुष के भोग एवं मोक्ष के लिये क्रिया में प्रवृत्त होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ 'पहाणाइ' अर्थात् प्रधानादि में आदि पद से यह ध्वनित होता है कि प्रकृति से महत् (बुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है, महत् से अहंकार तथा अहंकार से षोडश तत्त्व (मन, 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मोन्द्रियाँ और 5 तन्मात्राएँ) उत्पन्न होते है। 5 तन्मात्र से 5 महाभूत उत्पन्न होते है। वृत्तिकार ने इसी क्रम से सृष्टि के सर्जन को उल्लिखित किया है।[18]

अथवा आदिशब्द से स्वभावादि का ग्रहण किया है। एकान्त स्वभाववादी कहते है- जैसे काँटों की तीक्ष्णता स्वभाव से होती है, उसी प्रकार यह लोक भी स्वभाव से ही बना है। एकान्त कालवादी काल को ही जीव-अजीवमय या सुख-दुःख से युक्त जगत् का कारण मानते है। एकान्त नियतिवादियों के अनुसार- जैसे मयूर के पंख नियतिवश रंग-बिरंगे व विचित्र होते है, उसी प्रकार यह लोक भी नियतिवश एवं नियतिकृत है।

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से चिन्तन प्रस्तुत किया है। सांख्यदर्शन के अनुसार मूल तत्त्व दो है - चेतन और अचेतन। ये दोनों अनादि तथा सर्वथा स्वतन्त्र है। चेतन-अचेतन का या अचेतन-चेतन का कार्य या कारण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सांख्य सृष्टिवादी नहीं है। वह सत्कार्यवादी है। अचेतन जगत् का विस्तार 'प्रधान' प्रकृति से होता है। इस अपेक्षा से शास्त्रकार ने सांख्यदर्शन को सृष्टिवादियों की कोटि में परिगणित किया है।

प्रधान प्रकृति का नाम है। वह सत्व, रजस्, तमस् रूप त्रिगुणात्मिका है। इसकी दो अवस्थाएँ होती है - साम्य और वैषम्य। साम्यावस्था में केवल गुण रहते है। यही प्रलयावस्था है। वैषम्यावस्था में ये तीनों गुण विभिन्न अनुपातों में परस्पर मिश्रित होकर सृष्टि के रूप में परिणत हो जाते है। इस प्रकार अचेतन जगत् का मुख्य कारण प्रकृति है।

प्रकृति की विकार रहित अवस्था मूल प्रकृति है। चूँकि पूर्वोक्त चौबीस तत्त्वों में प्रकृति किसी से उत्पन्न नहीं होती, इसलिये उसे मूल कहा गया है।[19] महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ ये सातों तत्त्व प्रकृति तथा विकृति दोनों में विद्यमान होते है। इनसे अन्य तत्त्व उत्पन्न होने से ये प्रकृति है और ये किसी न किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न होते है, इसलिये विकृति भी है। सोलह तत्त्व (मन, 10 इन्द्रियाँ व 5 तन्मात्राएँ) केवल विकृति है। पुरुष (आत्मा) किसी को उत्पन्न नहीं करता, इसलिये प्रकृति नहीं है और वह किसी से उत्पन्न नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता, अत: विकृति भी नहीं है।[20] मूल प्रकृति पुरुष दोनों अनादि है।[21] शेष तेईस तत्त्व प्रकृति के विकार है। यही प्रधानकृत सांख्य-सृष्टि का स्वरूप है।

5. स्वयंभूकृत लोक

'सयंभूणा कडे लोए' अर्थात् 'यह लोक स्वयंभू द्वारा बनाया गया है' ऐसा महर्षियों ने कहा है।

चूर्णिकार महर्षि इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते है - महर्षि अर्थात् ब्रह्मा अथवा व्यासादि ऋषि।[22] वृत्तिकार स्वयंभू का अर्थ करते है विष्णु या अन्य कोई।[23] उल्लेखनीय है कि स्वयंभू शब्द ब्रह्मा तथा विष्णु दोनों ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी- 'स्वयं भवति इति स्वयंभू' अर्थात् जो अपने आप होता है, वह स्वयंभू है।

कई मतवादियों का कहना है कि यह सम्पूर्ण संसार विष्णु से व्याप्त है। इस सम्बन्ध में वे प्रमाण प्रस्तुत करते है - जल में विष्णु है, स्थल में विष्णु है, पर्वत के मस्तक पर विष्णु है, अग्नि की ज्वालाओं से व्याप्त स्थल में विष्णु है, सारा जगत् विष्णुमय है। हे अर्जुन ! मैं पृथ्वी में भी हूँ, वायु , अग्नि और जल में भी हूँ। मैं समस्त प्राणियों में तथा सारे संसार में व्याप्त हूँ।[24]

6. मार (मृत्यु) के द्वारा रचित माया

'मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए' मार रचित माया के कारण यह संसार अशाश्वत् है अर्थात् इस संसार का प्रलयकर्त्ता मार है। वृत्तिकार ने मार शब्द का अर्थ यम किया है।[25] जो मारता है, नष्ट करता है, वह मार, मृत्यु या यमराज है। मार की उत्पत्ति का कारण बताते हुये वृत्तिकार कहते है कि स्वयंभू ने लोक की सृष्टि की। वह अतिभार से आक्रान्त न हो जाये, इस भय से यम नामक मार की सृष्टि की। उस मार ने माया को जन्म दिया। उस माया से लोग मरने लगे।[26]

'मारेण संथुया माया' प्रस्तुत चरण में वैदिक साहित्य में उल्लिखित मृत्यु की उत्पत्ति की कथा का संकेत है - ब्रह्मा ने जीवाकुल सृष्टि की रचना की। पृथ्वी जीवों के भार से आक्रान्त हो गयी। वह और अधिक भार वहन करने में असमर्थ थी। वह दौड़ी-दौड़ी ब्रह्मा के पास आकर बोली - प्रभो ! यदि सृष्टि का यही क्रम रहा तो मैं भार कैसे वहन कर सकूँगी? यदि सब जीवित ही रहेंगे तो भार कैसे कम होगा ? उस समय परिषद् में नारद व रूद्र भी थे। ब्रह्मा ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा - सृष्टि का विनाश कैसे कर सकता हूँ ? उन्होंने विश्व प्रकाश से एक स्त्री का निर्माण किया। वह दक्षिण दिशा से उत्पन्न हुई, इसलिये उसका नाम मृत्यु रखा। उसे कहा- तुम प्राणियों का विनाश करो। यह सुनते ही मृत्यु काँप उठी। वह रोने लगी। अरे ! मुझे ऐसा जघन्य कार्य करना होगा। उसकी आँखों से आँसु गिरने लगे। ब्रह्मा ने सारे आँसु इकट्ठे कर लिये। मृत्यु ने पुन: तपस्या की। ब्रह्मा ने कहा- ये लो तुम्हारे आँसु। जितने आँसु हैं, उतनी ही व्याधियाँ- रोग हो जायेंगे। इनसे प्राणियों का स्वत: विनाश होगा। यह धर्म के विपरीत नहीं होगा। मृत्यु ने बात मान ली।[27]

चूर्णिकार ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है - विष्णु ने सृष्टि की रचना की। अजरामर होने के कारण सारी पृथ्वी जीवाकुल हो गयी। भार से आक्रान्त होकर पृथ्वी प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुई। प्रजापति ने प्रलय की बात सोची। सब प्रलय हो जायेगा- यह देखकर पृथ्वी भयभीत होकर काँपने लगी। प्रजापति ने उस पर अनुकम्पा कर व्याधियों के साथ मृत्यु का सर्जन किया। उसके पश्चात् धार्मिक तथा सहज सरल प्रकृति वाले सभी मनुष्य देवलोक में उत्पन्न होने लगे। सारा स्वर्ग उनके अत्यधिक भार से आक्रान्त हो गया। स्वर्ग प्रजापति के पास उपस्थित हुआ। तब प्रजापति ने मृत्यु के साथ माया का सर्जन किया। लोग माया प्रधान होने लगे। वे नरक में उत्पन्न होने लगे। प्रजापति ने स्वर्ग से कहा- लोग शास्त्रों को जानते हुए तथा अपने संशयों को नष्ट करते हुए भी, शास्त्रानुसार प्रवृत्ति नहीं करेंगे। (इसके अभाव में वे स्वर्ग में उत्पन्न नहीं होंगे।) इसलिये स्वर्ग ! तुम जाओ। अब तुम्हें कोई भय नहीं है।[28]

'मारेण संथुया माया तेण लोए असासाए' गाथा का उत्तरार्ध उक्त कथानक का पूरा द्योतक नहीं है। आचार्य नागार्जुन ने इस स्थान पर जो श्लोक मान्य किया है, वह अक्षरश: इस कथानक का पूरा द्योतक है। चूर्णिकार ने यह श्लोक 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' कहकर उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है-[29]

अतिवड्ढिय जीवाणं, मही विण्णवते पभुं।
ततो से माया संजुत्ते, करे लोगस्सभिद्दवा॥

चूर्णिकार ने मार का अर्थ विष्णु किया है। विष्णु को सृष्टि का कर्त्ता मानने वाले कहते है कि विष्णु ने स्वयं स्वर्गलोक से एक अंश में अवतीर्ण होकर इन सभी लोकों की सृष्टि की। वह सब सृष्टि का विनाशकर्त्ता है, अत: विष्णु को ही मार कहा है।[30] वे मार का अर्थ मृत्यु भी करते है।[31]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. अण्डे से उत्पन्न लोक

'अण्डकडे लोए' अर्थात् यह सम्पूर्ण चराचर जगत् अण्डे से उत्पन्न हुआ है। चूर्णिकार का मन्तव्य है कि ब्रह्मा ने अण्डे का सर्जन किया। जब वह फूटा तब सारी सृष्टि प्रकट हुई।[32] वृत्तिकार के अनुसार, जब कोई भी वस्तु नहीं थी, सारा संसार पदार्थशून्य था, तब ब्रह्मा ने पानी में अण्डे की सृष्टि की। वह बड़ा हुआ। जब वह दो भागों में विभक्त हुआ तब एक भाग उर्ध्वलोक, दूसरा भाग अधोलोक और उनके मध्य में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, आकाश, समुद्र, नदी, पर्वत आदि की संस्थिति हुई।

वृत्तिकार ने इस सन्दर्भ में एक श्लोक उद्धृत करते हुए बताया है कि सृष्टि के आदिकाल में यह जगत् तमस्रूप, अज्ञात, अविलक्षण, अतर्क्य, अज्ञेय तथा चारों तरफ से सोया हुआ था। ब्रह्मा ने ही अण्डा आदि क्रम से इस सृष्टि की रचना की।[33]

ब्रह्माण्ड शब्द ब्रह्म+अण्ड से निष्पन्न है। इसीसे इसकी उत्पत्ति का आधार स्पष्ट है। मनुस्मृति में भी अण्डे से ब्रह्मा के उत्पन्न होने की कल्पना की गयी है।[34]

जगत्कर्तृत्ववाद का खण्डन

शास्त्रकार ने पूर्वोक्त देवोप्त, ब्रह्मोप्त, ईश्वरकृत, प्रधानकृत, स्वयंभूकृत, मारकृत एवं अण्डकृत जगत् की कल्पना करने वाले समस्त मतवादियों को 'अयाणंता मुसं वए' वस्तु तत्व से अज्ञात होने से मृषावादी कहा है। ये विभिन्न मतवादी अपने-अपने अभिप्रायानुसार सृष्टि रचना सम्बन्धी मान्यताएँ प्रस्तुत करते है। सूत्रकार के अनुसार वस्तुत: वे तत्त्वस्वरूप से अज्ञ है। क्योंकि यह जगत् कदापि विनाशवान् नहीं अपितु शाश्वत है।

मूल गाथाओं में भी यही संकेत उपलब्ध होता है कि कृतवादी अविनाशी लोक को कृत अर्थात् अनित्य-विनाशी मानते है। वे अज्ञानी लोक के यथार्थ स्वरूप से ही अनभिज्ञ है। यह लोक अनादि-अनन्त तथा शाश्वत है। वृत्तिकार इसी पंक्ति की व्याख्या करते है कि वास्तव में यह लोक कभी सर्वथा नष्ट नहीं होता क्योंकि द्रव्य रूप से यह सदा ध्रुव अर्थात् स्थित होता है। यह लोक अतीत में भी था, वर्तमान में भी है, भविष्य में भी रहेगा। अत: यह ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ईश्वर, प्रकृति आदि किसी के भी द्वारा कृत नहीं है। क्योंकि जो-जो कृतक होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, वह नाशवान होता है परन्तु जगत एकान्तत: ऐसा नहीं है।

वृत्तिकार ने इन समस्त कृतवादियों की असंगत और प्रमाणविरुद्ध युक्तियों का अकाट्य तर्कों के साथ खण्डन करते हुए जैन दर्शन के अनुसार जगत के यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत किया है।

(1) देवोप्त तथा ब्रह्मोप्त जगत की धारणा सर्वथा मिथ्या है-

देवकृतवादी जगत को देवकृत मानते है परन्तु इसके पक्ष में ऐसा कोई प्रबल प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते। यदि जगत देवकृत है, तो देव इस सृष्टि को स्वयं उत्पन्न होकर बनाता है अथवा उत्पन्न हुए बिना बनाता है। स्वयं उत्पन्न हुए बिना इस लोक को बनाना असम्भव है क्योंकि गधे के सींग की तरह जो स्वयं अविद्यमान है, वह किसी अन्य को उत्पन्न कैसे कर सकता है ? यदि देव उत्पन्न होकर बनाता है, तो वह स्वत: उत्पन्न होता है या किसी अन्य के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। यदि वह स्वयमेव उत्पन्न होता है, तो इस जगत् को भी स्वत: उत्पन्न मानने में क्या आपत्ति है? यदि ऐसा कहे कि वह देव किसी दूसरे देव द्वारा उत्पन्न होकर इस लोक की रचना करता है, तो दूसरा देव तीसरे से उत्पन्न होगा, तीसरा चौथे से। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा।[35] इस प्रकार देवकृत लोक की किसी भी प्रकार से सिद्धि नहीं होगी।

देवकृतवादी देव को अनादि मानने का आग्रह करते है। यदि वह अनादि है तो जगत को भी अनादि मान लेना चाहिये। वृत्तिकार ने जगत्कर्तृत्ववादियों के समक्ष यह प्रश्न किया है कि वह देव अनादि होने पर नित्य है या अनित्य है ? यदि नित्य है तो वह क्रमश: या एक साथ भी अर्थक्रिया नहीं कर सकता। क्योंकि जो पदार्थ नित्य है, उसका स्वभाव परिवर्तित नहीं होता। और स्वभाव में परिवर्तन हुए बिना पदार्थ से क्रियाएँ नहीं हो सकती। यदि वह देव अनित्य है, तो उत्पत्ति के पश्चात् स्वयं विनाशी होने से स्वयं की रक्षा भी स्वयं नहीं कर सकता तो फिर उससे किसी अन्य की उत्पत्ति के व्यापार की चिन्ता असम्भव है।[36]

इसी प्रकार वह देव मूर्त है या अमूर्त ? यदि अमूर्त है, तब आकाश की तरह अकर्ता ही है। यदि वह मूर्त है, तो कार्य की उत्पत्ति के लिये सामान्य पुरुष की तरह उसे भी उपकरणों की अपेक्षा रहेगी। ऐसी दशा में वह जगतकर्ता मिथ्या ही सिद्ध होगा। इसी प्रकार ब्रह्मा को भी जगत् का रचयिता मानने पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वोक्त दोषापत्तियाँ आ पड़ेगी। जब देवकृत या ब्रह्मकृत जगत ही सिद्ध नहीं होता तो उनके द्वारा गुप्त या पुत्र रूप जगत का होना स्वत: खण्डित हो जाता है।

(2) ईश्वरकर्तृत्व की मान्यता प्रमाण से असिद्ध एवं अनुभव से बाधित है

ईश्वरकर्तृत्ववादी ईश्वर को जगत कर्ता सिद्ध करने के लिये अनेक असंगत युक्तियों का सहारा लेते है। उन्होंने जिस अनुमान प्रमाण का उपयोग किया है, वह भी असिद्ध है। जगत के विभिन्न पदार्थ घट, पट आदि कार्य है। इनके द्वारा यह अनुमान होता है कि इनका कोई न कोई कर्त्ता अवश्य है, क्योंकि ये सब उसके कार्य है परन्तु यह अनुमान नहीं हो सकता कि ये सब कार्य अमुक व्यक्ति द्वारा निर्मित है। क्योंकि जो कार्य है, वे सब कर्ता द्वारा किये हुये है, इस प्रकार कार्य की व्याप्ति कारण में गृहीत होती है। किन्तु जो-जो कार्य होता है, वह अमुक व्यक्ति द्वारा निर्मित होता है, इस प्रकार कार्य की व्याप्ति विशिष्टकारण में गृहीत नहीं होती। घट को देखकर मात्र कुम्हार रूप कर्ता का ही अनुमान होता है। किसी अमुक अमुक नाम वाले विशिष्ट कुम्हार का नहीं। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि जगत किसी कारण से उत्पन्न हुआ है परन्तु यह कहना असंगत है कि जगत अमुक विशिष्ट कारण से उत्पन्न हुआ है।

इसी प्रकार किसी कार्यविशेष का कर्ता यदि प्रत्यक्ष देखा जाता है, तभी उस विशिष्ट कार्य को देखकर व्यक्ति उसके कर्ता का अनुमान करता है परन्तु जो वस्तु अत्यन्त अदृश्य है, उसमें यह प्रतीति कदापि नहीं हो सकती। अर्थात् जिसकी रचना करता हुआ कोई व्यक्ति कभी दृष्टिगत ही न हुआ हो, उस वस्तु को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता का अनुमान सर्वथा दोषपूर्ण ही है। यदि यह कहे कि घट को देखकर उसके कर्ता कुम्हार का अनुमान होता है और वह कुम्हार कार्य का कर्त्ता है, इसी प्रकार जगत को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता ईश्वर का अनुमान किया जा सकता है, तो यह कथन अयुक्तिसंगत है क्योंकि घट, जो कि विशिष्ट प्रकार का कार्य है, उसका कर्ता कुम्हार उसे करता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है, अत: घट से कुम्हार का अनुमान तो हो सकता है परन्तु जगत को देखकर ईश्वर का अनुमान इसलिये नहीं किया जा सकता क्योंकि नदी, समुद्र, पर्वत बनाता हुआ ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता। अत: जगत को देखकर किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धिमान कर्ता के रूप में ईश्वर का अनुमान करना दोषपूर्ण ही है।

ईश्वरकर्तृत्ववादियों का यह कथन भी ईश्वर के कर्त्ता होने का साधक नहीं है कि घट आदि विशिष्ट रचनायुक्त कार्य किसी बुद्धिमान कर्त्ता द्वारा रचित है। क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं होता कि हर चीज को बनाने वाला कर्त्ता बुद्धिमान ही हो। आकाश में बादल बिना बुद्धिमान के बनते और बिगड़ते नज़र आते है। इसी प्रकार बिजली भी चमकती है और जमीन पर गिरती दिखाई देती है। पानी बरसने पर घास बुद्धिमान के बिना ही उगती है। मौसम के अनुसार ही सर्दी-गर्मी पड़ती है, उसमें भी बुद्धिमान इन कार्यों को करता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता जबकि पदार्थों की उत्पत्ति और नाश तो प्रत्यक्ष देखा जाता है।

कृतवादियों का यह तर्क भी निराधार है कि घटादि की तरह शरीर और जगत विशिष्ट अवयव रचना युक्त होने से किसी बुद्धिमान कर्त्ता द्वारा निर्मित है। क्योंकि इस अनुमान से बुद्धिमान कर्ता की सिद्धि तो होती है परन्तु ईश्वर रूप कर्त्ता की सिद्धि नहीं होती। जो बुद्धिमान होता है, वह ईश्वर ही होता है, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि घट का कर्त्ता कुम्हार एवं पट का कर्त्ता जुलाहा ही माना जाता है, ईश्वर नहीं। यदि बुद्धिमान कर्त्ता ईश्वर ही है तो फिर ईश्वरकर्तृत्ववादी घट और पट का कर्त्ता भी ईश्वर को क्यों नहीं मान लेते ? अत: विशिष्ट अवयव-रचना बुद्धिमान कर्त्ता द्वारा ही सम्भव होती है, यह धारणा मिथ्या है। क्योंकि यदि ऐसा माना जायेगा तो वल्मीक (दीमक द्वारा निर्मित मिट्टी कर ढेर) भी विशिष्ट अवयवरचनायुक्त होने से घट के समान कुम्हार द्वारा बना हुआ सिद्ध हो जायेगा।[37] अत: अवयवरचना मात्र को देखकर उसके बुद्धिमान कर्त्ता की कल्पना मिथ्या है। उसी अवयवरचना के विशिष्ट कर्ता का अनुमान किया जा सकता है, जिस अवयवरचना का बुद्धिमान कर्त्ता प्रत्यक्ष देखा जाता है। शरीर और जगत की विशिष्ट अवयव रचना को देखकर उस पर से अदृष्ट ईश्वर की कल्पना युक्ति विरुद्ध है।

यदि कहे कि ईश्वर सर्वव्यापक होने से निमित्त रूप से घटादि रचना में अपना व्यापार करता है। तो इस प्रकार से दृष्ट की हानि तथा अदृष्ट की कल्पना का प्रसंग आयेगा। क्योंकि घट का कर्त्ता कुम्हार प्रत्यक्ष उपलब्ध (इष्ट) है, उसे न मानना दृष्ट की हानि है और घट बनाता हुआ ईश्वर कभी नहीं देखा जाता तथापि उसे घट का निमित्त मानना अदृष्ट की कल्पना है। जिसके सम्बन्ध से जिसकी उत्पत्ति होती है, वही उसका कारण माना जाता है, जैसे- चैत्र नामक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुष के घाव भरने में शस्त्र क्रिया (ऑपरेशन या शल्यचिकित्सा) और औषध के लेप ही कारण थे परन्तु इस घाव के साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है, उस ठूँठ को घाव भरने का कारण क्यों नहीं माना जा सकता। अत: जिस वस्तु का जो कारण प्रत्यक्ष देखा जाता है, उसे न मानकर जो न देखा जाये उसे, उसका कारण मानना सर्वथा असगंत है।[38]

इसके अतिरिक्त भवन आदि का कर्त्ता सावयव, अव्यापक, अनित्य और परतन्त्र देखा जाता है। यदि ईश्वर को जगत का कर्ता माना जायेगा तो वह भी सावयव, अव्यापक, अनित्य और परतन्त्र ही सिद्ध होगा। इसके विपरीत निरवयव, स्वतन्त्र और नित्य ईश्वर की सिद्धि के लिये कोई दृष्टान्त नहीं मिलता इसलिये व्याप्ति की सिद्धि न होने से निरवयव नित्य ईश्वर का अनुमान सिद्ध न होगा।

जिस प्रकार कार्यत्व हेतु ईश्वर की सिद्धि नहीं कर सकता, वैसे ही पूर्वोक्त अन्य हेतु भी ईश्वर के कर्मत्व सिद्धि के लिये समर्थ नहीं है।

यदि ईश्वरवादी यह कहे कि ईश्वर अमूर्त और अदृश्य है अत: दिखाई नहीं दे सकता, तो प्रश्न होता है कि वह शरीरधारी है या शरीररहित ? यदि शरीररहित है, तब तो सृष्टि की रचना कैसे करेगा ? यदि शरीरधारी है, तो वह शरीर नित्य है या अनित्य ? नित्य इसलिये नहीं हो सकता क्योंकि सावयव है। जो-जो सावयव होते है, वे सब पदार्थ घट-पटादि की तरह अनित्य होते है। यदि शरीर अनित्य है, तो उसे किसने बनाया ? यदि ईश्वर ने स्वयं ही बनाया है, तो इससे पहले भी ईश्वर के शरीर को मानना पड़ेगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर शरीर रचना के लिये पूर्व-पूर्व शरीर को मानने पर अनवस्था दोष आ पड़ेगा। ऐसी दशा में कार्य की सिद्धि नहीं होगी।

ईश्वर जीवों को अपने कर्मों के अनुसार सुख, दु:ख, स्वर्ग, नरक देता है। यह कहना भी अयथार्थ है, क्योंकि इससे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ईश्वर की सृष्टि रचना के समय जीव कर्मसहित होता है या कर्मरहित ? यदि कर्म सहित था, तो उन कर्मों का कर्त्ता कौन? यदि उन कर्मों का कर्त्ता उन जीवात्माओं को ही माना जाये तो ईश्वर का कर्तृत्व समाप्त हो जायेगा और कार्यरूप हेतु भी दूषित हो जायेगा क्योंकि जो भी कार्य है, वे ईश्वर द्वारा कृत है। यदि उन कर्मों को भी ईश्वर ने ही बनाया है, तब तो ईश्वर की दयालुता और करुणा पर प्रश्नचिह्न लग जायेगा कि ईश्वर ने उन अकर्मक, शुद्ध और सुखी आत्माओं को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाल में फँसाकर क्यों दु:खी कर दिया?

यदि यह कहे कि ईश्वर ने ही कर्म की स्वतन्त्रता प्रदान की है, सुमार्ग-कुमार्ग का चयन जीव की अपनी सोच है, तो वह परमपिता सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होते हुये भी अपने पुत्रवत् जीवों को कुमार्ग पर जाते हुये रोकता क्यों नहीं है ? अत: ईश्वरवादियों की प्रत्येक युक्ति यथार्थ से रहित एवं प्रमाण से बाधित है।

ईश्वर न तो लोक का सर्जन करता है, न ही कर्मों का। और न ही लोकगत जीवों के शुभाशुभ कर्मफल का संयोग करता है। लोक तो स्वभावत: स्वयं प्रवर्तित है, चल रहा है।[39]

(3) लोक प्रधानादिकृत है, यह धारणा भी असंगत है

सांख्य दर्शन के अनुसार जगत प्रधानादिकृत है। प्रधान अविकृत है जो कि सत्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था रूप है किन्तु उस अविकृत प्रधान से महत् आदि तत्वों की उत्पत्ति मानना तो विकृति है, इसलिये विकृत प्रधान से महत् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति मानना जैसे सांख्य मत को इष्ट नहीं है, उसी प्रकार अविकृत प्रधान से जगत की उत्पत्ति मानना भी अभीष्ट एवं संगत नहीं हो सकता।[40]

प्रकृति स्त्री है, ऐसा मानने पर यह प्रश्न होता है कि वह मूर्त्त है या अमूर्त्त? यदि अमूर्त्त है, तो उससे जगत के मूर्तिमान् पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि मूर्त्त-अमूर्त्त का परस्पर कार्य-कारणभाव विरूद्ध है। अमूर्त्त आकाश से किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। यदि वह मूर्त्त है, तो स्वयं किससे उत्पन्न हुई ? स्वत: उत्पत्ति कहने पर इस लोक के भी स्वत: उत्पन्न होने की आपत्ति आयेगी। यदि अन्यत: उत्पन्न है, तो अन्य से उस अन्य की उत्पत्ति एवं उस अन्य से उस अन्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जिससे अनावस्था दोष का प्रसंग उपस्थित होगा। अत: जैसे उत्पन्न हुए बिना ही प्रधान (प्रकृति) अनादिभाव से स्थित है, उसी प्रकार लोक को भी अनादि मानने में कोई दोष नहीं हैं।

सांख्यमतवादी प्रकृति को अचेतन कहते है। वह अचेतन प्रकृति चेतन पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने में कैसे समर्थ हो सकती है, जिससे आत्मा का भोग सिद्ध होकर सृष्टि रचना हो सके ?

यदि कहे कि अचेतन होने पर भी प्रकृति का यह स्वभाव है कि वह पुरुष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त होती है, तब तो प्रकृति की अपेक्षा स्वभाव ही अधिक बलवान हुआ जो प्रकृति का नियन्त्रण करता है। यदि ऐसा ही है, तो जगत् का कारण भी स्वभाव ही मानना युक्ति-युक्त होगा, न कि अदृष्ट की कल्पना।

स्पष्ट है कि प्रधान (प्रकृति) जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं हो सकता।

इसी प्रकार कुछ मतवादी स्वभाव एवं नियति आदि को भी जगत का कारण मानते है। जैन दर्शन के अनुसार स्वभाव आदि एकान्त रूप से जगत की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकते किन्तु कथंचित् स्वभाव को जगत का कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यदि स्वभाव का अर्थ-स्व-स्वयं (अपनी), भाव-उत्पत्ति है, तो इस अपेक्षा से स्वभाव को जगत का कारण मानना जैन दर्शन को मान्य है।

नियतिवादियों के अनुसार जगत् एकान्त नियतिकृत है। वह भी दूषित कथन है किन्तु कथंचित् नियति को जगत का कारण माना जा सकता है अथवा सूक्ष्मतया चिन्तन करे तो नियति भी स्वभाव से अतिरिक्त नहीं, क्योंकि जो पदार्थ जैसा है, उसका वैसा होना नियति है।

(4) स्वयंभू रचित लोक की कल्पना भी असत् है

स्वयंभू शब्द का व्युत्पत्यर्थ है - जो अपने आप होता है। प्रश्न होता है कि जो बिना किसी कारण स्वत: होता है, वह स्वयंभू कहलाता है या जो अनादि है वह? यदि अपने आप होने से वह स्वयंभू है, तो लोक को भी अपने आप (स्वयंभू) मानने में क्या दोष है ? यदि स्वयंभू (ईश्वर) अनादि है, तो वह जगत का कर्त्ता नहीं हो सकता क्योंकि जो अनादि होता है, वह नित्य होता है और नित्य पदार्थ सदा एकरूप, अपरिवर्तनशील होता है इसलिये वह नित्य, स्वयंभू ईश्वर जगत का कर्त्ता सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि स्वयंभू वीतराग है, तो वह तटस्थ एवं उदासीन होने से विचित्र लोक की उत्पत्ति नहीं कर सकता। यदि सराग माने तो सामान्य व्यक्ति होने से विश्वकर्त्ता नहीं हो सकता। फिर यदि वह स्वयंभू अमूर्त्त है, तो मूर्तिमान् जगत की रचना उसके द्वारा असम्भव है। और यदि मूर्त है, तो उसके उत्पत्तिकर्त्ता की परम्परा खड़ी होगी, जिससे अनवस्था दोष का प्रसंग आ पड़ेगा।[41] स्वत: सिद्ध है कि जगत् स्वयंभू द्वारा रचित नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(5) मार (यम) द्वारा जगत्कर्तृत्व की मान्यता का खण्डन

स्वयंभू द्वारा मार (यम) की उत्पत्ति की गयी, जो माया द्वारा लोक का संहार करता है, यह भी व्यर्थ का अपलाप है। जब स्वयंभू ही जगत का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता तो यमराज और माया, जो उनकी सन्तानें है, उनका अस्तित्व कहाँ से आयेगा।[42]

(6) अण्डे से जगत की उत्पत्ति भी कपोल कल्पना ही है

अण्डे से जगत की रचना मानना भी असमीचीन है। जब जगत् पंचमहाभूतों से बिल्कुल रहित था, उसमें कोई भी चीज नहीं थी, तब अण्डा कहाँ से आया ? फिर जिस जल में स्वयंभू ने अण्डा उत्पन्न किया, वह जल जिस प्रकार अण्डे के बिना ही उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार लोक को भी अण्डे के बिना उत्पन्न हुआ मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। तथा ब्रह्मा जब तक अण्डा बनाता है, तब तक वह इस लोक को ही क्यों नहीं बना देता ? अत: युक्ति से विरुद्ध अण्डे की टेढी-मेढी कष्टदायी कल्पना का क्या प्रयोजन ?

कुछ प्रावादुकों के अनुसार ब्रह्मा अण्डे के बिना ही सृष्टि की रचना करता है। जैसे ब्रह्माजी के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये है।[43] यह कथन भी अनुभवविरूद्ध है क्योंकि आज तक मुख से किसी की उत्पत्ति नहीं देखी गयी है। यदि ऐसा होने लगेगा तो सभी का उत्पत्ति स्थान ब्रह्मा होने से ब्राह्मणादि (वर्णों) का परस्पर भेद नहीं रहेगा। तथा ब्राह्मणों में भी कठ, तैत्तिरीयक, कलाप आदि भेद नहीं होंगे क्योंकि ये सभी ब्राह्मण एक ही ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होंगे। फिर तो उपनयन, विवाहादि संस्कार भी नहीं हो सकेंगे। बहिन के साथ विवाह की आपत्ति आयेगी। इस प्रकार अनेक दोषभूत होने से ब्रह्मा के मुख आदि अंगों से सृष्टि की उत्पत्ति मानना अनुपयुक्त ही होगा।[44]

लोक का कर्त्ता ईश्वर असिद्ध होने से सुख-दु:ख का कर्त्ता ईश्वर भी असिद्ध है

प्रस्तुत वाद में विभिन्न जगतकर्तृत्ववादियों ने अपने-अपने अभिप्रायानुसार देव, ब्रह्मा, स्वयंभू, ईश्वर, प्रकृति आदि विभिन्न तत्त्वों को जगतकर्त्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है तथा इसे युक्तिपूर्वक स्थापित करने के लिये अनेक आधारहीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तर्क और प्रमाणों को भी बलपूर्वक प्रस्तुत किया है। परन्तु वृत्तिकार ने उन सभी तर्कों को निरस्त कर दिया है। जगत की उत्पत्ति न ब्रह्मा या स्वयंभू द्वारा सम्भव है, न अमूर्त अचेतन और अव्यक्त प्रकृति द्वारा सम्भव है। जगत्कर्तृत्ववाद सम्बन्धी ये सारी परिकल्पनाएँ निरर्थक, प्रमाणबाधित एवं अनुभव से असिद्ध है।

शास्त्रकार ने इसी सन्दर्भ में 'जीवाजीव समाउत्ते सुहदुक्ख समन्निए' इस पाठ द्वारा कृतवादियों के मत को प्रस्तुत किया है कि ईश्वर या प्रकृति जीवाजीव से समन्वित सुख-दु:ख युक्त लोक का निर्माण करते है। जब इस सृष्टि का कोई कर्त्ता सिद्ध नहीं होता, तो जीव के सुख-दु:ख का कोई कर्त्ता कैसे सिद्ध होगा ? शास्त्रकार की दृष्टि में वे मिथ्यावादी तत्त्व के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ है, इसलिये इस प्रकार की प्ररुपणा करते है।

जैन दर्शन में सृष्टिविषयक मान्यता

जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि-अपर्यवसित है। पूर्वोक्त मतवादी इसे किसी न किसी का कार्य मानते है, इस कारण इसे अनित्य, अशाश्वत और विनाशी मानते है, परन्तु जैन दर्शन के अनुसार यह जगत विनाशी या शाश्वत नहीं है। वस्तुत: देखा जाये तो यह लोक द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्य, शाश्वत और अविनाशी है एवं पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य और अशाश्वत है।

भगवान महावीर से शिष्य ने जब सृष्टि के विषय में प्रश्न किया कि भंते ! पहले लोक हुआ या अलोक ? तो भगवान ने उसकी जिज्ञासा को उपशान्त करते हुए कहा- रोह ! लोक और अलोक, दोनों अनादि है। इसमें पौवापर्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है। इसके लिये उन्होंने अण्डे और मुर्गी का उदाहरण दिया।[45] जहाँ हम रहते है, वह लोक है। लोक में आकाश, धर्म, अधर्म, काल, जीव और पुद्गल की सह-स्थिति है।[46] अलोक में मात्र आकाश ही है। द्रव्य (सत्) से परिपूर्ण इस सृष्टि को जैन दर्शन में लोक कहा जाता है। भगवान महावीर ने इस सम्पूर्ण सृष्टि को षट्द्रव्यों से परिव्याप्त बताया है। जैन सिद्धान्तों के प्रकाश में अभेदात्मक अपेक्षा से इस सृष्टि को द्रव्यमय और भेदात्मक दृष्टि से षट्द्रव्यमय कहा जा सकता है।[47]

मूलाचार के अनुसार यह विश्व अनंतानंत सत् का विराट सागर है और अकृत्रिम है। किसी व्यक्तिविशेष या ईश्वर द्वारा रचित नहीं है।[48] सम्पूर्ण जगत्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यात्मक है। इसमें न तो नये सत् का उत्पाद होता है, न प्राप्त सत् का विनाश। यह लोक संसारी एवं सिद्ध दोनों जीवों का स्थान है। अष्ट कर्म से रहित जीव (सिद्ध) इसी लोक के अन्त (लोकान्त) या अग्र (लोकाग्र) भाग में स्थित है। यह लोक उपर से नीचे तक चौदह रज्जू प्रमाण है। इसकी आकृति रंगशाला में कमर पर दोनों हाथ रखकर नाचने के लिये खड़े सिर रहित पुरुष जैसी है, जिसका अधोलोक नीचे मुँह (औंधा मुँह) करके रखे हुए सकोरे के आकार के समान आकार वाले सात नरकों से युक्त है तथा मध्य लोक थाली के समान आकार वाले असंख्यात द्वीप समुद्रों से युक्त है। इसी प्रकार सीधा एवं उल्टा मुँह किये दो सकोरो के समान उर्ध्वभाग उर्ध्वलोक से युक्त है। लोक का सबसे अन्तिम भाग लोकाग्र है, जिसे सिद्धशिला (मुक्त जीवों का स्थान) कहा जाता है। सिद्धशिला इस लोक का अन्तिम भाग है। इसके आगे अलोक है, जिसमें धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल, जीव का सर्वथा अभाव है। मात्र आकाश होने से इसे अलोकाकाश भी कहा जाता है। यह अनन्त प्रदेशी है। यहाँ धर्म, अधर्म का अभाव होने से जीव एवं पुद्गलों में गति एवं स्थिति सम्भव नहीं है।[49]

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार मात्र लोक ही समस्त चराचर जगत का आधार है। इस लोक की न आदि है, न अन्त। यह अनादि काल से विद्यमान है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। इस लोक का न कोई कर्त्ता है, न कोई नियन्ता। यह किसी एक मूल तत्त्व द्वारा निष्पन्न नहीं है। मूल तत्त्व दो है- चेतन एवं अचेतन। ये दोनों ही अपने-अपने पर्यायों द्वारा बदलते रहते है एवं सृष्टि का ह्रास एवं विकास होता रहता है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. (क) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. 41 - देवउत्ते .... देवेहि अयं लोगो कतो, उत्त इति बीजवद् वापितः आदिसर्गे ..... देवगुतौ देवैः पालित इत्यर्थः। देवपुत्तो वा देवैर्जनित इत्यर्थः।

   (ख) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - पृ. 43 देवेनोप्तो देवोप्त, कर्षकेणेव बीज वपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्यर्थः, देवैर्वा गुप्तो- रक्षितो देवगुप्तो देव पुत्रो वा।

2. (क) छान्दोग्योपनिषद् अ. - 5 खण्ड - 12 से 18 तक

   (ख) एतरेयोपनिषद् - प्रथम खण्ड

3. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 42, तथा ब्रह्मणाउप्त ब्रह्मोप्तोऽयं लोक इत्यपरे एवं व्यवस्थिताः, तथाहि तेषामयमभ्युपगमः- ब्रह्मा जगत्पितामहः, स चैक एव जगदादावासीत्तेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

च प्रजापतयः सृष्टाः तैश्च क्रमेणैतत्सकालं जगादिति।

4. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. 41 - एवं बंभउत्ते वि तिण्णि विकप्पा भणितव्वा-बंभउत्त बंभगुत्त बंभपुत्त इति वा।

5. (अ) तैत्तिरीयोपनिषद् ॥-6
(ब) प्रश्नोपनिषद् - प्रश्न - 1, श्लो. 4
(स) बृहदारण्यकोपनिषद् - 1, 4/3, 4, 7
(द) छान्दोग्योपनिषद् 6/23-4, 6/3/2-3

6. मनुस्मृति - 1, 32-41

7. मुनस्मृति - 1 - 74-78

8. मुण्डकोपनिषद् - 1/1/7
यथोर्णनाभिसृजते गृह्यते च यथा पृथिव्या
यथा सतः पुरूषात् केश लोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥

9. तैत्तिरीयोपनिषद् - 3 भृगुवल्लि
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति॥

10. श्वेताश्वतरोपनिषद् , अ. 3/7

11. बृहदा. अ-2, ब्रा. 3/1
द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च,
मर्त्यं चामृतं च, स्थितं च यच्च त्यच्च।

12. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 42
ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्।

13. स्याद्वादमंजरी - गाथा - 6
कर्तास्तिकश्चित् जगतः स चैकः सः सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमा कुहेवाक विडम्बना स्युरस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्॥

14. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 43

15. सूत्रकृतांग सूत्र - 2, 1/11

16. इसिभासियाइं - अ, 22, पृ. 43

17. सांख्यकारिका - सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

18. सांख्यकारिका श्लो. 22
प्रकृतेर्महांस्ततोहङ्काररस्तस्माद् गुणश्च षोडषकः।
तस्मादपि षोडषकात् पञ्चभ्य पञ्चभूतानि॥

19. सांख्यसूत्र - 1/67 मूले मूलाभावादमूलं मूलम्।

20. सांख्यकारिका श्लो. - 3 -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृति विकृतय: सप्त।
षोडकस्तु विकारो न प्रकृति र्न विकृति: पुरूष:॥

21. भगवद्गीता, अ. 13/19 : प्रकृतिं पुरूषं चैव विद्ध्यनादीउभावपि।
22. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 41 मह ऋषि नाम स एव ब्रह्मा अथवा व्यासादयो महर्षय:।
23. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 43 - स्वयम्भू: विष्णुरन्यो वा।
24. भगवद्गीता -जले विष्णु: स्थले विष्णुर्विष्णु पर्वतमस्तके।
ज्वालामाकुले विष्णु:, सर्व विष्णुमयं जगत्॥
पृथिव्या मप्यहं पार्थ ! वायवग्नौ जलेस्म्यहम्।
सर्वभूतगतश्चाहं, तस्मात् सर्वगतो स्म्यहम्॥
25. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 43
26. वही - स्वयंभुवा लोक निष्पाद्यातिभारभचाद्यमाख्यो मारयतीति मारो व्यधायि, तेन मारेण 'संस्तुता' कृता प्रसाधिता माया, तया च मायया लोका म्रियन्ते।
27. महाभारत, द्रोणपर्व - अध्याय - 53
28. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 41
29. वही
30. वही
31. वही
32. वही पृ. 42
33. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 43
34. मनुस्मृति अ. 1, श्लोक - 9/12-15
35. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - पत्र - 43 : किम सौ देव उत्पन्नोऽनुत्पन्नो वा लोकं सृजेत ? न तावदनुत्पन्नस्तस्य खर-विषाणस्येवासत्वात्करणाभाव:, अथोत्पन्न सृजेत्तत्किं स्वतोऽन्यतो वा ? यदि स्वत एवोत्पन्नस्तथा सति तत्लोकस्यापि स्वत एवोत्पत्ति: किं नेष्यते ? अथान्यत उत्पन्न सन् लोककरणाय, सोऽप्यन्योऽन्यत: सोऽप्यन्तोऽन्यत इत्येवं मनवस्थालता नभोमण्डलव्यापिन्यनिवारित प्रसरा प्रसर्पतीति।
36. वही : अथासौ देवोऽनादित्वान्नोत्पन्न इत्युच्यते, इत्येवं सति लोकोप्यनादिरेवास्तु, को दोष: ? किंच - असावनादी: सन्नित्योऽनित्यो वा स्यात् ? यदि नित्यस्त-दा तस्य क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधान्न कर्तृत्वम्, अथनित्यस्था सति स्वत एवोत्पत्यनन्तरं विनाशित्वादात्मनोऽपि न त्राणाय, कुतोऽन्यत्करणं प्रति तस्य व्यापार चिन्तेति ?
37. वही - अन्यथा कुम्भकारेण मृद्विकारस्य कस्यचित्। घटादे: करणात्सिद्धयेद्वल्मीकस्यापि तत्कृति:॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

38. वही, : प. 44 - शस्त्रोषद्यादिसम्बन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे।
असम्बद्धस्य किं स्थाणोः कारणत्त्वं न कल्प्यते॥

39. भगवद्गीता, अ. - 5 श्लोक - 14 :
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

40. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 44, सत्वरजसतमसां साम्यावस्था प्रधानमित्युच्यते, न चाविकृतात्प्रधानान्महदादेरूत्पत्तिरिष्यते भवव्यः, न च विकृतं प्रधानव्यपदेश मास्कन्दतीत्यतो न प्रधानान्महदादेरूत्पत्तिरिति।

41. वही

42. वही

43. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत बाहू राजन्य कृतः।
उरूतदस्य यद् वैश्यः पदभ्यो शूद्रोऽजायात॥

44. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र, पृ. - 45

45. भगवती सूत्र, - 1-6

46. उत्तराध्ययन सूत्र, 36-2 : जीवा चेव अजीवाय एस लोगे वियाहिए।

47. प्रमाण न. 7-20 : धर्माधर्माकाश .....दित्यादिर्यथा

48. (अ) मूलाचार, 712 : लोगो अकिट्ठिमो खलु
(ब) द्रव्यविज्ञान, पृ. 18

49. (अ) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र, 15
(ब) First step to Jainism, Part - 1, Page No. - 9

10. अवतारवाद

सूत्रकृतांग सूत्र में विभिन्न वादों के प्रस्तुतीकरण के क्रम में अवतारवाद का भी निरूपण हुआ है। प्रथमश्रुतस्कन्ध में अवतारवाद का निरूपण है, जिसे चूर्णिकार ने त्रैराशिक सम्प्रदाय का अभिमत माना है।[1] परन्तु वृत्तिकार इसे गोशालक का मत बताते है।[2] आचार्य हरिभद्र ने भी त्रैराशिक का अर्थ आजीवक सम्प्रदाय किया है।[3] इस प्रकार पूर्वोक्त कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोशालक आजीवक मत के आचार्य थे।

त्रैराशिक का अर्थ है - जो मत या वाद सर्वत्र तीन राशियाँ मानता है - जीव राशि, अजीव राशि और नो जीव राशि। यहाँ शास्त्रकार ने त्रैराशिकों के मतानुसार आत्मा की तीन राशियों का कथन किया है, जो इस प्रकार है-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. राग-द्वेष सहित कर्मफल से अशुद्ध आत्मा की अवस्था।
2. शुद्ध आचरण द्वारा निष्पाप होकर विशुद्ध अवस्था प्राप्त कर मुक्ति में पहुँच जाना।
3. विशुद्ध आत्मा का क्रीड़ा, राग अथवा प्रद्वेष के कारण पुन: कर्ममल से लिप्त हो जाना।

इस अवस्थात्रय की मान्यता के कारण ये त्रैराशिक कहलाते है। चूर्णिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में त्रैराशिक मत की मान्यता को इस प्रकार व्याख्यायित किया है -

कोई जीव मोक्ष प्राप्त कर लेने पर भी अपने धर्म तथा शासन की पूजा और अन्यान्य धर्मशासनों की अपूजा देखकर मन ही मन प्रसन्न होता है और अपने शासन की अपूजा देखकर अप्रसन्न भी होता है। इस प्रकार सूक्ष्म और आन्तरिक राग-द्वेष के वशीभूत होकर पुन: मनुष्य भव में जन्म लेता है। जैसे - स्वच्छ जल पुन: सरजस्क, मलिन हो जाता है, वैसे ही राग-द्वेष रूपी रज से मलिन होकर आत्मा पुन: संसार में अवतरित होता है। मनुष्य जीवनकाल में प्रव्रज्या ग्रहण कर संवृतात्मा श्रमण होकर मुक्त हो जाता है और फिर से मलिन होकर संसार में अवतरित होता है। यह क्रम चलता ही रहता है। प्रस्तुत प्रसंग में क्रीड़ा का अर्थ मानसिक प्रसन्नता या राग तथा प्रदोष का अर्थ द्वेष है। इस सन्दर्भ में वृत्तिकार और चूर्णिकार का मत भी अभिन्न ही है।[4]

बौद्धधर्म के एक सम्प्रदाय में तथा कुछ अन्य वैष्णवादि सम्प्रदायों में भी इस प्रकार की मान्यता स्वीकृत है। बौद्धों का कथन है कि सुगत (बुद्ध) आदि देव मोक्षावस्था को प्राप्त करके भी अपने शासन का लोप या तिरस्कार देखकर उद्धारार्थ संसार में पुन: अवतरित होते है।[5]

वैदिक धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ भगवद्गीता में धर्म का ह्रास और अधर्म का उत्थान होने पर मुक्तात्मा के संसार में पुन: अवतरित होने का स्पष्ट उल्लेख है।

'जब-जब संसार में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होने लगती है, तब-तब मैं (मुक्तात्मा) ही अपने रूप का सृजन करता हूँ। साधु पुरुषों की रक्षा, दुष्कृत का नाश तथा धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में जन्म (अवतार) लेता हूँ।' इस कथन में मुक्ति से संसार में पुनरागमन स्पष्टतया व्यक्त होता है।[6]

सूत्रकार मुक्त आत्मा के संसार में अवतरित होने के दो कारणों का उल्लेख करते है- क्रीड़ा एवं प्रदोष। अवतारवादियों के अनुसार क्रीड़ा का अर्थ लीला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। वे कहते है कि भगवान सज्जनों की रक्षा एवं दुर्जनों का संहार करने रूप लीला करते है। ऐसे समय में जब वे दुष्टों का नाश करते है, तब अपने भक्त की हर सम्भव रक्षा करते है। ऐसा करते समय उनमें एक के प्रति राग एवं दूसरे के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक है। इसलिये पुनरागमन का कारण यहाँ 'कीड़ापदोसेणं' पद द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

अवतारवाद का खण्डन

शास्त्रकार ने अवतारवादियों के मत को मिथ्या एवं युक्तिरहित बताया है। एक बार जो आत्मा कर्मरज से रहित होकर विशुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उसके लिए संसार में पुन: आगमन कैसे सम्भव है? क्योंकि प्रत्येक कार्य किसी न किसी कारण से ही उत्पन्न होता है, यह न्याय वाक्य है। जिन मुक्तात्माओं के मिथ्यादर्शनादि कर्मबंध के कारण सम्पूर्णत: समाप्त हो चुके है एवं विशुद्ध, ज्योतिर्मय आत्मस्वरूप प्रकट हो चुका है, वे पुन: किस कारण से कर्मरज से युक्त होकर संसार में अवतरित होते है ? यदि मुक्तात्मा का संसार में पुनरागमन माना जाये तो कई दोषापत्तियाँ आयेगी।

1. आत्मा की पूर्ण विशुद्धि रूप अन्तिम मुक्ति का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा क्योंकि आत्मा जब वहाँ से पुन: संसार में लौटती है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि या तो वह पूर्ण रूप से मुक्त हुआ नहीं है या पूर्ण कर्मक्षय रूप अन्तिम मोक्ष नाम का कोई स्थान ही नहीं है।

2. मुक्तात्मा को जब संसार में पुन: आना ही है तो वह गया ही क्यों ? यदि ऐसा कहे कि संसार में सज्जनों की रक्षा एवं दुष्टों के त्रास को समाप्त करने की करूणामयी भावना से प्रेरित होकर ही वह संसार में आता है। तो यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि संसार सदैव दु:ख एवं क्लेश से परिपूर्ण है, था और रहेगा। ऐसा कोई भी समय न आया, न आयेगा जब संसार पूर्णतया दु:ख और क्लेश से रहित, सुखी हो जाये। जब वह मुक्ति में गया था, तब क्या इस जगत में दु:खों का अभाव हो गया था ? यदि दु:खाभाव हो चुका था तो पुन: उसका सद्भाव किससे और कैसे हो गया, जिसे दूर करने हेतु उसे अवतार लेना पड़ा ?

3. अवतारवादियों की यह मान्यता कार्य-कारणभाव सिद्धान्त के भी विरूद्ध है। जिस आत्मा के कर्मबीज सर्वथा जल चुके है, वह आत्मा पुन: कर्मयुक्त कैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकती है ? जिस प्रकार बीज के जल जाने पर, नष्ट हो जाने पर उस का अंकुरित होना असम्भव है, उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के नष्ट हो जाने पर संसार रूप अंकुर का फूटना, पुन: जन्म लेना पूर्णतया असम्भव है।[7]

4. मुक्तात्मा के पुन: संसार में आने से संसार तथा मोक्ष एवं संसारी एवं मुक्त आत्मा में कोई अन्तर नहीं रहेगा। मोक्ष एवं मुक्त आत्मा के अस्तित्व पर भी प्रश्न चिह्न लग जायेगा क्योंकि गीता में कहा है -

यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।

जहाँ जाकर जीव पुन: नहीं लौटते, वह मेरा (परमात्मा) परमधाम (सिद्ध गति नामक स्थान) है।

5. इस संसार में जप-तप-ध्यान-साधना आदि जितनी भी क्रियाएँ की जाती है, इन सबका अन्तिम उद्देश्य कर्म मुक्ति और मोक्ष प्राप्ति ही है। यदि राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि कषाय मल से सर्वथा मुक्त होने पर भी आत्मा पुन: उन्हीं में लिप्त हो जाये तो फिर सारी धर्मक्रियाएँ व्यर्थ हो जायेगी।

6. अवतारवादी ऐसा स्पष्ट मानते है कि मुक्त जीव राग-द्वेष से रहित है। फिर राग-द्वेष रहित व्यक्ति के लिये स्वशासन या परशासन का भेद कहाँ रहा जाता है ? जो सारे संसार को एकत्व, आत्मौपम्य की दृष्टि से देखता है, वहाँ अपने-पराये का भेद हो ही नहीं सकता। जिसकी आसक्ति, अहंता, ममता आदि सारी अशुभप्रवृत्तियाँ नष्ट हो चुकी है, जो राग-द्वेष रूप समस्त कर्मसमूह का क्षय कर चुके है, जो सम्पूर्ण संसार और समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानते है, निन्दा और स्तुति में जिनकी तुल्यवृत्ति है, ऐसे शुद्ध, निष्पाप आत्मा में न अपने का कोई मोह है, न पराये का कोई द्वेष। फिर वे अपने भूतपूर्व शासन के उत्थान-पतन का विचार कैसे कर सकते है ?[8]

स्वअनुष्ठान से ही मुक्ति

अवतारवाद के विश्लेषण के साथ शास्त्रकार ने विभिन्न मतवादियों की मनोवृत्ति का परिचय भी दिया है, जो एकान्त आग्रह रखते हुए स्वयं के मत में ही सिद्धि प्राप्त होने का दावा करते है। 'सए सए उवट्ठाणे सिद्धिमेव न अन्नहा' अर्थात् 'मनुष्य हमारे मत में प्रतिपादित अनुष्ठान करने से ही मुक्ति को प्राप्त करता है, अन्य प्रकार से नहीं।' तात्पयार्थ यह है कि कई दार्शनिक एकान्त ज्ञान से या क्रियाकाण्ड से अथवा अष्ट भौतिक ऐश्वर्य प्राप्ति से या अन्य लौकिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं यौगिक उपलब्धियों से सिद्धि की प्राप्ति मानते है और इस प्रकार स्वमत की प्रशंसा करते हुए उसी में आसक्त एवं ग्रस्त रहते है।[9]

जैन दर्शन में सिद्धि का स्वरूप

जैन दर्शन में शिव, अचल, अरूज, अनन्त, अक्षय, अव्यावाध, अपुनरावृत्ति (संसार में पुनरागमन से रहित) रूप सिद्धिगति का स्वरूप प्रतिपादित है। यहाँ अपुनरावृत्ति शब्द के उल्लेख से अवतारवाद का खण्डन हो जाता है।[10] सिद्धिगति वह है, जहाँ जाने के बाद आत्मा पुन: संसार में नहीं लौटता। जो प्रावादुक इस प्रकार का कथन करते है, वे युक्ति और प्रमाण से रहित कपोल कल्पना का ही सहारा लेते है। वे भ्रामक धारणाओं से इतने ग्रस्त होते है कि आत्मा की उर्ध्वगामिता को भी विस्मृत कर जाते है, क्योंकि जो आत्मा चरम उत्कर्ष पर पहुँच गयी, उसका पुन: पतन कैसे सम्भव होगा ? जैनदर्शन के अनुसार जीव द्रव्य का स्वभाव उर्ध्वगतिशीलता है, ऊँचा उठना है। जब तक प्रतिबंधक द्रव्य का संग या बंधन विद्यमान रहता है, तभी तक वह तिरछी या नीची दिशा में गति करता है। ज्योंहि कर्म का आत्यन्तिक क्षय होता है, तो जीव अपने स्वभावानुसार उर्ध्वगति ही करता है। यहाँ उर्ध्वगति के लिये तुम्बे और एरण्ड का उदाहरण भी दिया गया है। जैसे - अनेक लेप से युक्त तुम्बा पानी में पड़ा रहता है, परन्तु लेप रहित होते ही वह स्वभावत: पानी के ऊपर तैरने लगता है। एरण्ड बीज फली के फुटते ही छिटककर ऊपर उठता है, उसी प्रकार आत्मा जब कर्म के लेप से रहित होता है, तो अग्नि की लौ की तरह उर्ध्वगमन ही करता है।[11]

तर्कसम्राट् आचार्य सिद्धसेन ने अवतारवादियों की मोहवृत्ति को उजागर करते हुए कहा है -

दग्धेन्धन पुनरूपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारित भीरू निष्ठम्।
मुक्त: स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरम, त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम्॥

'हे वीतराग प्रभो ! आपके शासन को ठुकारने वाले व्यक्तियों पर मोह का प्रबल साम्राज्य छाया हुआ है। वे कहते है कि जिन आत्माओं ने कर्मरूपी ईंधन को जलाकर संसार का नाश कर दिया है, वे भी मोक्ष को छोड़कर पुन: संसार में अवतरित होते है। स्वयं मुक्त होते हुए भी शरीर धारण करके पुन: संसारी बनते है। केवल दूसरों को मुक्ति दिलाने में शूरवीर बनकर वह कार्य-कारण सिद्धान्त का विचार किये बिना ही लोक भीरू बनते है। यह है अपनी आत्मा का विचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किये बिना ही दूसरों की आत्माओं का उद्धार या सुधार करने की मूढता।'[12]

समीक्षा

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अवतारवाद की मान्यता निर्मूल और आधारहीन है। इसलिये शास्त्रकार महर्षि इन अवतारवादियों तथा जो स्वकल्पित सिद्धि में ही मुक्ति की प्राप्ति मानते है एवं उसी की प्रशस्ति करते हुए अपने आशय में आसक्त है, उनके एकान्त आग्रह को मिथ्यात्व से ग्रस्त मानते है। ये तथाकथित लौकिक सिद्धिवादी वास्तविक सिद्धि से दूर होकर अनादि संसार में अनन्तकाल तक विविध योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के 15वें आदान अध्ययन की 7वीं गाथा में भी अवतारवाद का इसी प्रकार खण्डन किया गया है कि जो पुरुष कोई कर्म नहीं करता, उसके नवीन कर्मों का बंध नहीं होता। वह पुरुष अष्टविध कर्मों को जानकर ऐसा पुरुषार्थ करता है, जिससे वह न तो कभी संसार में जन्म लेता है, न कभी मरता है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 43 : तेरासिइया इदाणिं ते वि कडवादिनो चेव।*
2. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र 45 : त्रैराशिका गोशालक मतानुसारिणः।*
3. *(अ)नंदिहरिभद्रीया वृत्ति पृ. - 87 : त्रैराशिकाश्चाजीविका एवोच्यन्ते।*
   (ब) समवायांगवृत्ति अभयदेवसूरि पृ.- 130 : ते एव च आजीवकास्त्रैराशिका भणिताः॥
4. *(क) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 43 : स मोक्ष प्राप्ततोऽपि भूत्वाकीलावणप्पदोसेण रजसा अवतास्ते। तस्य हि स्वशासन पुण्यमानं दृष्टवा अन्यशासनान्य पूज्य मानानि च क्रीड़ा भवति, मानस प्रमोद इत्यर्थ, अपूज्यमाने व प्रदोषः निर्मलपटवदुप भुज्यमानः कृष्णानि कर्माण्युपचित्य स्व गौरवात्तेन रजसाऽवतार्यते।*
   (ख) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 46
5. *ज्ञानिनो धर्म तीर्थस्य कर्त्तारः परमं पदम्।*
   गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः॥
6. *श्रीमद् भगवद्गीता अ. 4/7-8 :*
   यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
   अभ्युत्थानं अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥7॥
   परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
   धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥8॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. तत्वार्थराजवार्तिक भाग - 2, अ. 10, सूत्र - 2
दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुर॥

8. (क) ईशोपनिषद् :
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्वमैवाभूद् विजानतेः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ?॥9॥
(ख) भगवद्गीता अ. 13/19 : तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी सन्तुष्टो येन केन चित्॥

9. (क) शैव : दीक्षातः एव मोक्षः
(ख) सांख्य 'पंचविंशतितत्वज्ञो ..... मुच्यते नात्र संशय'
(ग) वैशेषिक (प्रशस्तवाद भाष्य) 'नवानामात्मगुणानामुच्छेदो मोक्षः।'
(घ) वेदान्तदर्शन - ऋते ज्ञानान्नः मुक्ति।
(च) अमरकोश - अणिमा महिमा चेव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिप्राकाम्यमीशित्वं, वशित्वं चाष्ट सिद्धय।

10. ललित विस्तरा

11. तत्वार्थ राजवार्तिक, अ. -10, सू. 6/7

12. सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका।

11. लोकवाद

सूत्रकृतांग सूत्र में उस युग में बहुचर्चित लोकवाद की भी मीमांसा की गयी है।[1] इसमें उस युग में प्रचलित पौराणिक मान्यताओं का उल्लेख इस प्रकार हुआ है-

'इस जगत् में कुछ लोगों का ऐसा कथन है कि 'लोकवाद- पौराणिक कथा या सिद्धान्त को सुनना चाहिए। जो कि विपरीत प्रज्ञा से उत्पन्न है तथा अन्यों द्वारा उक्त अर्थ का अनुसरण करता है।'

'कुछ लोग ऐसा मानते है कि यह लोक अनन्त, नित्य और शाश्वत है, उसका कभी विनाश नहीं होता। किन्तु कुछ (व्यास) धीर पुरुषों का यह कथन है कि यह लोक नित्य होने पर भी सान्त, परिमित है।'

'इस लोक में किन्हीं पौराणिकों का यह मन्तव्य है कि ईश्वर या अवतार अतीन्द्रिय पदार्थों का द्रष्टा होने से सीमातीत (अनन्त) पदार्थों को जानता अवश्य है किन्तु सर्वक्षेत्र-काल में पदार्थों का ज्ञाता, सर्वज्ञ नहीं है। वह परिमित पदार्थों का ज्ञाता पुरुष है, ऐसा धीर पुरुष का अतिदर्शन है।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत श्लोक में सूत्रकार ने लोकवाद को सुनने और जानने का निर्देश किया है। लोकवाद के दो अर्थ है -[2]

1. अन्य तीर्थिकों तथा पौराणिकों के लोक सम्बन्धी विचार।

2. लोकमान्यता- अन्य तीर्थिकों की धार्मिक मान्यता।

'लोक' शब्द के तीन अर्थ किये जा सकते है - जगत्, पाषण्ड और गृहस्थ। यहाँ इसका प्रथम अर्थ प्रासंगिक प्रतीत होता है। चूर्णिकार ने पाषण्ड तथा गृहस्थ ये दो अर्थ मान्य किये है।[3] जबकि वृत्तिकार ने पाषण्ड तथा पौराणिक ये दो अर्थ प्रस्तुत किये है।[4] चूर्णिकार ने लौकिक मत को कुछ उदाहरणों द्वारा समझाया है।[5] जैसे - सन्तानहीन का लोक नहीं होता। जो पुत्रहीन है, उसकी गति नहीं होती, स्वर्ग तो कदापि नहीं मिलता। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।' गाय को मारने वाले का लोक नहीं होता। इस मत के अनुसार 'ब्राह्मणो हि देवता' ब्राह्मण को देवता, 'श्वानो यक्षा:' कुत्ते को यक्ष तथा कौओं को पितामह माना जाता है।

लोकवाद का प्रारम्भ

शास्त्रकार ने लोकवाद को चर्चा का विषय बनाया है, इससे यह अनुमान होता है कि भगवान महावीर के उस युग में पूरणकश्यप, मंखली गोशालक, अजित केशकंबल, पकुद्ध कात्यायन, गौतम बुद्ध एवं संजय वेलट्ठिपुत्त आदि कई तथाकथित तीर्थंकर एवं सर्वज्ञ माने जाते थे तथा वैदिक पौराणिकों में व्यास, बादरायण, भारद्वाज, पाराशर, हारीत, मनु आदि भी थे, जिन्हें जनमानस सर्वज्ञाता के रूप में मानता था। उनसे अगम-निगम की, लोक-परलोक की, प्राणी के मरणोत्तर अवस्था की तथा प्रत्यक्ष दृश्यमान सृष्टि (लोक) की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय की चर्चाएँ होती। जो व्यक्ति युक्तिपूर्वक जनमानस में अपनी बात बिठा देता, उसे अन्धविश्वासपूर्वक अवतारी, सर्वज्ञ या पुराणपुरुष मान लिया जाता। कई बार ऐसे लोग अपने अन्धविश्वासी लोगों में ब्राह्मण, कुत्ता, गाय आदि प्राणियों के सन्दर्भ में अपनी सर्वज्ञता प्रमाणित करने के लिये आश्चर्यजनक, विसंगत एवं विचित्र मान्यताएँ फैला देते थे।

लोकवाद की विचित्र मान्यताएँ

किन्हीं का यह मत है कि 'अणंते निइए लोए' लोक अनन्त है। वृत्तिकार ने अनन्त के दो अर्थ किये हैं - अनन्त अर्थात् जिसका निरन्वय नाश नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तात्पर्य यह है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति तथा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी प्राणी है, उनका सम्मिलित रूप ही लोक है। इस लोक का कभी निरन्वय नाश नहीं होता। अन्वय अर्थात् वंश (नस्ल)। जिस वंश का कभी भी विनाश नहीं होता, वह निरन्वय है। स्पष्ट है कि इस जन्म में जो जैसा है, वह परलोक में भी, यहाँ तक कि सदाकाल के लिये वैसा ही उत्पन्न होता है। पुरुष, पुरुष ही होता है, स्त्री, स्त्री ही होती है।[6]

अथवा अनन्त का दूसरा अर्थ यह भी सम्भव है कि अपरिमित, अवधिशून्य लोक की कालकृत कोई अवधि नहीं है। यह तीनों कालों में विद्यमान रहता है।[7]

वृत्तिकार ने किसी भी मत का उल्लेख न करते हुए लिखा है कि यह लोक शाश्वत है अर्थात् बार-बार उत्पन्न नहीं होता। सदैव वर्त्तमान रहता है। यद्यपि द्वयणुक आदि कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति की दृष्टि से यह शाश्वत नहीं है तथापि कारणद्रव्य परमाणु रूप से इसकी उत्पत्ति कदापि नहीं होती, इसलिये यह शाश्वत है। उनके अनुसार काल, दिशा, आकाश, आत्मा और परमाणु आदि का कभी विनाश नहीं होता।[8] इस सांख्यमत का उल्लेख है।

चूर्णिकार के अनुसार सांख्यमतावलम्बी लोक को अनन्त और नित्य मानते है। यह लोक नित्य है अर्थात् उत्पत्ति-विनाश रहित, सदैव स्थिर, एक सरीखे स्वभाव वाला है। क्योंकि उनके द्वारा सम्मत 'पुरुष' तत्व सर्वव्यापी, कुटस्थ नित्य और अपरिणमनशील है।[9]

किन्हीं पौराणिकों के अनुसार 'अंतवं णिइए लोए' यह लोक अन्तवान् है अर्थात् जिसका अन्त होता है, या जो ससीम है। पौराणिक यह मानते है कि क्षेत्रोपेक्षया यह लोक सात द्वीप और सात समुद्र परिमाण वाला है। वह काल की दृष्टि से नित्य है क्योंकि प्रवाह रूप से आज भी दिखायी देता है।[10]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि लोक के विषय में लोकवादियों की परस्पर विरोधी मान्यताएँ है। कोई लोक को नित्य, अनन्त और शाश्वत् कहता है, तो कोई उसे नित्य होने पर भी सान्त कहता है। इस प्रकार के विरोधी मन्तव्य व्यासादि धीर पुरुषों का अतिदर्शन है।

अतिदर्शन से तात्पर्य है कि वस्तु स्वरूप को देखने का अतिक्रमण। अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उसे वैसे ही स्वरूप में न देखना। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का दर्शन उसी को हो सकता है, जिसकी दृष्टि सम्यक् हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकवादियों की ईश्वर के सर्वज्ञत्व विषयक युक्तिविरूद्ध धारणाएँ

शास्त्रकार ने लोकवाद के सन्दर्भ में ईश्वर की सर्वज्ञता सम्बन्धी पौराणिक मान्यताओं को भी प्रस्तुत किया है। यहाँ सर्वज्ञवादी दो प्रकार का अभिमत प्रस्तुत करते है -

1. ईश्वर (सर्वज्ञ) अनन्त, अपरिमित पदार्थों को जानता है, अत: अनन्त ज्ञान का धारक है। वह अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञाता है। उसका ज्ञान सर्वत्र अप्रतिहत होता है।

2. ईश्वर अपरिमित पदार्थों का ज्ञाता अवश्य है परन्तु वह सर्वज्ञ नहीं है। वह तिर्यग्, उर्ध्व और अधोलोक को क्षेत्र और काल की दृष्टि से परिमित रूप में ही जानता है।[11]

वृत्तिकार ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है- कुछ मतावलम्बियों के अनुसार कोई सर्वज्ञ नहीं होता। अतीन्द्रियद्रष्टा ऋषि क्षेत्र की दृष्टि से अपरिमित क्षेत्र को, काल की दृष्टि से अपरिमित काल को जानते है। अपरिमित का दूसरा तात्पर्य है- आवश्यक तत्त्वों के ज्ञाता ऋषि अतीन्द्रिय दृष्टा है अर्थात् अतीन्द्रिय दृष्टा तथाकथित तीर्थंकर अपरिमित ज्ञानी होकर भी जो अतीन्द्रिय पदार्थ उपयोगी हो, किसी प्रयोजन में आते हो, उन्हीं को जानते है। जैसे कि आजीवक मतानुयायी अपने तीर्थंकर मंखली गोशालक के विषय में कहते है -[12]

तीर्थंकर सभी पदार्थों को देखे या न देखे, जो अभीष्ट या मोक्षोपयोगी पदार्थ है, उन्हें देख ले, इतना ही काफी है। कीड़ों की संख्या जानने से हमें क्या प्रयोजन ? अर्थात् कीड़ों की संख्या का ज्ञान निरर्थक है। उस ज्ञान से किसी का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

'अतएव हमें उसके (तीर्थंकर) अनुष्ठान सम्बन्धी या कर्त्तव्याकर्त्तव्य सम्बन्धी ज्ञान का ही विचार करना चाहिए। अगर दूरदर्शी को ही प्रमाण मानेंगे तो फिर हम उन दूर-दूर तक देखने वाले गिद्धों के उपासक माने जायेंगे।[13]

यह मत सर्वज्ञ को पूर्ण ज्ञाता न मानने वाले अन्यतीर्थिकों का है। इसी आशय से शास्त्रकार ने इस गाथा के उत्तरार्ध में 'सव्वत्थ सपरिमाणं' पद प्रयुक्त किया है।

अथवा दूसरा मत यह है कि समस्त देश कालों में स्थित पदार्थ समूह परिमाण युक्त है, परिमित है, अत: क्षेत्र और काल की दृष्टि से परिमित को ही जाना जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकार ने इस गाथा के पूर्वार्ध में पौराणिक मान्यता को प्रदर्शित किया है, वहीं उत्तरार्ध में आजीवकों के मान्य तीर्थंकर की ज्ञान सीमा बताई है। अथवा अन्य प्रकार से देखा जाय तो सम्पूर्ण गाथा में पौराणिक मत का ही प्ररूपण है। पुराण के अनुसार ब्रह्माजी का एक दिन चार हजार युगों का होता है और रात्रि भी इतनी ही होती है।[14] ब्रह्माजी दिन में जब पदार्थों की सृष्टि करते है, तब उन्हें सभी पदार्थों का अपरिमित ज्ञान होता है, किन्तु रात में जब वे सोते है, तो उन्हें परिमित ज्ञान भी नहीं होता। इस प्रकार परिमित अज्ञान होने के कारण उनमें ज्ञान और अज्ञान दोनों की सम्भावना परिलक्षित होती है। अथवा वे कहते है- 'ब्रह्माजी एक हजार दिव्य वर्ष सोये रहते है, उस समय वे कुछ भी नहीं देखते और जब उतने ही काल तक वे जागते है, तब वे देखते है।'[15]

इस प्रकार बहुत से लोकवाद प्रचलित है।

लोकवाद का खण्डन

शास्त्रकार ने लोकवाद की मिथ्या मान्यताओं का खण्डन किया है। कुछ दार्शनिक लोक को नित्य मानते हुए कहते है कि 'त्रस प्राणी सदैव त्रस ही रहते है तथा स्थावर प्राणी सदैव स्थावर ही रहते है। त्रस कभी स्थावर नहीं होते तथा स्थावर कभी त्रस नहीं होते। पुरुष मरकर पुरुष ही होता है और स्त्री मरकर स्त्री ही बनती है।' परन्तु लोकवादियों का यह कथन सर्वथा असत्य है।

आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर ने स्पष्टत: इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि स्थावर पृथ्वीकायादि जीव त्रस द्वीन्द्रियादि के रूप में उत्पन्न हो जाते है और त्रस जीव स्थावर के रूप में उत्पन्न हो जाते है। अथवा संसारी जीव सभी योनियों में उत्पन्न हो सकते है। अज्ञानी जीव अपने-अपने कर्मों से पृथक्-पृथक् रूप रचते है।[16]

यदि लोकवाद सत्य हो कि जो प्राणी इस जन्म में जैसा है, अगले जन्म में भी वैसा ही होता है, तब तो तप-जप-यम-नियम-संयम आदि समस्त अनुष्ठान व्यर्थ हो जायेंगे। यदि सामान्य गृहस्थ भवान्तर में भी गृहस्थ ही बनेगा तो देवगति या उच्चगति के लिये क्यों कोई साधना या तपस्या करेगा ? क्योंकि उस शुभानुष्ठान से तो कुछ भी परिवर्तन होना नहीं है।

लोकवादी एक तरफ लोक को कूटस्थ नित्य मानते है परन्तु दूसरी तरफ जीवों का एक पर्याय से दूसरी पर्याय में उत्पन्न होना मानकर अपनी ही बात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का खण्डन करते है।

स वै एष शृगालो जायते यः सपुरीषो दह्यते।

अर्थात् वह पुरुष शृगाल (सियार) होता है, जो विष्ठा सहित जलाया जाता है।[17]

तथा -

गुरुं तुंकृत्य हुंकृत्य, विप्रान्निर्जित्य वादतः।
श्मसाने जायते वृक्षः, कंक गृध्रोपसेवितः॥

अर्थात् जो गुरु के प्रति तुं या हुं कहकर अविनयपूर्ण व्यवहार करता है, तथा ब्राह्मणों को वाद में पराजित कर देता है, वह मरकर श्मसान में वृक्ष होता है, जो कंक, गिद्ध आदि नीच पक्षियों के द्वारा सेवित होता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि त्रस एवं स्थावर प्राणियों का अपने-अपने कर्मानुसार पर्याय परिवर्त्तन होता रहता है। इसी तथ्य को स्मृतिकार ने भी स्वीकार किया है।[18]

'वे मनुष्य शरीर से होने वाले कर्मदोषों के कारण स्थावर बन जाते है, वे अन्दर सुषुप्त प्रज्ञावान् तथा सुख-दुःख से युक्त होते है।'

वृत्तिकार ने लोकवाद की मिथ्या मान्यता का हेतु और प्रमाण पुरस्सर खण्डन किया है। वृत्तिकार के अनुसार यदि लोकवादी लोक को, पदार्थों की अपनी-अपनी जाति का नाश नहीं होने से नित्य मानते है, तो इस मान्यता से तो जैनदर्शनमान्य परिणामी नित्यत्व पक्ष की ही स्वीकृति होगी परन्तु यदि वे ऐसा न मानकर पदार्थों को उत्पत्ति-विनाशरहित, स्थिर, एक स्वभाव वाले मानकर लोक को नित्य मानते है, तो यह मान्यता प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है, क्योंकि जगत् का कोई भी पदार्थ उत्पत्ति-विनाश रहित, स्थिर, एक स्वभाव वाला नहीं देखा जाता। सभी पदार्थ प्रतिक्षण पर्याय रूप से उत्पन्न तथा विनष्ट होते हुए दिखायी देते है। अतः पर्यायरहित कुटस्थ पदार्थ की मान्यता सर्वथा मिथ्या है।[19]

लोकवादियों का यह कथन कि, 'सात द्वीपों से युक्त होने के कारण यह लोक अन्तवान् (परिमित) है' असंगत है। क्योंकि इस बात को सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार 'पुत्रहीन पुरुष की गति नहीं होती' यह कथन भी युक्ति विरूद्ध है। यदि पुत्र के अस्तित्व से ही विशिष्ट गति की प्राप्ति सम्भव हो तब तो समस्त लोक कुत्ते और सुअरों से परिपूर्ण हो जायेगा क्योंकि इनके बहुत पुत्र होते है। पुत्र के द्वारा किये गये अनुष्ठान-विशेष से विशिष्ट गति की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्ति मानने पर दो आपत्तियाँ आ पड़ेगी। एक ही पिता के दो पुत्र होने पर एक पुत्र के शुभानुष्ठान के प्रभाव से वह पिता शुभलोक में जायेगा अथवा दूसरे पुत्र के अशुभानुष्ठान के प्रभाव से अशुभ लोक में जायेगा ? ऐसी स्थिति में स्वकृत कर्म निष्फल हो जायेंगे।[20]

कुत्ते यक्ष है, ब्राह्मण देव है आदि कथन भी युक्तिशून्य ही है।

लोकवादियों की सर्वज्ञ विषयक धारणा भी निराधार एवं भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि जो पुरुष अपरिमित पदार्थों का ज्ञाता है, अतीन्द्रिय द्रष्टा है, फिर भी यदि सर्वज्ञ नहीं है, तो वह हेय-ज्ञेय-उपादेय पदार्थों का उपदेश देने में समर्थ नहीं हो सकता।

अपरिमित पदार्थदर्शी के लिये कीट संख्या का परिज्ञान भी आवश्यक है। अन्यथा बुद्धिमान पुरुष ऐसा आक्षेप करेंगे कि जैसे कीड़ों की संख्या के विषय में अज्ञान है, वैसे ही अन्य वस्तुओं के विषय में भी अज्ञान की पूर्ण सम्भावना है। इस प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान शंकास्पद हो जायेगा, जिससे उनके द्वारा उपदिष्ट हेयोपादेय में निवृत्ति-प्रवृत्ति नहीं हो सकेंगी। अत: अपरिमित पदार्थों का ज्ञाता मानने के साथ उसे सर्वज्ञ मानना भी अत्यावश्यक है।

इसी प्रकार सोते समय ब्रह्मा कुछ नहीं जानते एवं जागते समय सब कुछ जानते है, यह कथन भी हास्यास्पद है। क्योंकि सभी प्राणियों में सोते समय अज्ञान दशा और जागते समय ज्ञानदशा होती है। लोकवादियों का यह कथन भी प्रमाण शून्य है कि ब्रह्मा के सोने पर जगत् का प्रलय और जागने पर उदय (सृष्टि) होता है।[21]

वास्तव में इस जगत् में दृश्यमान समस्त पदार्थों का एकान्त रूप से न उत्पाद होता है, न विनाश। द्रव्य रूप से जगत् सदैव विद्यमान रहता है, परन्तु पर्याय रूप से पदार्थों में परिवर्तन प्रतिक्षण होता रहता है।

शास्त्रकार ने इन्हीं भावों को गाथा के उत्तरार्ध में प्रस्तुत किया है। जो त्रस और स्थावर प्राणी इस विश्व में स्थित है, उनका पर्याय परिवर्तन अवश्यम्भावी है। त्रस जीव मरकर त्रस ही होते है अर्थात् इस जगत् में जो जैसा है, वह भवान्तर में भी वैसा ही होता है, यह लोकवादी धारणा मिथ्या है। समस्त जीव अपने कर्मानुसार ही पर्याय को प्राप्त करते है। अत: लोकवाद की मान्यताएँ एकान्त तथा युक्तिविरूद्ध होने से अनवधारणीय है।[22]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. सूत्रकृतांग सूत्र - 1/1/4/5-7
2. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 49 लोकानां- पाखण्डिनां पौराणिकानां वा वादो लोकवादः।
3. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 46 - लोका नाम पाषण्डा गृहिणश्च।
4. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 49- लोकानां पाखण्डिनां पौराणिकानां वा।
5. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 46, लोकवाद स्तावत्- अनपत्यस्य लोका न सन्ति, गावान्ताः नरकाः तथा गोभिर्हतस्य गोहनस्य नास्ति लोकः। तथा -
   जेसिं सुणया जक्खा, विप्पा देवा पितामहा काया।
   ते लोग दुव्वियड्ढा, दुक्खं मोक्खा विबोधितुं॥
6. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 49 नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः न निरन्वय नाशेन नश्यतीत्युक्तं भवतीति। तथाहि यो यादृगिहभवे सतादृगेव परभवेऽप्युत्पद्यते, पुरुष पुरुष एव, अङ्गना अङ्गनैवेत्यादि।
7. वही, : यदिवा अनन्त अपरिमितो निरवधिक इति यावत्।
8. वही, ...तथा शश्वद्भवतीति शाश्वतो द्वयणुकादिकार्य द्रव्यापेक्षयाऽशश्वद् भवन्नपि न कारण द्रव्यं परमाणुत्वं परित्यजतीति तथा न विनश्यतीति दिगात्माकाशाद्यपेक्षया।
9. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 47- सांख्या : तेषां सर्वगतः क्षेत्रज्ञः कूटस्थः ग्रहणम्।
10. वही - 47 - यथा पौराणिकानां समद्वीपाः समसमुद्राः क्षेत्रलोक परिमाणम्, कालतस्तु नित्यः।
11. (क) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 46- केषाञ्चित सर्वज्ञवादिनां अनन्तज्ञानं सर्वत्र चाप्रतिहतमिति ----- सर्वत्रेति तिर्यगूर्ध्वमधश्चेति क्षेत्रतः कालतः।
    (ख) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 50
12. (क) सूत्रकृतांग सूत्र - 1/1/4/7
    (ख) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 50,
    अपरिमितज्ञोऽसावतीन्द्रिय दृष्टा न पुनः सर्वज्ञ इति,
    यदि वा अपरिमितज्ञ इत्यभिप्रेतार्थातीन्द्रियदर्शीति।
    तथा चोक्तम् -
    सर्वं पश्यतु मा वा मा इष्टमर्थं तु पश्यतु।
    कीट संख्या परिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते॥
13. तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
    प्रमाणं दुरदर्शी चेदेते गृद्धानुपास्महे॥
14. पुराण - 'चतुर्युग सहस्राणि ब्रह्मणों दिनमुच्यते।'
15. (क) सू. शी. वृ. पत्र - 50 दिव्यं वर्ष सहस्रमसौ स्वपिति, तस्यामवस्थायां न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चत्यसौ तावन्मात्रं कालं च जागर्ति, तत्र च पश्यत्यसाविति। तदेवं भूतो बहुधा लोकवादः प्रवृतः।

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या प्र.श्रु. पृ. - 267

16. आचारांग सूत्र - 1/9/1/54
अदुथावरा तसत्ताए, तस जीवा य थावरत्ताए।
अदुवा सव्वजोणिया सत्ता, कम्मुणा कप्पिया पुढो वाता॥

17. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 50

18. स्मृति : अन्तःप्रज्ञा भवन्त्येते, सुखदुःखसमन्विता।
शरीरजै कर्मदोषैर्यान्ति स्थावरतां नराः॥

19. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 50

20. वही

21. वही

22. वही, पृ. 51

12. सूत्रकृतांग में विभिन्न मोक्षवादियों की मिथ्याधारणाएँ

सूत्रकृतांग सूत्र में विभिन्न दार्शनिक मतों का विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। इनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि महावीर का युग सम्प्रदायों की बहुलता का युग रहा होगा। इन सभी की चिन्तनधारा जीव, जगत और ईश्वर अथवा मोक्ष को लक्ष्य में रखकर ही प्रवाहित हुई।

सूत्रकृतांग में इन सभी दार्शनिक तत्त्वों के विश्लेषण के साथ कुछ ऐसी विचित्र मान्यताओं का भी उल्लेख पाया जाता है, जो इन सभी से हटकर नित्यभोजी, सचित्त जल एवं वनस्पति भक्षण द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति का कथन करते है। तृतीय उपसर्ग परिज्ञा अध्ययन में इनका वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत हुआ है -[1]

(कुछ शिथिल श्रमण ऐसा कहते है) अतीतकाल में कुछ ऐसे भी तपस्वी हुए है, जो सचित्त जल से स्नान आदि करते हुए सिद्धि को प्राप्त हुए है।

विदेही नमि राजा ने भोजन छोड़कर, (राजर्षि) रामपुत्र ने भोजन करते हुए तथा बाहुक और तारागण ऋषि ने केवल जल पीते हुए मोक्ष को प्राप्त किया था। इसी प्रकार असिल- देविल, द्वैपायन और पाराशर आदि महर्षियों ने सचित्त, बीज, जल और हरित का सेवन करते हुए सिद्धि प्राप्त की थी।

ऐसा सोचकर मन्दबुद्धि भिक्षु विषाद को प्राप्त होते हैं तथा भार को बीच

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में ही डाल देने वाले गधे की भाँति वे अस्नान आदि व्रतों को बीच में ही छोड़ देते है। तथा कठिनाई के समय मोक्ष की ओर प्रस्थान करने वाले मुमुक्षुओं से पंगु की भाँति पीछे रह जाते है।

यहाँ सूत्रकार ने शिथिल भिक्षु के आचरण को गर्दभ की उपमा द्वारा उपमित करते हुए सागोपांग वर्णन प्रस्तुत किया है। जैसे गधा अधिक भार को सहन न कर सकने के कारण मार्ग के बीच में ही डालकर गिर जाता है, उसी प्रकार शिथिल आचरण वाले भिक्षु महाव्रत रूपी संयम के भार को वहन करने में असमर्थ हो जाते हैं।

इस विवेचन का फलितार्थ यह है कि कुछ शिथिल श्रमण यह कहते है कि प्राचीन काल में कुछ ऐसे तपस्वी भी हुए है, जो उपवासादि तप न करते, उष्ण जल न पीते, फल, फूल आदि खाते, फिर भी उन्हें जैन प्रवचन में महापुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। इतना ही नहीं, उन्हें मुक्त भी माना गया है। इन महापुरुषों का महापुरुष एवं अर्हत् के रूप में ऋषिभासित नामक अतिप्राचीन जैन प्रवचनानुसारी श्रुत में स्पष्ट उल्लेख है। इसके आधार पर शिथिल श्रमण यह कहने के लिये तैयार होते है कि यदि ये लोग ठण्डा पानी पीकर, निरन्तर भोजी होकर एवं फलफूलादि खाकर महापुरुष बने है एवं मुक्त हुए है, तो हम ऐसा क्यों नहीं कर सकते ? इस प्रकार के हेत्वाभास द्वारा ये शिथिल श्रमण आचार एवं विचार से भ्रष्ट होते है।

प्रस्तुत दो श्लोकों में 7 ऋषियों के नाम गिनाये गये है - 1. वैदेहि नमि 2. रामगुप्त 3. बाहुक 4. तारागण 5. असिल-देविल 6. द्वैपायन और 7. पाराशर। 'इह संमया' इस पद के द्वारा सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि ये महापुरुष जैन ग्रन्थों में वर्णित है। तथा 'अणुस्सुयं' पद के द्वारा भारत आदि पुराणों में भी इनके वर्णन की ओर संकेत किया है।

चूर्णिकार के अनुसार ये सभी राजर्षि और प्रत्येकबुद्ध थे। इनमें से वैदेहि नाम की चर्चा उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन में प्राप्त है। शेष राजर्षियों की चर्चा ऋषिभासित नामक ग्रन्थ में है।[2] किन्तु वर्तमान में उपलब्ध ऋषिभासित ग्रन्थ में पाराशर ऋषि का नाम प्राप्त नहीं है। इस ग्रन्थ में सबके नाम से एक-एक अध्ययन है और इन अध्ययनों में उनके विशिष्ट विचार संग्रहित है।

1. वैदेहि नमि - विदेह राज्य में दो नमि हुए है। दोनों अपने-2 राज्य को छोड़कर प्रव्रजित हुए। एक तीर्थंकर हुए, एक प्रत्येक बुद्ध। प्रस्तुत सन्दर्भ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्रत्येकबुद्ध नमि का कथन है। ये किसके तीर्थकाल में हुए, यह ज्ञात नहीं है। उत्तराध्ययन के नौवे अध्ययन नमि प्रव्रज्या में अभिनिष्क्रमण के समय ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र और नमि के बीच हुए संवाद का सुन्दर संकलन है। इनके पिता का नाम युगबाहु और माता का नाम मदनरेखा था।[3]

2. **रामगुप्त** - ये पार्श्वनाथ के तीर्थकाल में होने वाले प्रत्येकबुद्ध है।[4] ऋषिभाषित के तीसवें अध्ययन में रामपुत्र अर्हतर्षि के वचन संकलित है।[5] इस गद्यात्मक अध्ययन में केवल तीन गद्यांश है। वृत्तिकार ने 'रामउत्ते' का संस्कृत रूप रामगुप्त किया है।[6] प्राकृत 'उत्त' शब्द के तीन संस्कृत रूप हो सकते है - उप्त, गुप्त एवं पुत्र।

3. **बाहुक** - ये अरिष्टनेमि के समय में हुए एक प्रत्येकबुद्ध है।[7] ऋषिभासित के 14वें अध्ययन में इनके सुभाषित संकलित है।[8] यह अध्ययन भी गद्यात्मक है। नल का एक नाम बाहुक भी है।[9]

4. **तारागण** - ऋषिभासित के 36वें अध्ययन में इनके विचार उल्लिखित है। इसमें 17 पद्य है। प्रारम्भ में उनके नाम के आगे 'वित्तण' शब्द है।[10] ऋषिभासित की संग्रहणी गाथा में इनका उल्लेख 'वित्त' नाम से किया गया है।[11] परन्तु 'वित्त' शब्द उनका विशेषण ही होना चाहिये। वृत्तिकार ने 'नारायण' पाठ माना है।[12]

5. **आसिल-देविल** - ऋषिभासित के तीसरे अध्ययन का नाम 'दविलज्झयणा' है। इसके प्रारम्भ में 'असिएण दविलेण अरहता इसिणा बुइतं' ऐसा पाठ है। यहाँ असित गौत्र एवं दविल ऋषि का नाम हो सकता है, ऐसा पुण्यविजयजी म. ने माना है।[13] वृत्तिकार ने आसिल तथा देविल को पृथक्-पृथक् ऋषि माना है।[14] ये अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में हुए प्रत्येकबुद्ध है।[15] महाभारत में अनके स्थलों पर 'असितदेवल' नामक प्रसिद्ध ऋषि का उल्लेख प्राप्त होता हैं।[16] याज्ञवल्क्य की अपरादित्य रचित व्याख्या में देवल ऋषि का संवाद उद्धृत है।[17] महाभारत के शान्तिपर्व में देवल-नारद संवाद का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वृद्ध देवल के सम्मुख उपस्थित होकर नारद ने भूतों की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में जिज्ञासा प्रकट की थी और देवल महर्षि ने उसका समाधान दिया था। इसी प्रकार वायुपुराण में भी देवल के उद्धरण प्राप्त होते है।[18] ये सांख्य दर्शन के एक आचार्य के रूप में प्रसिद्ध थे, जो सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण से पहले हो चुके थे।[19]

6. **द्वीपायन** - ये महावीर के तीर्थकाल में हुए प्रत्येकबुद्ध हैं।[20] ऋषिभासित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के 40वें अध्ययन में इनके वचन संकलित है। महाभारत के अनुसार यह माना गया है कि महर्षि पाराशर के द्वारा सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न मुनिवर वेदव्यास यमुना के द्वीप में छोड़े दिये गये, इसलिये इनका नाम द्वैपायन (द्वीपायन) पड़ा।[21]

7. पाराशर - ऋषिभासित में इनका नामोल्लेख प्राप्त नहीं है। महाभारत में पाराशर्य और पराशर नाम के ऋषियों का वर्णन प्राप्त होता है।[22]

औपपातिक सूत्र में आठ ब्राह्मण परिव्राजकों तथा आठ क्षत्रिय परिव्राजकों का उल्लेख मिलता है - 1. कण्डू 2. करकण्ट 3. अंबड 4. पराशर 5. कृष्ण 6. द्वीपायन 7 देवगुप्त और 8. नारद, ये आठ ब्राह्मण परिव्राजक है। 1. शीलधी 2. शशिधर 3. नग्नक 4. भग्नक 5. विदेह 6. राजराज 7. राजाराम 8. बल, ये आठ क्षत्रिय परिव्राजक है। वहाँ इनकी तपस्या का विस्तार से निरूपण हुआ है। इन परिव्राजकों को सांख्य, योगी, कपिल, भार्गव, हंस, परमहंस, बहुउदक, कुलीव्रत तथा कृष्ण परिव्राजक इन सम्प्रदायों के अन्तर्गत माना गया है।[23] इनमें पराशर, द्वीपायन, विदेह ये तीन नाम प्रस्तुत चर्चा से सम्बद्ध है। राम रामपुत्र का संक्षिप्त रूप हो सकता है।

चूर्णिकार ने प्रस्तुत श्लोकों की चूर्णि में सबको राजर्षि माना है।[24] किन्तु औपपातिक सूत्र के सन्दर्भ में यह मीमांसनीय है। पराशर और द्वीपायन- ये ब्राह्मण ऋषि ही प्रतीत होते है। चूर्णिकार ने बताया है कि ये सब प्रत्येकबुद्ध वनवासी थे और बीज, हारित आदि का भोजन करते थे। वहाँ रहते हुये उन्हें विशिष्ट प्रकार के ज्ञान प्राप्त हुए। उस समय के लोग इन ऋषियों की ज्ञानोपलब्धि की तुलना भरत को आदर्श गृह में उत्पन्न ज्ञानोपलब्धि से करते थे।[25]

चूर्णिकार ने इस तर्क के समाधान में यह लिखा है कि भरत चक्रवर्ती को गृहस्थावस्था में ज्ञान तभी उत्पन्न हुआ था, जब वे भावसाधु बन गये थे तथा 4 घाती कर्मों का नाश हो चुका था। प्रश्नकार यह नहीं जानते कि किस अवस्था में विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है और किस संहनन में मुक्ति होती है ? इसलिये वे कह देते है कि ये ऋषि कन्दमूल आदि खाते हुए, अग्नि का समारम्भ करते हुए सिद्ध हुए है।[26]

सूत्रकृतांग सूत्र के सप्तम अध्ययन में कुशील की व्याख्या के सन्दर्भ में भी कुछ इसी से मिलता-जुलता वर्णन उपलब्ध होता है। 'इस जगत में कुछ मूढ मनुष्य नमक न खाने से मोक्ष बताते है, कुछ सजीव जल से स्नान करने से तथा कुछ हवन करने से मोक्ष की प्राप्ति बताते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रात:कालीन स्नान आदि से मोक्ष नहीं होता। क्षार तथा नमक के न खाने से भी मोक्ष नहीं होता। वे अन्यतीर्थी मोक्षवादी मद्य, माँस तथा लहसुन खाकर मोक्ष की परिकल्पना कैसे करते है[27]?

इसी सन्दर्भ में निर्युक्तिकार ने नामोल्लेखपूर्वक कुशीलों का प्रतिपादन किया है।[28] महावीरकालीन इन धर्म सम्प्रदायों के आचार का वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने इनके आचार का कुछ विस्तार से वर्णन किया है-

1. **गौतम** - ये मशकजातीय धर्म सम्प्रदाय के संन्यासी गोव्रतिक हैं, जो बैल को नाना प्रकार से प्रशिक्षित करते है और फिर उसके साथ घर-घर जाकर बैल की तरह रंभाते है और अपने हाथ में रहे हुए छाज (सूर्प) में धान्य इकट्ठा करते है। ये ब्राह्मण तुल्य जाति के होते है।[29]

2. **चण्डी देवगा** - ये प्राय: अपने हाथ में चक्र रखते है।[30] चूर्णिकार ने उसके स्थान पर 'रंड देवगा' शब्द माना है।[31]

3. **वारिभद्रक** - ये पानी पर छा जाने वाली शैवाल-काई खाते है, हाथ, पैर आदि बार-बार धोते है। बार-बार स्नान और आचमन करते है और तीनों संध्याओं में जल में डूबकियाँ लगाते है।[32]

4. **अग्निहोमवादी** - उस समय में विभिन्न प्रकार के तापस और ब्राह्मण हवन द्वारा मोक्ष बतलाते थे। उनके अनुसार जो व्यक्ति स्वर्ग आदि फल की आकांक्षा न करता हुआ समिधा, घृत आदि द्रव्य विशेष द्वारा अग्नि को तृप्त करता है, हवन करता है, वह मोक्ष के लिये पुरुषार्थ करता है। जो किसी मनोकामना से हवन करता है, वह अपने अभ्युदय को सिद्ध करता है। जैसे अग्नि स्वर्णमल को जलाने में समर्थ है, उसी प्रकार वह मनुष्य के आन्तरिक पापों को जलाने में भी समर्थ है।[33]

5. **जलशौचवादी** - भागवत, परिव्राजक आदि सजीव जल के उपयोग से मोक्ष की स्थापना करते थे। बार-बार हाथ-पैर धोने, स्नान करने में रत रहते थे। वे मानते थे कि जैसे जल बाह्य मल को दूर करता है, उसी प्रकार आन्तरिक शुद्धि भी जल से ही होती है।

सूत्रकृतांग के तृतीय तथा सप्तम अध्याय के विश्लेषण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उस समय में मोक्ष प्राप्ति के कारण कितने विचित्र और विकृत रूप ले रहे थे। इन कारणों को सूत्रकार ने तीन प्रकार से वर्गीकृत किया है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. **आहारसंपज्जण** - आहार संप्रज्वलन अर्थात् जो आहार को संप्रज्वलित करता है अथवा आहार में रस या मधुरता उत्पन्न करता है, उस नमक के त्याग से मोक्ष मानने वाले।

2. **सीओदगसेवण** - अर्थात् शीतल जल के सेवन तथा स्नानादि से मोक्ष मानने वाले।

3. **हुष्ण** - होम अर्थात् यज्ञ में हवन से अग्नि को तृप्त कर मोक्ष की अभिलाषा करने वाले।

ग्रन्थकार ने मोक्षवादियों की मिथ्या मान्यताओं का अनेक दृष्टान्तों द्वारा खण्डन किया है कि मोक्ष के प्रतिबन्धक कारणों राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकृतियों का अन्त करने पर ही मोक्ष हो सकता है।

यदि नमक त्याग से मोक्ष प्राप्ति होती है तो जिस देश में नमक नहीं होता, उन सभी का मोक्ष हो जाता। इसी प्रकार यदि जल स्पर्श से ही मुक्ति होती है, तो जल के आश्रय में रहने वाले मछली, सर्प, बतख तथा निर्दयी मछुएँ भी कभी के मुक्त हो जाते। जल यदि मल को दूर करता है, तो प्रिय अंगराग को भी नष्ट कर देता है। फलितार्थ यह है कि वह पाप के साथ पुण्य को भी धो डालता है। अत: जलस्पर्श पापकर्म का घातक और मोक्ष का साधक न होकर जलकायिक जीवों तथा तदाश्रित अनेक त्रस जीवों की हिंसा का ही कृत्य है।[34]

वस्तुत: ब्रह्मचारी मुनियों के लिये जलस्नान दोष के लिये ही होता है क्योंकि जल स्नान मद और दर्प को उत्पन्न करता है। वह काम का प्रथम अंग है, इसलिये मोक्षाभिलाषी दान्त मुनि काम का परित्याग कर कभी स्नान नहीं करते। 'जल से भीगा हुआ शरीर वाला पुरुष स्नान किया हुआ नहीं माना जाता किन्तु जो व्रतों से नहाता है, वही अन्दर और बाहर से शुद्ध माना जाता है।'[35]

अग्नि से सिद्धि की बात करने वाले अग्निहोत्रवादियों का कथन भी युक्ति विरूद्ध है। यदि अग्नि के समारम्भ से मुक्ति मिलती तो वनदाहक, लुहार, कुम्हार, सुनार के व्यवसाय को कुकर्म नही कहा जाता, फिर तो इन्हें भी मुक्ति मिल जानी चाहिये थी।[36]

श्रमण महावीर ने अग्नि के उज्जालन-पज्जालन करने वाले मनुष्य को भी जीवों का हिंसक कहा है।[37] भगवती सूत्र में इसी आशय को स्पष्ट करने वाला एक सुन्दर संवाद है, जिसमें कालोदायी ने भगवान से अग्नि को जलाने और बुझाने के विषय में प्रश्न किये है। भगवान ने अग्नि जलाने वाले को महाकर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाला तथा अग्नि बुझाने वाले को अल्पकर्म करने वाला कहा है। अग्नि के प्रज्वालन में पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति और त्रस इन जीवों की हिंसा है और अग्नि जीवों की हिंसा कम है। अग्नि के विध्यापन में अग्नि के जीवों की प्रचुर हिंसा है और शेष जीवों की कम हिंसा है।[38]

औपपातिक सूत्र में भी बिलवासी, जलवासी, वेलवासी, चेलवासी, वल्कलवासी, जल भक्षी, शैवाल भक्षी, मूलाहारी, फलाहारी, त्वगाहारी, पुष्पाहारी, बीजाहारी, हस्तितापस आदि अनेक प्रकार के तापसों का वर्णन मिलता है।

ग्रन्थकार ने इन सभी कुशील दर्शनों की मान्यताओं का खण्डन करते हुये यह प्रतिपादित किया है कि मोक्ष न जलशौच से मिलता है, न जलभक्षण से। न हवन करने से, न वनस्पति का सेवन करने से। मोक्ष प्राप्ति के साधन है- सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप। इनकी सम्यक साधना से ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूयगडो - 1, 3/4/1-4*
2. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 96 :*
   णमी ताव णमी पव्वज्जाए, सेसा सव्वे अण्णे इसिभासितेसु।
3. *उत्तरज्झयणाणि - अ. - 9*
4. *उत्तरज्झयणाणि - भाग - 1 पृ. 106*
5. *इसिभासियाइं - अ. - 23 : रामपुत्तेण अरहत्तातइसिणा बुइतं।*
6. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 69 -: रामगुप्तश्च।*
7. *उत्तरझज्यणाणि, भाग - 1 पृ. - 106*
8. *इसिभासियाइं, अ. - 14 - बाहुकेण अरहता इसिणा बुइतं।*
9. *महाभारत, वनखण्ड - 66/20*
10. *इसिभासियाइं, अ.-36 'वित्तेण तारायणेण अरहता इसिणा बुइतं।*
11. *इसिभासियाइं संग्रहणी गाथा - 5 : अद्दालए य वित्ते य।*
12. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 96 : नारायणो नाम महर्षि।*
13. *सूत्रकृतांग चू. पृ. - 95 : फुटनोट नं. 8 -*
    अत्र पाठे असिएणं इति गोत्रोक्तिर्वर्तते न पृथगृषिनाम।
14. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 96 : आसिलो नाम महर्षिस्तथा देविलः।*
15. *उत्तरज्झयणाणि भाग - 1 पृ. - 106*
16. *महाभारत की नामानुक्रमणिका पृ. - 29*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

17. याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय श्लोक - 109
18. वायुपुराण अध्ययन - 66, श्लोक - 151-152
19. सांख्यकारिका - 71, माठरवृत्ति : 1
20. उत्तरज्झयणाणि भाग - 1, पृ. - 107
21. महाभारत, आदिपर्व - 63/86
22. महाभारत, सभापर्व - 4/13, 7/13, आदिपर्व 177/1
23. औपपातिक सूत्र - 76 पृ. 126/127 (मधुकर मुनि)
24. सूत्रकृतांग चू. पृ. - 95
25. वही पृ. - 96
26. वही, पृ. - 96
27. सूयगडो - 1, 7/12-13
28. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 90
    जहणाम गोयमा चंडीदेवगा वारिभद्दगा चेव।
    जे अग्गिहोत्तवादी जल सोयं जेय इच्छंति॥
29. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 152
30. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 154
31. सूत्रकृतांग चू. पृ. - 152
32. (अ) वही (ब) सू. शी. वृ. प. - 154
33. वही
34. सूयगडो - 1/7/14-17
35. सूत्रकृतांग चूर्णि - पृ. 159
36. सूत्रकृतांग सूत्र - 1, 7/18
37. सूयगडो - 2, 7/6
38. भगवई - 2, 7/227-228

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5

सूत्रकृतांग सूत्र के समवसरण अध्ययन में प्रतिपादित चार वाद तथा 363 मत

सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में प्रतिपादित बारहवें अध्ययन का नाम समवसरण है। निर्युक्तिकार ने समवसरण शब्द की विवक्षा नामादि छह निक्षेपों द्वारा की है,[1] जिसका विस्तृत वर्णन हमने अध्ययनों के विषय-परिचय में किया है।

यहाँ समवसरण का अर्थ है, वाद-संगम। चूर्णिकार के अनुसार 'जहाँ अनेक दर्शनों या दृष्टियों का संगम होता है, वह समवसरण है।'[2]

प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा में ही क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद तथा अज्ञानवाद का उल्लेख किया गया है।[3]

समवायांग सूत्र में सूत्रकृतांग का परिचय देते हुए क्रियावादी आदि के 363 भेदों का केवल एक संख्या के रूप में निर्देश किया गया है।[4]

आगम सूत्रों में विभिन्न धार्मिक वादों का इन्हीं चार श्रेणियों में वर्गीकरण मिलता है। निर्युक्तिकार ने अस्ति के आधार पर क्रियावाद, नास्ति के आधार पर अक्रियावाद, विनय के आधार पर विनयवाद तथा अज्ञान के आधार पर अज्ञानवाद का प्रतिपादन किया है।[5]

1. अज्ञानवाद

प्रस्तुत अध्ययन की दूसरी तथा तीसरी गाथा में अज्ञानवाद का प्रतिपादन है। तीसरी गाथा के विषय में चूर्णिकार तथा वृत्तिकार का मतैक्य नहीं है। चूर्णिकार का अभिमत है कि प्रस्तुत श्लोक के दो चरण अज्ञानवादी मत के और दो चरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनयवादी मत के प्रतिपादक है।[6] परन्तु वृत्तिकार ने पूरे श्लोक को विनयवादी मत का प्रतिपादक माना है, जो कि संगत नहीं लगता।[7]

चूर्णिकार ने इन दो चरणों का अर्थ इस प्रकार किया है -[8]

अज्ञानवादी ऐसा चिन्तन करते है कि सत्य कभी-कभी असत्य हो जाता है, इसलिये सत्य भी नहीं कहना चाहिए। साधु को देखकर भी साधु न कहा जाये। कभी वह साधु हो सकता है और कभी असाधु हो सकता है। चोर कभी चोर हो सकता है, कभी अ-चोर हो सकता है।

वेश के आधार पर स्त्री को स्त्री न कहा जाये। वह स्त्री भी हो सकती है, पुरुष भी हो सकती है। इसी प्रकार पुरुष पुरुष भी हो सकता है, स्त्री भी हो सकता है।

इस प्रकार सभी विषयों में अभिशंकित होने के कारण उनके दर्शन के लिये असम्यग्दर्शन, सम्यग् और सम्यग्दर्शन, असम्यग् बन जाता है।

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है - वे (विनयवादी) सत्य को असत्य और असत्य को सत्य तथा असाधु को साधु मानते है।[9]

चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने जो अर्थ किये है, वे मूल से बहुत दूर जा पड़ते है। यथार्थ में अज्ञानवादी प्रत्येक विषय में अभिशंकित होते है। वे किसी भी तथ्य का निश्चय नहीं कर पाते। प्रस्तुत दो चरणों में यही स्पष्ट किया गया है। परलोक, स्वर्ग, नरक, सत्य है या असत्य है - ऐसा पूछने पर वे कहते है- हम नहीं जानते। वे यह नहीं कह सकते कि यह अच्छा है, यह बुरा है।

प्रस्तुत अध्ययन में अज्ञानवाद के स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है-

अज्ञानवादी कुशल होते हुए भी संशय रहित नहीं है। वे स्वयं 'कौन जानता है ?' (को वेत्ति=कोविद) इस प्रकार का संशय करते है और इस प्रकार संशय करने वालों (अकोविदों) में ही अपनी बात रखते है। वे पूर्वापर का विमर्श नहीं करते इसलिये वे मृषा बोलते है।

(परलोक आदि) सत्य है या असत्य है ? (यह हम नहीं जानते) ऐसा चिन्तन करते हुए तथा यह बुरा है, यह अच्छा है, ऐसा कहते हुए (वे मृषा बोलते है।)

प्रस्तुत अध्ययन में अज्ञानवाद का उल्लेख क्रम की अपेक्षा सबसे अन्त में है, तथापि वृत्तिकार ने इसकी सर्वप्रथम समीक्षा का कारण प्रस्तुत करते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा है कि इन चारों वादों में अज्ञानवादी ही अन्यन्त विपरीत भाषी है, जिसमें ज्ञान को समस्त अनर्थों का मूल कहा जाता है तथा ज्ञान के अस्तित्व का इन्कार करके अपलाप किया जाता है।[10]

चूर्णिकार ने मृगचारिका की चर्या करने वाले अटवी में रहकर फलफूल खाने वाले त्यागशून्य संन्यासियों को अज्ञानवादी माना है।[11]

वृत्तिकार शीलांक ने अज्ञानवाद को तीन अर्थों में प्रयुक्त किया है -[12]

1. अज्ञानी अन्यतीर्थिक
2. अज्ञानी बौद्ध
3. अज्ञान में ही विश्वास करने वाले

अज्ञानवादियों की धारणा

अज्ञानवादी अपने आप को कुशल मानते हुए कहते है कि हम सब तरह से कुशल है। 'अज्ञानमेव श्रेय:' हमारा अज्ञान ही कल्याणकारी है क्योंकि दूसरे जितने भी ज्ञानी है, वे अपने ज्ञान के अहंकार में डूबे रहते है, परस्पर लड़ते है, एक-दूसरे पर आक्षेप करते है तथा वाद-विवाद पैदा करते है। इस प्रकार के वाक्कलह से वे दु:खी एवं असन्तुष्ट रहते है। जबकि हम व्यर्थ में न तो किसी से बोलते है, न ज्ञान का अभिमान कर शेखी बघारते है। हम तो सदैव अपनी मस्ती में जीते है। अज्ञानी होने का प्रत्यक्ष लाभ यह है कि अज्ञात या प्रमाद वश किये गये अपराध का दण्ड बहुत कम या माफ कर दिया जाता है जबकि जानबुझकर किये गये अपराध का दण्ड बहुत अधिक मिलता है।

अज्ञानवादी अज्ञान को कल्याणकारी सिद्ध करने के लिये अनके तर्क भी प्रस्तुत करते है- इस संसार में सत्यासत्य का निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि विभिन्न मत है, अनेक पंथ और शास्त्र है। बहुत से धर्म प्रवर्त्तक है। ऐसी स्थिति में यह निश्चय कर पाना बहुत कठिन है कि किसका ज्ञान सत्य है और किसका असत्य। फिर जितने भी ज्ञानी है, वे सभी एक-दूसरे से विरूद्ध पदार्थ का स्वरूप बतलाते है तथा अपने ही मत और सिद्धान्त को सत्य कहते है। उसे सिद्ध करने के लिये हेतु और युक्तियाँ देते है। ऐसी स्थिति में सत्य का निर्णय कैसे किया जा सकता है? जैसे कोई आत्मा को सर्वव्यापी कहते है, तो कोई शरीरव्यापी। कोई अँगूठे के पर्व के समान मानते है, तो कोई हृदय में स्थित मानते है और कोई ललाट स्थित भी कहते है। कोई आत्मा को कर्त्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते है, तो कोई अकर्त्ता। कोई उसे अनित्य और मूर्त्त कहते है, तो कोई उसे नित्य और अमूर्त्त कहते है। ये सभी मत परस्पर विरूद्ध है, अत: किसे प्रमाणभूत और यथार्थ माना जाए ?[13]

सर्वज्ञ की असिद्धि

जगत् में कोई अतिशय ज्ञानी भी नहीं है जिसके वचनों को प्रमाणभूत माना जाय। अगर कोई सर्वज्ञ पुरुष विद्यमान भी हो तो अल्पज्ञ उसे जान नहीं सकता। और जो सर्वज्ञ नहीं है, वह सर्वज्ञ को जानने का उपाय भी नहीं जान सकता क्योंकि सर्वज्ञ को जानने का उपाय भी सर्वज्ञ ही जानता है। और स्वयं सर्वज्ञ बने बिना सर्वज्ञ को जानने का उपाय नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार सर्वज्ञ ज्ञान तथा सर्वज्ञोपाय ज्ञान में अन्योन्याश्रय दोष होने से सर्वज्ञ को जानना दुष्कर है। अत: सर्वज्ञ कोई है ही नहीं। इसलिये सर्वज्ञ के अभाव में कोई भी दार्शनिक, भले ही किसी भी मत का हो, दर्शन का हो, निश्चयार्थ को नहीं जान सकता। वह अपने दर्शन के हार्द को समझे बिना उस म्लेच्छ की भाँति कथन को दोहरा रहा है, जैसे आर्य पुरुष के अभिप्राय को न समझकर म्लेच्छ पुरुष मात्र उसके कथन को दोहराता है।

अज्ञानवाद के 67 भेद

निर्युक्तिकार ने अज्ञानवाद के 67 भेदों का कथन किया है[14] जिसे चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है[15] -

जीव-अजीव-पुण्य-पाप-आश्रव-संवर-निर्जरा बंध तथा मोक्ष इन नौ तत्त्वों को सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य, सदसदवक्तव्य इन सात भंगों से गुणन करने पर (9X7=63) भेद होते है। जैसे -

1. जीव सत् है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है ?
2. जीव असत् है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है ?
3. जीव सदसत् है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है ?
4. जीव अवक्तव्य है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. जीव सदवक्तव्य है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है?
6. जीव असदवक्तव्य है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है ?
7. जीव सदसदवक्तव्य है, यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है ?

अजीव, पुण्य, पाप आदि नौ तत्वों के इसी प्रकार भंग बनाने पर कुल 63 भंग होते है।

1. सत् पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और जानने से भी क्या लाभ है ?
2. असत् पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और जानने से भी क्या लाभ है ?
3. सदसत् पदार्थ की उत्पत्ति कौन जानता है और जानने से भी क्या लाभ है ?
4. अवक्तव्य भाव की उत्पत्ति कौन जानता है और उसे जानने से भी क्या लाभ है ?

इन चार भेदों को 63 के साथ मिलाने पर कुल 67 भेद होते है।

अज्ञानवाद का वर्णन इसी श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में भी विस्तृत रूप से मिलता है। निर्युक्तिकार ने समय अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की निर्युक्ति में नियतिवाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद तथा शाक्यमतानुसारी कर्मचयवाद इन चार अर्थाधिकारों का कथन किया है।[16] निर्युक्तिकार निर्दिष्ट अज्ञानवाद की चर्चा चूर्णि तथा वृत्ति में कहीं भी दिखायी नहीं देती परन्तु द्वितीय उद्देशक की 6ठीं गाथा से जिस वाद का प्रारम्भ होता है तथा 14वीं गाथा से जिसका खण्डन शुरू होता है, वृत्तिकार ने उसे अज्ञानवाद नाम दिया है। चूर्णिकार का मत है कि 14वीं गाथा से 23वीं गाथा तक अज्ञानवाद की चर्चा है। परन्तु इन गाथाओं को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि नियतिवाद, अज्ञानवाद, संशयवाद और एकान्तवाद - इन चारों को शास्त्रकार ने चर्चा का विषय बनाकर जैनदर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त की कसौटी पर कसा है।[17]

शास्त्रकार 14वीं गाथा में कुछ अज्ञानवादी श्रमणों तथा ब्राह्मणों की मनोदशा को उजागर करते हुए कहते है कि इस जगत् में कोई कुछ भी नहीं जानता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्याज्ञान के गर्व से उन्मत्त उनकी दृष्टि में उनके अतिरिक्त, सारा जगत् अज्ञानी है। यही अज्ञानवाद की भूमिका है। इसमें से 'अज्ञानमेव श्रेयः' का सिद्धान्त वृत्तिकार ने कैसे निकाला ? भगवान महावीर के समकालीन छह तीर्थंकरों में से संजयवेलट्ठिपुत्त नामक एक अज्ञानवादी तीर्थंकर था। सम्भवतः उसी के मत को ध्यान में रखते हुए उक्त गाथा की रचना हुई हो। उसके मतानुसार तत्त्वविषयक अज्ञेयता या अनिश्चयता ही अज्ञानवाद की आधारशिला है। यह मत पाश्चात्य दर्शन के अज्ञेयवाद अथवा संशयवाद से मिलता-जुलता है।[18]

संजयवेलट्ठिपुत्त का अज्ञानवाद

दीघनिकाय में संजय वेलट्ठिपुत्त के अज्ञानवाद का वर्णन इन शब्दों में मिलता है-

'यदि तुम पूछो कि क्या परलोक है तो यदि मुझे ज्ञात हो कि वह है, तो मैं तुम्हें बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है, परलोक नहीं नहीं है, परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है।'[19]

संजय के परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्ति के सम्बन्ध में ये विचार शत-प्रतिशत अज्ञान या अनिश्चयवाद है। वह स्पष्ट कहता है कि 'यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ।' वह संशयालु नहीं बल्कि घोर अनिश्चयवादी और अज्ञानी था।

संशयवाद की उपज हैं स्याद्वाद

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन तथा इतः पूर्व डॉ. जेकोबी आदि ने स्याद्वाद या सप्तभंगी की उत्पत्ति को संजय वेलट्ठिपुत्त के मत से बताने का प्रयत्न किया है। राहुल ने दर्शन-दिग्दर्शन में लिखा है कि 'आधुनिक जैन दर्शन का आधार 'स्याद्वाद' है, जो मालूम होता है कि संजयवेलट्ठिपुत्त के चार अंग वाले अनेकान्तवाद को लेकर सात अंग वाला किया गया है। संजय ने तत्त्वों (परलोक, देवता) के बारे में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से कहने से इन्कार करते हुए उस इन्कार को चार प्रकार से कहा है -

1. 'है' नहीं कह सकता।
2. 'नहीं है' नहीं कह सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. 'है भी और नहीं भी' नहीं कह सकता।

4. 'न है और न नहीं है' नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनों के सात प्रकार के स्याद्वाद से -

1. 'है ?' हो सकता है। (स्यात् अस्ति)

2. 'नहीं है ?' नहीं भी हो सकता है। (स्यात् नास्ति)

3. 'है भी और नहीं भी ?' है भी और नहीं भी हो सकता है। (स्यात् अस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते है ? इसका उत्तर जैन नहीं में देते है।

4. स्यात् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता है ? (वक्तव्य) नहीं। स्याद अवक्तव्य है।

5. स्यादस्ति - क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, स्यादस्ति अवक्तव्य है।

6. स्यान्नास्ति - क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, स्यान्नास्ति अवक्तव्य है।

7. स्याद् अस्ति च नास्ति च - क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, स्याद अस्ति च नास्ति च अवक्तव्य है।

दोनों को मिलाने से मालूम होगा कि जैनों ने संजय के पहले वाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वाद की छह भंगियाँ बनायी है और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है' को जोड़कर 'स्याद सदसत् भी अवक्तव्य है' यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की है।

उपलब्ध सामग्री से मालूम होता है कि संजय अपने अनेकान्तवाद का प्रयोग परोक्ष तत्त्वों (परलोक देवता) पर करता था जबकि जैन संजय की युक्ति को प्रत्यक्ष विषयों पर भी लागू करते है। उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष उपस्थित घट की सत्ता के बारे यदि जैनदर्शन से पूछा जाय तो उत्तर निम्न प्रकार का मिलेगा -

1. घट यहाँ है ? हो सकता है (स्याद् अस्ति)

2. घट यहाँ नहीं है ? नहीं भी हो सकता है। (स्याद् नास्ति)

3. क्या घट यहाँ है भी और नहीं भी है ? है भी और नहीं भी हो सकता है। (स्याद् अस्ति च नास्ति च)

4. हो सकता है (स्याद्) - क्या यह कहा जा सकता है ? - नहीं, स्याद् यह अवक्तव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. घट यहाँ हो सकता है, (स्यादस्ति) - क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, घट यहाँ हो सकता है, यह नहीं कहा जा सकता। (स्याद् नास्ति अवक्तव्य)

6. घट यहाँ नहीं हो सकता है, (स्यान्नास्ति) - क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, घट यहाँ नहीं हो सकता, यह नहीं कहा जा सकता। (स्याद् नास्ति अवक्तव्य)

7. घट यहाँ हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है- क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, घट यहाँ हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, यह नहीं कहा जा सकता। (स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्य।)

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त की स्थापना न करना, जोकि संजय का वाद था, उसी को संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर जैनों ने अपना लिया और उसके चतुर्भंगी न्याय को सप्तभंगी में परिणत कर दिया।'[20]

स्याद्वाद के परिप्रेक्ष्य में पं. राहुल की मिथ्याधारणा की समीक्षा

1. संजय वेलट्ठिपुत्त के चार अंगवाले अनेकान्तवाद को लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है।

2. एक भी सिद्धान्त की स्थापना न करना, जो कि संजय का वाद था, उसी को संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर जैनों ने अपना लिया।

ये दोनों स्थापनाएँ बहुत ही भ्रामक और वास्तविकता से परे है। पण्डित राहुल ने उक्त सन्दर्भ में सप्तभंगी और स्याद्वाद के रहस्य को न समझकर केवल शब्द साम्य देखकर एक नये मत की सृष्टि की है। यह तो ऐसा ही है - जैसे कोई कहे कि 'भारत में रही परतन्त्रता को परतन्त्रता विधायक अँग्रेजों के चले जाने पर भारतीयों ने उसे अपरतन्त्रता (स्वतन्त्रता) के रूप में अपना लिया क्योंकि अपरतन्त्रता में भी 'प र तं त्र ता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद है ही। जितना परतन्त्रता का अपरतन्त्रता से भेद है, उतना ही संजय के अनिश्चय और अज्ञानवाद का स्याद्वाद से अन्तर है। स्याद्वाद संजय के अज्ञान और अनिश्चय का ही उच्छेद करता है। साथ ही साथ तत्त्व में जो विपर्यय और संशय है, उसका भी समूल छेदन करता है। यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि राहुल अनिश्चिततावादियों की सूची में संजय के साथ निग्गंठ नातपुत्त महावीर का नाम भी लिख जाते है तथा (पृ. 491 में) संजय को अनेकान्तवादी भी। क्या इसे धर्मकीर्ति के शब्दो में 'धिग् व्यापकं तमः' नहीं कह सकते ?[21]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पं. राहुल ने दर्शन-दिग्दर्शन में सप्तभंगी के पाँचवे, छठे तथा सातवें भंग को जिस अशोभन तरीके से मरोड़ा है, वह उनकी निरी कल्पना और साहस है। जब वे दर्शन को व्यापक, नई और वैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहते है तो किसी भी दर्शन की समीक्षा उसके ठीक स्वरूप को समझकर करनी चाहिए। वे अवक्तव्य नामक धर्म का, जोकि अस्ति आदि के साथ स्वतन्त्र भाव से द्विसंयोगी हुआ है, तोड़कर 'अ-वक्तव्य' करके उसका संजय के 'नहीं' के साथ मेल बिठा देते है और संजय के घोर अनिश्यवाद को ही अनेकान्तवाद कह डालते है, इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा ?[22]

भगवान महावीर का अनेकान्तवादी दृष्टिकोण

विमर्शणीय है कि संजय वेलट्ठिपुत्त का दृष्टिकोण अज्ञानवादी या संशयवादी था इसलिये वह किसी प्रश्न का उत्तर निश्चयात्मक नहीं देता था। परन्तु भगवान महावीर का दृष्टिकोण अनेकान्तवादी था, अत: वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर निश्चयात्मक भाषा में देते थे। भगवती तथा अन्य आगमों में भी भगवान महावीर के साथ हुए प्रश्नोत्तरों का विशाल संकलन है। उनके अध्ययन से पता चलता है कि भगवान महावीर द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक- इन दो नय दृष्टियों से प्रश्नों का समाधान करते थे। ये ही दो नय अनेकान्तवाद का मूल आधार है। स्याद्वाद के तीन भंग मौलिक है - स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य। भगवान महावीर ने प्रश्नों के समाधान में, तत्त्व के निरूपण में बार-बार इनका प्रयोग किया है। संजय की प्रतिपादन शैली चतुर्भंगात्मक थी जबकि भगवान महावीर की त्रिभंगात्मक थी। फिर इस कल्पना का कोई अर्थ नहीं कि संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर जैनों ने उसके सिद्धान्त को अपना लिया। सत्, असत्, सत्-असत्, और अनुभय (अवक्तव्य) ये चार भंग उपनिषद् काल से चले आ रहे है। उस समय के प्राय: सभी दार्शनिकों ने इन भंगों का किसी न किसी रूप में प्रयोग किया है, फिर यह मान्यता निराधार है कि संजय वेलट्ठिपुत्त के भंगों के आधार पर स्याद्वाद की सप्तभंगी विकसित की।[23]

'स्यात्' शब्द की परिभाषा

स्यात्-अस्ति का अर्थ 'हो सकता है' यह भी काल्पनिक है। स्यात् शब्द संशयात्मक या अनिश्चययात्मक न होकर निश्चय अर्थ में है। एकाधिक भेद या विकल्प की सूचना जहाँ करनी होती है, वहाँ 'सिया' (स्यात्) पद का प्रयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाषा की विशिष्ट शैली का एक रूप रहा है, जैसा कि मज्झिमनिकाय के महाराहुलोवादसुत्त के अवतरण से विदित होता है।[24] इसमें तेजो धातु के दोनों सुनिश्चित् भेदों की सूचना 'सिया' शब्द देता है, न कि उन भेदों का अनिश्चय, संशय या सम्भावना व्यक्त करता है। इसी तरह 'स्यात् अस्ति' के साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द 'अस्ति' की स्थिति को निश्चित् अपेक्षा से तो दृढ़ करता ही है, साथ ही साथ अस्ति से भिन्न और भी अनेक धर्म वस्तु में है, पर वे विवक्षित न होने से इस समय गौण है, इस सापेक्ष स्थिति को भी बताता है।

भगवान महावीर से पूछा गया -

भन्ते ! द्विप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है ? अनात्मा है ? या अवक्तव्य है ?

भगवान महावीर ने उत्तर दिया -

द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नहीं है, स्यात् अवक्तव्य है।

भन्ते ! यह कैसे ?

गौतम ! द्विप्रदेशी स्कन्ध स्व की अपेक्षा से आत्मा है, पर की अपेक्षा से आत्मा नहीं है और उभय की अपेक्षा से अवक्तव्य है।[25]

इसी प्रकार भगवती में आये हुए पुद्गल स्कन्धों की चर्चा के प्रसंग में स्याद्वाद के सातों ही भंग फलित होते है। भगवती सूत्र दर्शन युग में लिखा हुआ कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है। यह महावीरकालीन आगम सूत्र है। इससे यह ज्ञात होता है कि स्याद्वाद को संजय वेलट्ठिपुत्त के सिद्धान्त से उधार लेने की बात सर्वथा आधार शून्य है।

संजय वेलट्ठिपुत्त के अतिरिक्त आचार्य अकलंक ने अज्ञानवादियों के कुछ अन्य आचार्यों का भी उल्लेख किया है - साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुनि, नारायण, काठ, माध्यन्दिनी, मौद, पैप्पलाद, बादरायण आदि।[26]

अज्ञानवाद के विस्तृत विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि अज्ञानवाद में दो प्रकार की विचारधाराएँ संकलित है - कुछ अज्ञानवादी आत्मा के होने में सन्देह करते है और उनका मत है कि आत्मा है तो भी उसे जानने से क्या लाभ ? दूसरी विचारधारा के अनुसार ज्ञान सब समस्याओं का मूल है, अत: अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

अज्ञानवाद की आलोचनात्मक समीक्षा

अज्ञानश्रेयोवादी अज्ञान को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये ज्ञान का ही आलम्बन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेते है। वे अज्ञान को कल्याणकारी सिद्ध करने हेतु अनुमान आदि प्रमाण तथा तर्क, युक्ति आदि का सहारा लेते है, यह 'वदतो व्याघात' जैसी बात है।

अज्ञान का अर्थ दो प्रकार के नञ् समास द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। पर्युदासनञ् समास सदृश ग्राही होता है जबकि प्रसज्यनञ् समास सर्वथा निषेध करता है। अगर पयुर्दासनञ् समास के अनुसार अज्ञान का अर्थ किया जाये तो एक ज्ञान से भिन्न, उसके सदृश दूसरा ज्ञान होगा। इस स्थिति में ज्ञान को कल्याण का साधन मान लेने से अज्ञानवाद कहाँ सिद्ध हुआ ? प्रसज्य नञ् समास के अनुसार अज्ञान का अर्थ होता है - ज्ञान का निषेध या अभाव। यहाँ ज्ञानाभाव अभाव रूप होने से तुच्छ, रूप रहित एवं सर्वशक्ति रहित होने से कल्याणकर कैसे सिद्ध हो सकता है ? इस प्रकार प्रसज्यवृत्ति से अज्ञान का अर्थ किया जाय तो वह प्रत्यक्ष विरूद्ध है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान के द्वारा पदार्थ के स्वरूप को जानकर प्रवृत्ति करने वाला कार्यार्थी पुरुष अपने कार्य को सिद्ध करता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है। अत: ज्ञान की महत्ता को झुठलाया नहीं जा सकता।[27]

अज्ञानवादियों का यह कथन कि सभी ज्ञानवादी पदार्थ का स्वरूप परस्पर विरूद्ध बताते है, जैसे कोई आत्मा को सर्वव्यापी, कोई शरीरव्यापी, कोई हृदय स्थित, कोई ललाट स्थित तो कोई अँगूठे के पर्व के तुल्य मानते है। कोई उसे नित्य और अमूर्त्त, तो कोई उसे अनित्य और मूर्त्त कहते है। इस प्रकार के विरोधी कथन में किसे सही और यथार्थ माना जाए। जगत् में कोई सर्वज्ञ भी नहीं, जिसका कथन प्रमाण माना जाये।[28]

फिर ज्ञान अहंकार को भी उत्पन्न करता है, वाद-विवाद और वितण्डावाद का भी सर्जन करता है। इससे दारूण कर्मबंध होता है। अत: अज्ञान ही साध्य है। अज्ञानवादियों के द्वारा इस प्रकार की मीमांसा या विचार-चर्चा करना उचित नहीं है। क्योंकि ऐसे पर्यालोचनात्मक विचार भी तो ज्ञान रूप ही है। वे स्वयं जब अज्ञानवाद के अनुशासन में नहीं चल सकते, तब दूसरों को अज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुशासन में कैसे चलायेंगे ? साथ ही, जब वे स्वयं अज्ञानी है, तो अपने शिक्षार्थियों को अज्ञानवाद की शिक्षा कैसे दे सकेंगे क्योंकि अज्ञानवाद की शिक्षा भी तो ज्ञान द्वारा ही दी जायेगी। अत: चुप रहने की साधना में ही अज्ञानवाद है, क्योंकि अज्ञता का आभूषण मौन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वज्ञसिद्धि के कारण अज्ञानवाद का खण्डन

जैनदर्शन में प्रारम्भ से ही सर्वज्ञता और धर्मज्ञता के विषय में कोई मतभेद नहीं रहा है। उसके अनुसार प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञ हो सकती है, क्योंकि सर्वज्ञता उसका स्वभाव है। स्वभाव अनुभूति का विषय होता है, तर्क या युक्ति का विषय नहीं। किन्तु विभावज्ञान से अभिभूत चेतनवाले अज्ञानवादी सर्वज्ञ का निषेध करते है। अज्ञानवादियों का यह कथन है कि सर्वज्ञ हो तो भी अल्पज्ञ द्वारा जाना नहीं जा सकता। यद्यपि सराग वीतराग की सी चेष्टा करते देखे जाते है और वीतराग सराग की सी प्रवृत्ति करते नजर आते है, इसलिये दूसरे की मनोवृत्ति अल्पज्ञ द्वारा जानी नहीं जा सकती, इस तरह प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ की उपलब्धि न होने पर भी सर्वज्ञ के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सम्भव और अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। जैसे - अज्ञानी की अपेक्षा व्याकरण शास्त्री या सुशिक्षित मनुष्य अधिक जानता-समझता है, इसी तरह ध्यान, समाधि, ज्ञान-साधना आदि के विशिष्ट अभ्यास करने से उत्तरोत्तर ज्ञान वृद्धि होने से कोई समस्त पदार्थों का ज्ञाता सर्वज्ञ भी होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी सर्वज्ञसिद्धि में यही युक्ति प्रस्तुत की है।[29] सर्वज्ञ नहीं हो सकता, ऐसा कोई सर्वज्ञता का बाधक प्रमाण नहीं है। क्योंकि अल्पज्ञ पुरुष प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सकता। अनुमान प्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं होता क्योंकि सर्वज्ञ के अभाव के साथ अव्यभिचारी कोई हेतु नहीं है। सर्वज्ञाभाव के साथ किसी का सादृश्य सिद्ध न होने से उपमान प्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं होता। अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अर्थापत्ति प्रमाण की प्रत्यक्षादिपूर्वक ही प्रवृत्ति होती है और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि नहीं होती क्योंकि सर्वज्ञ का अस्तित्व बताने वाले आगम विद्यमान है।

स्थूलदर्शी पुरुष का ज्ञान सर्वज्ञ तक नहीं पहुँचता, इस कारण भी सर्वज्ञ का अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका ज्ञान व्यापक नहीं है। यदि कोई अव्यापक पदार्थ किसी पदार्थ के पास नहीं पहुँचे तो इससे पदार्थ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है, इस प्रकार बाधक प्रमाणों का अभाव होने से एवं साधक प्रमाणों का सद्भाव होने से भी सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाती है।[30]

फिर सर्वज्ञ प्रणीत आगमों को मानने वाले सभी एकमत से आत्मा को स्वशरीरव्यापी मानते है क्योंकि आत्मा का गुण चैतन्य सम्पूर्ण शरीर, किन्तु स्वशरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यन्त ही देखा जाता है। अत: सर्वज्ञ प्रणीत आगमज्ञानवादी परस्पर विरूद्धभाषी नहीं है।

शास्त्रकार कहते है कि अज्ञानवादी अज्ञानवाद का आश्रय लेकर बिना विचारे असम्बद्ध भाषण करते है। वे मिथ्यादृष्टि सम्यग्ज्ञान से रहित है। जो यथार्थ ज्ञानी होता है, वह विचारपूर्वक बोलता है। ये अज्ञानवादी अपने शिष्यों को धर्म का उपदेश तो ज्ञान के द्वारा ही देते है तथापि ज्ञान को अनर्थ का मूल मानकर कोसते है। इस प्रकार के अज्ञान से कल्याण होना तो दूर रहा, उलटे नाना कर्मबंधन होने से जीव नाना दु:खों से पीड़ित होता है। इसलिये अज्ञानवाद अपने आप में एक घोर मिथ्यावाद है।[31]

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 116*
2. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 207*
   समवसरन्ति जेसु दरिसणाणि दिट्ठीओ वा ताणि समोसरणाणि।
3. *सूयगडो -1, 12/1*
   चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति।
   किरियं अकिरियं विणयं ति तइयं, अण्णाणमाहंसु चउत्थमेव॥
4. *समवायांग, द्वादशांगागणिपिटक - सूत्र - 516*
5. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 118*
   अत्थित्ति किरियवादी, वयंतिण त्थित्ति अकिरियवादी य।
   अण्णाणी अण्णाणं विणइत्ता वेणइयवादी॥
6. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 208 सच्चं मोसं ---- कुत्ता अण्णाणिया। इदाणीं वेणइयवादी - जेमे जणा वेणइया।*
7. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 214*
8. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 208*
9. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 214*
10. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 212 - एतेषां अज्ञानिका एवं सर्वालापितयाऽत्यन्तमसंबद्धा अतस्तानेवादावाह।*
11. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 207 - ते तु मिगचारियादयो अडवीए पुप्फफलभक्खिणो अच्चादि (अत्यागिन:) अण्णाणिया॥*
12. *(अ). सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 35 : सम्यग्ज्ञान विरहिता: श्रमणा: ब्राह्मणा:।*
    (ब). वही, पत्र- 217 : शाक्या अपि प्रायशोऽज्ञानिका:।
    (स) वही, : अज्ञानं एव श्रेय इत्येवं वादिन:।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

13. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 35
14. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 119
15. (अ) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 206-207
(ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 209
16. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 30
17. सूयगडंग सुत्तं (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) की प्रस्तावना पृ. - 9
18. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास - भाग -1, पृ. - 177
19. दीघनिकाय - 1/2/4/31
20. दर्शन-दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, पृ. - 498-499
21. जैनदर्शन पृ. - 390 (महेन्द्र कुमारजी)
22. वही, पृ. - 391
23. सूयगडो - 1, 1/41 का टिप्पण
24. मज्झिमनिकाय, महाराहुलोवादसुत्त - पृ. - 53
25. भगवती - 12/218-219
26. तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-2, 8/1
27. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - पृ. 213
28. वही
29. प्रमाण मीमांसा, अ.-1, सू. 16
30. वही, सू. 17
31. सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 211-241

2. विनयवाद

सूत्रकृतांग सूत्र के समवसरण अध्ययन में अज्ञानवाद के पश्चात् विनयवाद का निरूपण है।

विनयवाद् का मूल आधार विनय है।[1] चूर्णिकार के अनुसार विनयवादियों का अभिमत है कि किसी भी सम्प्रदाय या गृहस्थ की निन्दा नहीं करनी चाहिये। सभी के प्रति विनम्र होना चाहिये।[2]

विनयवादी विनय को ही यथार्थ और सिद्धि का मार्ग मानते है। वे कहते है- विनय से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। वे गधे से लेकर गाय, चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण एवं जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प आदि सभी प्राणियों को विनयपूर्वक नमस्कार करते है।

विनयवादियों के अनुसार- 'हमारा यह विनयमूलक धर्म परिगणना, परीक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और मीमांसा करता है। हम विनम्र धर्म की प्ररुपणा करते है। मित्र और शत्रु को समान मानते है। हम समस्त प्रव्रजित व्यक्तियों तथा देवों को प्रणाम करते है। जैसे दूसरे मतावलम्बी परस्पर विरोध रखते है, हम वैसा नहीं करते। हम प्रव्रजित होते ही इन्द्र हो या स्कन्ध, जब ऊँचे को देखते है तो ऊँचा प्रणाम करते है, नीचे को देखते है तो नीचा प्रणाम करते है। जो स्थान या ऐश्वर्य से ऊँचा है, जैसे - राजा, सेठ आदि उनको देखते ही हम ऊँचा प्रणाम करते है और जो क्षुद्र आदि है, जैसे - कुत्ता आदि, उनको नीचा प्रणाम करते है। हम भूमि पर सिर रखकर नमन करते है।[3]

विनयवादियों के उक्त मन्तव्य से यह स्पष्ट होता है कि विनयवादी अपनी सद्-असद् विवेकशालिनी बुद्धि का उपयोग नहीं करते है। वे प्रत्येक का विनय (जो वास्तव में विनय नहीं, चापलूसी, खुशामद, चाटुकारिता या मुखमंगलता होती है) करने की धुन में अच्छे-बुरे, सज्जन-दुर्जन, धर्मी-अधर्मी, सुबुद्धि-दुर्बुद्धि, सुज्ञानी-अज्ञानी सभी को एक सरीखा मानकर सबको वन्दन-नमन, मान-सम्मान आदि देते है। सत्यासत्य की परख न होने के कारण जो व्यक्ति जैसा समझा देता है, उसे वैसा ही मानकर जो सत्य है, उसे असत्य और जो असत्य है, उसे सत्य कह देते है। जो प्राणियों का हित करने वाला वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण है, वह सत्य है अथवा मोक्ष या संयम सत्य है। परन्तु विनयवादी इसे असत्य कहते है। सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र मोक्ष का सत्य मार्ग है, परन्तु विनयवादी इसे असत्य कहते है। केवल विनय करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। तथापि विनयवादी केवल विनय से मोक्ष प्राप्ति मानकर असत्य प्ररुपणा करते है।

वृत्तिकार ने भी विनय का अर्थ विनम्रता ही किया है किन्तु यह अर्थ विचारणीय है। यहाँ विनय का अर्थ आचार होना चाहिये। ज्ञानवादी जैसे ज्ञान के द्वारा ही सिद्धि मानते थे, वैसे ही आचार वादी केवल आचार पर ही बल देते थे। उनका उद्घोष था- आचार: प्रथमो धर्म:। ज्ञानवाद और आचारवाद दोनों एकांगी होने के कारण मिथ्यादृष्टि की कोटि में आते है। प्राचीन साहित्य में विनय का आचार अर्थ में बहुलता से प्रयोग हुआ है। उत्तराध्ययन के प्रथम श्लोक में निर्दिष्ट 'विणयं पाउकरिस्सामि' पद का भी यही अर्थ अभिप्रेत है। ज्ञाताधर्म कथा सूत्र में जैन धर्म को विनयमूलक धर्म बताया गया है। थावच्चापुत्र ने शुकदेव से कहा- मेरे धर्म का मूल विनय है।[4]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ विनय शब्द मुनि के पंच महाव्रत और गृहस्थ के अणुव्रत के अर्थ में व्यवहृत है। बौद्धों के विनय पिटक में विनय आचार की व्यवस्था है। विनय शब्द के आधार पर विनम्रता और आचार दोनों अर्थों का प्रतिपादन है। आचार पर अधिक बल देने वाली दृष्टि का विवरण बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। जो लोग, आचार के नियमों का पालन करने मात्र से शील शुद्धि होती है, ऐसा मानते थे, उन्हें 'सीलब्बतपरामास' कहा गया है।[5]

केवल ज्ञानवादी और एकान्त आचारवादी ये दोनों धारणाएँ उस समय प्रचलित थी। विनयवाद के द्वारा एकान्तिक आचारवाद की दृष्टि का निरूपण किया गया है। विनम्रतावाद आचारवाद का ही एक अंग है। इसलिये उसका भी इसमें समावेश हो जाता है किन्तु विनयवाद का केवल विनम्रतापरक अर्थ करने से आचारवाद का उसमें समावेश नहीं हो सकता।

निर्युक्तिकार ने विनयवाद के 32 भेद इस प्रकार निर्दिष्ट किये है - देवता, राजा, यति, ज्ञाति, बुद्ध, अधम, माता और पिता इन आठों का मन से, वचन से, काया से और दान से विनय करना। इस प्रकार कुल 32 (8X4) भेद हुए।[6]

विनयवादी दर्शन के कुछ प्रमुख आचार्य ये है - वशिष्ट, पाराशर, वाल्मीकि, व्यास, इलापुत्र, सत्यदत्त आदि।[7]

चूर्णिकार ने निर्युक्ति गाथा (113) की व्याख्या में 'दाणामा', 'पाणामा' आदि प्रव्रज्याओं को विनयवादी बताया है तथा प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में आणामा, पाणामा का विनयवादियों के रूप में उल्लेख किया है।[8]

भगवती सूत्र में आणामा और पाणामा प्रव्रज्या का स्वरूप निर्दिष्ट है। ताम्रलिप्ति नामक नगरी में तामली गाथापति रहता था। उसने 'पाणामा' प्रव्रज्या स्वीकार की। उसका स्वरूप इस प्रकार है- पणामा प्रव्रज्या स्वीकार करने के बाद वह तामली जहाँ कहीं इन्द्र, स्कन्ध, रूद्र, शिव, वैश्रमण, दुर्गा, चामुण्डा आदि देव-देवियों तथा राजा, ईश्वर (युवराज आदि) तलवर, माडंबिक, कौटुम्बिक, ईभ्य, श्रेष्ठि, सेनापति, सार्थवाह, कौआ, कुत्ता या चाण्डाल को देखता तो उन्हें प्रणाम करता। उन्हें ऊँचा देखता तो ऊँचा प्रणाम करता, नीचा देखता तो नीचा प्रणाम करता।[9] पूरण गाथापति ने दाणामा प्रव्रज्या स्वीकार की। उसका स्वरूप इस प्रकार है- प्रव्रज्या के पश्चात् वह चार फुट वाला लकड़ी का पात्र लेकर 'बेभेल' सन्निवेश में भिक्षा के लिये गया। जो भोजन पात्र के पहले पुट में गिरता, उसे पथिको को दे देता। जो भोजन दूसरे पुट में गिरता, उसे कौए, कुत्तों को दे देता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो भोजन तीसरे पुट में गिरता, उसे मच्छ, कच्छों को दे देता। जो चौथे पुट में गिरता, वह स्वयं खा लेता। यह दाणामा प्रव्रज्या स्वीकार करने वालों का आचार है।[10]

विनयवाद की समीक्षा

विनयवादी सम्यक् प्रकार से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना ही मिथ्याग्रह एवं मतव्यामोह से प्रेरित होकर कहते है- हमें अपने सभी प्रयोजनों की सिद्धि विनय से ज्ञात होती है। विनय से ही स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। यद्यपि विनय चारित्र का अंग है, किन्तु सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के बिना विनय का कोई औचित्य नहीं है। अगर विनयवादी सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूपी विनय की विवेकपूर्वक साधना-आराधना करे, साथ ही आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़े हुए जो अरिहन्त या सिद्ध परमात्मा अथवा पंचमहाव्रतचारी निर्ग्रंथ चारित्रात्मा है, उनकी विनय भक्ति करे तो उक्त मोक्षमार्ग के अंगभूत विनय से उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु इसे ठुकराकर अध्यात्मविहिन, अविवेक युक्त एवं एकान्त औपचारिक विनय से स्वर्ग या मोक्ष बतलाना एकान्त दुराग्रह है, मिथ्यावाद है।[11]

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 111 ..... विणइत्ता वेणइयवादी*
2. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. 206 - वेणइयवादिणो भणंति - ण गिहत्थस्स करसवि पासंडस्स वा णिंदा कायव्वा, सव्वस्सेव विणीय विणयेण होतव्वं।*
3. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 208*
4. *नायाधम्मकहाओ - 1/5/59*
5. *धम्मसंगणि (ना. सं.) पृ. - 277*
6. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा 113 (ब) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 207*
7. *षडदर्शन समुच्चय (श्री गुणरत्न सूरि दीपिका) पृ. - 29*
8. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 113*
   (ब) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 206
9. *भगवती, 3/34*
10. *भगवती, 3/102*
11. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 213/214*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. अक्रियावाद

सूत्रकृतांग सूत्र के समवसरण अध्ययन में विनयवाद के पश्चात् अक्रियावाद का निरूपण हुआ है।

एकान्त रूप से जीव आदि पदार्थों का जिस वाद में निषेध किया जाता है तथा उसकी क्रिया, आत्मा, कर्मबंध, कर्मफल आदि बिल्कुल नहीं माने जाते, उसे अक्रियावाद कहते है।

निर्युक्तिकार ने नास्ति के आधार पर अक्रियावाद की व्याख्या की है।[1] नास्ति के चार अर्थ फलित होते है -

1. आत्मा का अस्वीकार
2. आत्मा के कर्तृत्व का अस्वीकार
3. कर्म का अस्वीकार
4. पुनर्जन्म का अस्वीकार[2]

आक्रियावादी को नास्तिकवादी, नास्तिकप्रज्ञ, नास्तिकदृष्टि कहा भी गया है।[3]

अक्रियावादी आत्मा की स्थिति को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी है। जब प्रत्येक वस्तु एक क्षण के बाद नष्ट हो जाती है, तो क्रिया कैसे हो सकती है। यह सिद्धान्त बौद्धों के क्षणिकवादी दर्शन के बहुत निकट है। इस मतानुसार सूर्य उदय या अस्त नहीं होता। चन्द्रमा घटता या बढ़ता नहीं। नदियाँ बहती नहीं और हवा चलती नहीं।[4]

प्रस्तुत अध्ययन की 5वीं से 10वीं गाथा तक अक्रियावाद का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है- 'लव अर्थात् कर्मबन्ध की शंका करने वाले अक्रियावादी भविष्य और भूतकाल के क्षणों के साथ वर्तमानकाल का कोई सम्बन्ध न होने से क्रिया और तज्जनित कर्म बन्ध का निषेध करते है।'

शून्यतावादी बौद्ध अस्तित्व या नास्तित्व का स्पष्ट व्याकरण नहीं करते। वे अपनी वाणी से ही निगृहीत हो जाते है। प्रश्न करने पर वे मौन रहते है। एक या अनेक, अस्ति या नास्ति का अनुवाद नहीं करते। वे अमुक कर्म को द्विपाक्षिक, अमुक कर्म को एक पाक्षिक तथा उसे छह आयतनों से होने वाला मानते है।

आत्मा को अक्रिय माननेवाले वे तत्त्व को नहीं जानते हुए नाना प्रकार के सिद्धान्त प्रतिपादित करते है। उन्हें स्वीकार कर बहुत सारे मनुष्य अपार संसार में भ्रमण करते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(पकुधकात्यायन के अनुसार) सूर्य न उगता है और न अस्त होता है। चन्द्रमा न घटता है और न बढ़ता है। नदियाँ बहती नहीं है। पवन चलता नहीं है। क्योंकि यह सम्पूर्ण लोक वन्ध्य (शून्य), नित्य (अनिर्मित) है। जगत में बहुत लोग ज्योतिषशास्त्र, स्वप्न शास्त्र, लक्षण शास्त्र, निमित्त शास्त्र, शरीर, तिल आदि का फल बनाने वाला शास्त्र, तथा उल्कापात, दिग्दाह आदि का फल बताने वाले शास्त्र, इन अष्टांग निमित्त शास्त्रों को पढ़कर भविष्य की बातों को जान लेते है किन्तु अक्रियावादी विद्या से परिमुक्त होने को ही कल्याणकारक कहते है।

एकपाक्षिक

चूर्णिकार के अनुसार अक्रियावादी (लोकायतिक, बौद्ध, सांख्य) दर्शन दो प्रकार के धर्म का प्रतिपादन करते हैं - एकपाक्षिक तथा द्विपाक्षिक। एकपाक्षिक का अभिप्राय यह है कि उसमें क्रिया मात्र होती है, कर्म का चय अर्थात् बंध नहीं होता। एकपाक्षिक कर्म के चार प्रकार है - अविज्ञोपचित, परिज्ञोपचित, ईयापथ और स्वप्नान्तिक -जो इहभव वेद्य होते हैं।

द्विपाक्षिक

द्विपाक्षिक कर्म वह होता है, जिसमें चार प्रकार के योग होते है- 1. सत्व, 2. सत्वसंज्ञा, 3. मारने का संकल्प, 4. प्राण वियोजन। इससे होने वाला कर्मबंध द्विपाक्षिक होता है। इस जन्म में और पर जन्म में भी भोगना पड़ता है। जैसे- चोर यहाँ चोरी करते है, उन्हें इस भव में दण्ड, कारावास, वध, बन्धन आदि भोगने पड़ते है, शेष परिणाम उन्हें अगले जन्म-नरक आदि में भोगने पड़ते है।[5]

इहभव वेद्य और परभव वेद्य कर्मो के आधार पर बौद्ध एकपाक्षिक भी है और द्विपाक्षिक भी। उसकी मान्यता है कि क्रियाचित्त से जो कर्म किया जाता है, उससे कर्मो का चय-बंध नहीं होता। वह इहभव वेद्य कर्म है।

कुशलचित्त और अकुशलचित्त से जो कर्म किया जाता है, उसका चय होता है। विपाक या फलदान के आधार पर वे 4 प्रकार के कर्म मानते है -

1. दिट्ठधम्मवेदनीय - इसी शरीर में भुगते जाने वाले कर्म।
2. उपपज्जवेदनीय - परभव में भुगते जाने वाले कर्म।
3. अपरापरियवेदनीय - जन्म-जन्मान्तर में भुगते जाने वाले कर्म।
4. आहोसिकम्म - अविपाकी कर्म। वह कर्म, जिसका कोई फल नहीं होता।[6]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ क्रियावाद और अक्रियावाद का चिन्तन आत्मा को केन्द्र में रखकर किया गया है। आत्मा है, वह पुनर्भवगामी है। वह कर्म का कर्त्ता तथा कर्म फल को भोक्ता है, उसका निर्वाण होता है। यह क्रियावाद का पूर्ण लक्षण है। इसमें से एक अंश का भी अस्वीकार करने वाला अक्रियावादी होता है। यहाँ एकान्त अक्रियावादी मुख्यतया तीन है -

1. लोकायतिक, 2. बौद्ध, 3. सांख्य।

1. **अक्रियावादी लोकायतिक** - इस मत के अनुसार आत्मा है ही नहीं, तो उसकी क्रिया कैसे हो सकती है और उस क्रिया से उत्पन्न कर्मबंध भी कैसे हो सकता है? जैसे - लोक व्यवहार में मुट्ठी बांधना और खोलना केवल आरोप है। वस्तुत: कोई रस्सी से बांधी या खोली नहीं जाती। इसी प्रकार लोकायतिक मत में उपचार मात्र से आत्मा में बद्ध और मुक्त का व्यवहार जाना जाता है।

2. **अक्रियावादी बौद्ध** - बौद्धों की पाँच स्कन्ध की मान्यता भी आरोप मात्र से है, परमार्थ रूप से नहीं। उनका मन्तव्य है कि कोई भी पदार्थ विज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप को प्रकट करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि अवयवी पदार्थ तत्त्व और अतत्त्व इन दोनों भेदों के द्वारा विचार करने पर पूरा समझ में नहीं आता। इसी तरह अवयव भी परमाणु पर्यन्त विचार करने पर अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण आकार रहित होने से स्वरूप को धारण नहीं करते। अत: अवयवों का ज्ञान भी अशक्य है। ऐसी दशा में कोई भी पदार्थ ज्ञान के द्वारा पूरा-पूरा नहीं जाना जा सकता।

उक्त सिद्धान्त मानने वाले बौद्ध मत में भूत और भविष्य के साथ वर्तमान क्षण का कोई सम्बन्ध नहीं होने से कोई क्रिया नहीं होती। और क्रिया के अभाव में क्रियाजनित कर्मबंध भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि आने वाला (अनागत) क्षण अभी आया ही नहीं है और भूतकाल विद्यमान नहीं है तथा पहले और पीछे के क्षणों में वर्तमान क्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि नाश हुए काल के साथ वर्तमान का सम्बन्ध नहीं होता। अत: क्रिया के साथ सम्बन्ध न होने से उसके द्वारा कर्मबंध नहीं होता। इस प्रकार बौद्ध अक्रियावादी है।

3. **अक्रियावादी सांख्य (वैशेषिक)** - आत्मा के सर्वव्यापी होने से उसे क्रिया रहित मानने वाले सांख्य भी अक्रियावादी है। सांख्य दर्शन के अनुसार क्रिया का मूल प्रकृति है। पुरुष (आत्मा) कर्म का कर्त्ता नहीं है। पुरुष के अकर्तृत्व की दृष्टि से सांख्य को अक्रियावाद की कोटि में परिगणित किया गया है। वैशेषिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन में आत्मा कर्मफल भोगने में स्वतन्त्र न होने से चूर्णिकार ने इसे भी अक्रियावादी कहा है।[7]

चूर्णिकार ने पंचमहाभौतिक, चातुर्भौतिक, स्कन्धमात्रिक, शून्यवादी, लोकायतिक- इन्हें अक्रियावादी कहा है।[8]

आचार्य अकलंक ने अक्रियावाद के कुछ प्रमुख आचार्यों का उल्लेख किया है - कोक्वल, कांठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रुमान, कपिल, रोमश, हारित, अश्वमुण्ड, अश्वलायन आदि।[9]

अक्रियावाद के 84 भेद

निर्युक्तिकार ने अक्रियावाद के 84 भेदों का उल्लेख किया है।[9] चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने उसका विवरण इस प्रकार दिया है -[10] जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये सात तत्त्व है। इनके स्वत: और परत: ये दो-दो भेद करने पर (7X2) 14 भेद होते है। काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा इन छ: तत्त्वों के साथ गुणन करने पर (14X6) 84 भेद होते है।

सर्वशून्यतावाद का खण्डन

लोकायतिक पदार्थ का निषेध करके भी पक्ष को सिद्ध करने के लिये पदार्थ का अस्तित्व प्रकारान्तर से मान लेते है। अर्थात् पदार्थ का निषेध करते हुए भी उनके अस्तित्व का प्रतिपादन कर बैठते है। जैसे वे जीवादि पदार्थों का अभाव बताने वाले शास्त्रों का अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए शास्त्र के कर्त्ता आत्मा को, उपदेश के साधन रूप शास्त्र को और जिसको उपदेश दिया जाता है उस शिष्य को तो अवश्य स्वीकार करते है। क्योंकि इनको स्वीकार किये बिना उपदेशादि नहीं हो सकता। परन्तु सर्वशून्यतावाद में ये तीनों पदार्थ नहीं आते। इसलिये लोकायतिक परस्पर विरूद्ध मिश्रपद का सहारा लेते है। वे, पदार्थ नहीं है, यह भी कहते है और दूसरी ओर उसका अस्तित्व भी स्वीकार करते है।[11]

इसी प्रकार बौद्ध भी परस्पर विरूद्ध पक्ष का प्रतिपादन करते है। बौद्ध मत के सर्वशून्यतावाद के अनुसार -

गन्ता च नास्ति कश्चिद् गतय: षड् बौद्ध शासने प्रोक्ता।
गम्यत इति च गति:, स्याच्छ्रुति: कथं शोभना बौद्धी॥

कोई (परलोक में) जाने वाला सम्भव नहीं, कोई क्रिया, गति, कर्मबंध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी सम्भव नहीं है फिर भी बौद्ध शासन में छह गतियाँ मानी गयी है। जब गमन करने वाला आत्मा ही नहीं है, तब उसकी गतियाँ कैसी ? फिर बौद्धों द्वारा मान्य ज्ञान सन्तान भी प्रत्येक ज्ञान से भिन्न नहीं है। अपितु वह आरोपित है तथा प्रत्येक ज्ञान सन्तान भी क्षण विध्वंसी होने से स्थिर नहीं है। इसलिये क्रिया का अभाव होने के कारण बौद्ध दर्शन में अनेकों गतियों का होना कदापि सम्भव नहीं है। तथा बौद्धों के सभी आगमों में कर्म का अबन्धन माना गया है। फिर भी बुद्ध का 500 बार जन्म ग्रहण करना बताते है। जब कर्म बंधन नहीं होगा तो जन्म ग्रहण कैसे होगा ? बौद्ध ग्रन्थगत एक श्लोक में बताया गया है - माता-पिता को मारकर एवं बुद्ध के शरीर से रक्त निकालकर अर्हदवध करके तथा धर्मस्तूप को नष्ट करने वाला मनुष्य आविची नरक में जाता है।[12] यह भी कर्मबन्धन के बिना कैसे सम्भव है ? जब सर्वशून्य है तो शास्त्रों का निर्माण युक्ति संगत कैसे हो सकता है ? यदि कर्मबंधनदायी नहीं है तो प्राणियों में जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, उत्तम, मध्यम, अधम कैसे हो सकते है ? इसके अतिरिक्त कर्म का नाना प्रकार का फल प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। इससे सिद्ध है कि जीव अवश्य है और वह कर्ता है, कर्म फल का भोक्ता और कर्मयुक्त है, फिर भी बौद्ध सर्वशून्यवाद को मानते है। इस प्रकार वे स्पष्ट रूप से मिश्रपक्ष का सहारा लेते है। अर्थात् एक ओर वे कर्मों के पृथक्-पृथक् फल को मानते है, दूसरी ओर सर्वशून्यवाद के अनुसार सभी पदार्थों का नास्तित्व बताते है।

सांख्य अक्रियावादी आत्मा को सर्वव्यापी मानकर उसे क्रिया रहित स्वीकार करके भी जब प्रकृति के वियोग से उसकी मुक्ति मानते हैं, तब वे अपनी ही बात का खण्डन करते हुए आत्मा का बंध और मोक्ष मानते है क्योंकि मोक्ष उसी का होगा, जिसका बंधन होता हो। तब उनके कथनानुसार ही आत्मा का क्रियावान होना भी स्वीकृत हो जाता है। क्योंकि क्रिया के बिना बंध-मोक्ष कदापि सम्भव नहीं है। अतः सांख्य भी मिश्रपक्षाश्रयी है, जो आत्मा को निष्क्रिय सिद्ध करते हुये अपने ही वचन से क्रियावान् कह बैठते हैं।[13]

अक्रियावादी लोकायतिक, बौद्ध तथा सांख्य वस्तुतः वस्तु के यथार्थ स्वरूप से अपरिचित है। उनके अनुसार इस संसार में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु ये चार धातु या भूत है। इनसे पृथक् सुख-दुःख का कोई भोक्ता आत्मा नहीं है। तथा ये पदार्थ भी विचार न करने से सत्य से प्रतीत होते है। परन्तु ये सभी पदार्थ स्वप्न, इन्द्रजाल, दो चन्द्रमा के भाँति प्रतिभास रूप है, क्षणिक है, आत्मा से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहित है। सर्वशून्यतावादी दृष्टि से ही मुक्ति प्राप्त होती है - ऐसा मानने वाले सर्वशून्यतावादी समस्त पदार्थों को असत् कहते है। इसे वे युक्ति से सिद्ध करते है परन्तु वह युक्ति भी यदि असत् है, तो किसके बल पर आत्मा की असत्ता सिद्ध की जायेगी? यदि मुक्ति को माने तो सभी पदार्थ सत्य है।

सर्वशून्यतावादियों के द्वारा सूर्य के उदय-अस्त का, चन्द्र के वृद्धि-ह्रास का, जल एवं वायु की गति का किया गया प्रत्यक्ष प्रमाण से विरूद्ध है। जैसे जन्मान्ध पुरुष या बाद में दृष्टि से रहित हुआ पुरुष दीपक, मशाल आदि के प्रकाश में भी घटपटादि पदार्थों को देख नहीं सकता, उसी प्रकार अक्रियावादी विद्यमान घटपटादि पदार्थों को नहीं देख सकता क्योंकि उसकी प्रज्ञा ज्ञानावरणीयादि कर्मों से ढकी रहती है। समस्त अँधेरे को मिटाने वाले, कमल समूह को विकसित करने वाले, प्रतिदिन उदय-अस्त एवं गति करते हुए सूर्य को तो सारा जगत प्रत्यक्ष देखता है। चन्द्रमा भी शुक्ल-कृष्ण पक्ष में बढ़ता-घटता देखा जाता है। नदियाँ वर्षाऋतु में जल प्रवाह में बहती हुई प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। वृक्ष, पत्तों के कम्पन आदि के द्वारा वायु के बहने-चलने का अनुमान होता है।

अक्रियावादी, जो समस्त वस्तुओं को माया या इन्द्र जाल के समान मिथ्या बताते है, यह अयुक्तिसंगत है। क्योंकि समस्त पदार्थों का अभाव मानने पर, अमायारूप किसी भी सत्य वस्तु के न होने पर माया का भी अभाव होगा। तथा माया का जो कथन करता है तथा जिसके प्रति कथन करता है, इन दोनों का भी अभाव होने से माया का कथन भी असिद्ध ही होगा।

यहाँ एक और बात विचारणीय है कि इन्द्रजाल का प्रयोग भी तभी किया जाता है, जब जगत में सच्ची वस्तु हो। अत: इन्द्रजाल अभावात्मक नहीं कहा जा सकता। दो चन्द्रमाओं की प्रतीति भी तभी होती है, जब दो चन्द्रमा का प्रतिभास कराने वाले एक चन्द्रमा का सद्भाव हो। अगर सर्वशून्य हो तो चन्द्रमा की प्रतीति कैसे होगी? अत: किसी भी वस्तु का अत्यन्त तुच्छरूप अभाव-अत्यन्ताभाव नहीं है। शशविषाण, कूर्मरोम तथा गगनारविंद आदि में भी उनके समासपदवाच्य पदार्थ का अभाव है, प्रत्येकपदवाच्य पदार्थ का अभाव नहीं क्योंकि जगत में शश (खरगोश) भी है और विषाण (सींग) भी है। शश के मस्तक पर विषाण मात्र का यहाँ निषेध है परन्तु वस्तु का आत्यन्तिक अभाव नहीं। इस प्रकार अस्ति आदि क्रिया होने पर भी बुद्धिहीन परतीर्थी अक्रियावाद का आश्रय लेते है।'[14]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्योतिष आदि अष्टांग निमित्त के ज्ञाता को भूत और भविष्य की जो जानकारी होती है, वह किसी न किसी पदार्थ की सूचक होती है, पर सर्वशून्यतावाद मान लेने पर यह नहीं हो सकती।

इस प्रकार शून्यवादी अक्रियावादी कहते है कि ये विद्यायें सत्य नहीं है क्योंकि निमित्त ज्ञान भी कई बार झूठा सिद्ध होता है। तथा छींक आदि अपशुकन होने पर या मुहूर्त आदि देखे बिना कहीं जाने पर भी कार्यसिद्धि होती देखी जाती है, इसलिये ज्योतिषियों के फलादेश मिथ्या बकवास है। अक्रियावादी कहते है कि हम तो इन विद्याओं को पढ़े बिना ही के लोकालोक पदार्थों को जान लेते है।

इसका उत्तर वृत्तिकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है - शास्त्रों का भली भाँति अध्ययन किया जाये और सोच विचार कर कहा जाये तो निमित्तादि के कथन में कोई फर्क नहीं पड़ता। शास्त्राभ्यासियों में जो छह कोटि के जो न्यूनाधिक ज्ञानी व्यक्ति बतलाये गये है, वे शास्त्र ज्ञान की न्यूनाधिकता की अपेक्षा से नहीं अपितु अध्येता पुरुषों के क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के कारण से बताये गये है। इससे शास्त्रज्ञान को न्यूनाधिक या झूठा मानना ठीक नहीं है। प्रमाणाभास में फर्क पड़ने से सच्चे प्रमाण को मिथ्या कहना या उसमें शंका करना उचित नहीं है क्योंकि मशक में धुँआ भरकर उसका मुँह बाँधकर कोई व्यक्ति अन्यत्र ले जाकर उसका मुँह खोलकर कहे कि देखो ! इस मशक में धुँआ है किन्तु आग नहीं है, इसलिये जहाँ-जहाँ धुँआ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, यह अनुमान प्रमाण झूठा है, यह कहना मिथ्या है। प्रमाता पुरुष के प्रमाद से प्रमाण में दोष बतलाना ठीक नहीं है, इसी प्रकार निमित्त शास्त्र आदि का फल भी अच्छी तरह विचार कर कहा जाये तो सत्य होता है।

इस प्रकार सर्वशून्यवाद का इन प्रमाणों से खण्डन होने पर भी चावार्क शून्यबोधक शास्त्रों की दुहाई देते है, जो सर्वथा अनुपयुक्त है।[15]

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 118 : नत्थित्ति अकिरियवादी य।*
2. *दशाश्रुतस्कन्ध दशा - 6, सूत्र - 3*
3. *वही सू. - 6*
4. *सूत्रकृतांग सूत्र- 1/12/4-8*
5. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 210*
6. *अभिधम्मत्थ संगहो, 5/19 .....पारुदान परियायेन - दिट्ठधम्मवेदनीयं*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपपज्जवेदनीयं अपरापरियवेदनीयं अहोसिकम्मञ्चेति

7. *वही पृ. - 206*
8. *वही पृ. - 207*
9. *तत्वार्थवार्तिक - भाग - 2, 8/1, पृ. - 562*
10. *(अ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 199 अकिरियाणं च होति चुलसीति।*
    (ब) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 206 (स) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 209
11. *वही - 215*
12. *वही - 215 : माता-पितरौ हत्वा बुद्धशरीरे च रूधिरमुत्पात्य।*
    अर्हद्वधं च कृत्वा, स्तूपं भित्वा च आवीचिनरकं च यान्ति॥
13. *वही - 215-216*
14. *वही - 217*
15. *(अ) वही - 218-219*
    (ब) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, प्र.श्रु. - पृ. 867-870

4. क्रियावाद

समवशरण अध्ययन में चतुर्थ वाद के रूप में क्रियावाद का विश्लेषण है। जो दर्शन आत्मा, लोक, गति - अनागति, जन्म-मरण, शाश्वत-अशाश्वत, च्यवन - उपपात, आश्रव, संवर, निर्जरा को मानता है, वह क्रियावादी है।

निर्युक्तिकार ने अस्ति के आधार पर क्रियावाद का निरूपण किया है।[1] क्रियावाद की विस्तृत व्याख्या दशाश्रुतस्कन्ध में मिलती है। वहाँ उसके चार अर्थ फलित होते है-[2]

(1) अस्तित्ववाद - आत्मा और लोक के अस्तित्व की स्वीकृति।
(2) सम्यग्वाद - नित्य और अनित्य दोनों धर्मों की स्वीकृति - स्याद्वाद, अनेकान्तवाद।
(3) पुनर्जन्मवाद।
(4) आत्मकर्तृत्ववाद।

क्रियावाद में उन सभी धर्मवादों को सम्मिलित किया गया है, जो आत्मा आदि पदार्थों के अस्तित्व में विश्वास करते थे और आत्मा के कर्तृत्व को स्वीकार करते थे।

आचारांग सूत्र में चार वादों का उल्लेख है - आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद।[3] प्रस्तुत सन्दर्भ में आत्मवाद, लोकवाद और कर्मवाद का स्वतन्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरूपण है। इस अवस्था में क्रियावाद का अर्थ केवल आत्मकर्तृत्ववाद ही होगा।

सूत्रकृतांग में क्रियावाद का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है -

तीर्थंकर लोक को भलीभाँति जानकर श्रमणों और ब्राह्मणों को यह यथार्थ बताते है- दु:ख स्वयंकृत है, किसी दूसरे के द्वारा कृत नहीं है। (दु:ख की) मुक्ति विद्या और आचरण के द्वारा होती है।

वे तीर्थंकर लोक के चक्षु और नायक है। वे जनता के लिये हितकर मार्ग का अनुशासन करते है। उन्होंने वैसे-वैसे (आसक्ति के अनुरूप) लोक को शाश्वत कहा है। हे मानव! उसमें यह प्रजा संप्रगाढ़-आसक्त है।

जो राक्षस, यमलोक के देव (नारक),असुर और गन्धर्वनिकाय के देव है, जो आकाशगामी (पक्षी आदि) हैं, जो पृथ्वी के आश्रित प्राणी है, वे सब बार-बार विपर्यास (जन्म-मरण) को प्राप्त होते है।

जिसे अपार सलिल का प्रवाह कहा जाता है, उसे दुर्मोक्ष गहन संसार जानो, जिसमें विषय और अँगना दोनों प्रमादों से प्रमत्त होकर लोक में अनुसंचरण करते है।[4]

चूर्णिकार ने प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम श्लोक की व्याख्या में क्रियावाद के बारे संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत की है। क्रियावादी जीव का अस्तित्व मानते है। उसका अस्तित्व मानने पर भी वे उसके स्वरूप के विषय में एक मत नहीं है। कुछ जीव को सर्वव्यापी मानते है, कुछ जीव को सर्वव्यापी नहीं मानते है। कुछ मूर्त मानते है और कुछ अमूर्त। कुछ उसे अंगुष्ठ जितना मानते है और कुछ उसे श्यामाकतन्दुल जितना। कुछ उसे हृदय में अधिष्ठित प्रदीप की शिखा जैसा मानते है। क्रियावादी कर्म और कर्मफल भी मानते है।[5]

एकान्त क्रियावादी वे है, जो एकान्त रूप से जीव आदि पदार्थों का अस्तित्व मानते है तथा ज्ञानरहित केवल दीक्षा आदि से ही मोक्ष प्राप्ति मानते है। वे कहते है, माता-पिता आदि सब है, शुभ कर्म का फल भी मिलता है किन्तु मिलता केवल क्रिया से ही है। जीव जैसी-2 क्रियाएँ करता है, तदनुसार उसे स्वर्ग, नरक, सुख-दु:ख आदि के रूप में कर्म फल मिलता है। संसार में सुख-दु:ख आदि जो कुछ भी होता है, वह सब अपना किया हुआ ही होता है, काल, ईश्वर आदि दूसरों के द्वारा किया हुआ नहीं होता।[6]

सांख्य आदि केवल ज्ञान से ही मुक्ति मानने का कथन करते है। अत: वे ज्ञानवादी है। अज्ञानवादी केवल क्रिया (शील-आचार) से मुक्ति का कथन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते है। इन दोनों एकान्तिक मतों का निरास करने के लिये सूत्रकार ने ।।वीं गाथा के चौथे चरण में 'आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं' का उल्लेख करते हुए ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वय की बात कही है।[7]

चूर्णिकार ने इस तथ्य की पुष्टि में सिद्धसेन का एक श्लोक उद्धृत किया है[8]

क्रियां च सज्ज्ञान वियोग निष्फलां क्रिया विहिनां च निबोध संपदम्।
निरर्थका क्लेश समूह शान्तये त्वया शिवायाऽलिखितेव पद्धतिः॥

सद्ज्ञान के बिना क्रिया निष्फल है और क्रियाविहीन ज्ञानसम्पदा भी निष्फल है। आपने (महावीर ने) केवल ज्ञान या क्रिया को क्लेश समूह की शान्ति के लिये निरर्थक बताकर जगत को कल्याणकारी मार्ग बताया है।

इसका आशय यह है कि एकान्त क्रिया से मोक्ष नहीं होता, इसके साथ सम्यग्ज्ञान होना आवश्यक है। ज्ञान रहित क्रिया मात्र से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। सभी क्रियाएँ ज्ञान के साथ फल देती है। दशवैकालिक सूत्र के 'पढमं नाणं तओ दया' की उक्ति इसी तथ्य का संकेत है।

स्थानांग सूत्र में भी विद्या और चरण इन दो स्थानों से सम्पन्न अणागार को अनादि-अनन्त, प्रलंब मार्गवाले तथा चार अन्तवाले संसार रूपी कान्तार को पार करने वाला बताया गया है।[9]

उत्तराध्ययन में मोक्ष के चार द्वार बताये गये है - ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप। इन्हें क्रमशः ज्ञान योग, भक्ति योग, आचार योग और तपोयोग कहा जा सकता है। प्रस्तुत सूत्र में मार्ग चतुष्टयी का संक्षेप है। विद्या में ज्ञान और दर्शन तथा चरण में चारित्र और तप समाविष्ट हो जाता है।[10] उमास्वाति का प्रसिद्ध सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इन दोनों के आधार पर ही संचरित है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञान निरपेक्ष क्रिया से अथवा क्रिया निरपेक्ष ज्ञान से मोक्ष नहीं होता इसलिये शास्त्रकार स्पष्ट कहते है कि तीर्थंकरों ने ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष कहा है।

क्रियावाद के 180 भेद

निर्युक्तिकार ने क्रियावाद के 180 भेदों का उल्लेख किया है।[11] चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने इसका विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है- जीव, अजीव, पुण्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ तत्त्व है। स्वत: और परत: की अपेक्षा से इनके 18 भेद हुए। इन अठारह भेदों के नित्य और अनित्य की अपेक्षा छत्तीस भेद हुए। इनमें प्रत्येक के काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा इन पाँचों की अपेक्षा से पाँच-पाँच भेद करने पर (36X5) 180 भेद हुए। इसकी चारणा इस प्रकार है - जीव स्व-रूप से काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा की अपेक्षा नित्य है। ये नित्यपद के पाँच भेद हुए और इसी प्रकार अनित्य पद के भी पाँच भेद हुए। 10 भेद जीव के स्व-रूप से नित्य अनित्य की अपेक्षा से हुए। इसी प्रकार जीव के पर-रूप से नित्य तथा अनित्य की अपेक्षा से करने पर कुल 20 भेद हुए। शेष सभी तत्त्वों की इसी प्रकार संयोजना करनी चाहिये। इन सबका संकलन करने पर कुल 180 (20X9) भेद होते है।[12]

आचार्य अकलंक ने क्रियावाद के कुछ आचार्यों का नामोल्लेख किया है - मरीचि कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वादवलि, माठर, मौद्गलायन आदि।[13]

सम्यग्क्रियावाद एवं उसके प्ररूपक - वृत्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन की 12वीं गाथा से 16वीं गाथा तक की वृत्ति में सम्यग्क्रियावाद एवं उसके मार्गदर्शक का निरूपण किया है। इनसे चार तथ्य फलित होते है -

1. लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।
2. चारों गतियों के जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख पाते है तथा स्वत: संसार में परिभ्रमण करते है- काल, ईश्वर से प्रेरित होकर नहीं।
3. संसार-सागर स्वयंभूरमण समुद्र के समान दुस्तीर्ण है।
4. तीर्थंकर लोकचक्षु है, धर्म के नायक है, सम्यग्क्रियावाद के प्ररूपक है, उन्होंने संसार और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप बताकर सम्यग्क्रियावाद की प्ररूपणा की है। अथवा जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों के अस्तित्व-नास्तित्व की काल आदि पाँच कारणों के समवसरण (समन्वय) की सापेक्ष प्ररूपणा की है, इसलिये वे इस भाव समवसरण के प्ररूपक है।[14]

अज्ञानी मनुष्य कर्म से कर्म को क्षीण नहीं करते है। मेधावी लोभ और मद से अतीत होते है। सन्तोषी मनुष्य पाप नहीं करता।

वे तीर्थंकर लोक के अतीत, वर्त्तमान और भविष्य को यथार्थ रूप में जानते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। वे दूसरों के नेता है। वे स्वयंबुद्ध होने के कारण दूसरों के द्वारा संचालित नहीं है। वे भव का अन्त करने वाले है।

जिससे सभी जीव भय खाते है - उस हिंसा से उद्विग्न होने के कारण वे स्वयं हिंसा नहीं करते, दूसरों से भी नहीं करवाते। वे धीर पुरुष सदा संयमी और विशिष्ट पराक्रमी होते है, जबकि कुछ पुरुष वाग्वीर होते है; कर्मवीर नहीं।[15]

उपरोक्त तीन सूत्रगाथाओं में सम्यग्क्रियावाद के सम्बन्ध में पाँच रहस्य प्रस्तुत किये गये है -

1. क्रियावाद के नाम पर पापकर्म करने वाले कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।
2. कर्म का सर्वथा क्षय करने हेतु महाप्राज्ञ साधक सावद्य एवं निरवद्य सभी कर्मों के आगमन को रोककर अन्त में सर्वथा अक्रिय (योग रहित) अवस्था में पहुँच जाते है। अर्थात् कथंचित् अक्रियावाद को भी अपनाते है।
3. ऐसे मेधावी साधक लोभमयी क्रियाओं से सर्वथा दूर रहकर यथालाभ सन्तुष्ट होकर पापयुक्त क्रिया नहीं करते।
4. ऐसे मेधावी सम्यग्क्रियावादियों के नेता या तो स्वयंबुद्ध होते है या सर्वज्ञ होते है। उनका कोई नेता नहीं होता। वे लोक के अतीत, अनागत तथा वर्तमान वृत्तान्तों को यथावस्थित रूप से जानते है और संसार के कारणभूत कर्मों का अन्त कर देते है।
5. ऐसे महापुरुष पापकर्मों से घृणा करते हुये प्राणिवध की आशंका से क्रियावाद के नाम पर न तो स्वयं पापकर्म करते है, न दूसरों से करवाते है। वे सदैव पाप कर्म से निवृत्त रहते है। यही उनका ज्ञानयुक्त सम्यग्क्रियावाद है, जबकि अन्यदर्शनी ज्ञान मात्र से ही वीर बनते है, सम्यक क्रिया से दूर रहते है।[16]

प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध के प्रथम समय अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में बौद्धों के कर्मोपचय निषेधवाद का एकान्त क्रियावादी के रूप में उल्लेख किया गया है। जबकि बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय के तृतीय भाग विनयपिटक तथा प्रस्तुत समवसरण अध्ययन के 5/6 श्लोक की चूर्णि एवं वृत्ति में भी बौद्ध दर्शन को अक्रियावादियों की कोटि में परिगणित किया गया है, वह अपेक्षा भेद से समझना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियावाद की समीक्षा

एकान्तक्रियावादी इसलिये मिथ्यादर्शनी है, क्योंकि वे एकान्त रूप से जीवादि तत्त्वों का अस्तित्व स्वीकार करते है। उनके अनुसार जीवादि पदार्थ है ही। जब जीव को एकान्त रूप से स्वीकार किया जाता है, तो यही कहा जा सकता है कि वह सब प्रकार से है किन्तु किसी प्रकार से नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में जीव जैसे अपने स्वरूप से सत् है, उसी प्रकार दूसरे (घटपटादि) रूप से भी सत् होने लगेगा। ऐसा होने से जगत के समस्त पदार्थ एक हो जायेंगे। जगत के समस्त व्यवहारों का उच्छेद हो जायेगा। अत: क्रियावादियों के मन्तव्य के सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते है कि क्रियावादियों का कथन किसी एक अंश तक ही ठीक है कि क्रिया से मोक्ष होता है, आत्मा और सुख आदि है, परन्तु वे सर्वथा है ही, इस प्रकार की एकान्त प्ररूपणा यथार्थ नहीं होने से वे मिथ्यादर्शनी है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 119 : अत्थिति किरियवादी य।*
2. *दशाश्रुतस्कन्ध, दशा - 6, सूत्र - 7 - किरियवादी यांवि भवति, तं जहा- अहियवादी, अहियपण्णे, अहियदिट्ठी, सम्मावादी, नीयावादी संतिपलोगवादी, अत्थि इहलोगे अत्थि पर लोगे .... सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवंति।*
3. *आयारो, 1/5 - से आयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई।*
4. *सूयगडो, 1/12/11-14*
5. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 207*
6. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 218*
7. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. 213 : विज्जया चरणेण पमोक्खो भवति, न तु यथा सांख्या ज्ञाननेवैकेन, अज्ञानिकाश्च शीलनैवैकेन।*
8. *सिद्धसेनद्वात्रिंशिका - 1, कारिका - 29*
9. *ठाणं, 2/40*
10. *उत्तराध्ययन सूत्र - 28/2*
11. *सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा - 119*
12. *(अ) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 206 (ब) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 218*
13. *तत्वार्थवार्तिक - भाग - 2, 8/1, पृ. 562*
14. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 218-220*
15. *सूत्रकृतांग सूत्र - 1/12/15-17*
16. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 210-221*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6

सूत्रकृतांग सूत्र में वर्णित वादों का तुलनात्मक अध्ययन

1. प्राचीन जैनागमों में वर्णित पंचमहाभूतवाद तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद की समीक्षा

सूत्रकृतांग में वर्णित पंचमहाभूतवाद तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद को वृत्तिकार शीलांक ने लोकायत (चार्वाक) दर्शन का अभिमत कहा है। लोकायत दर्शन का भारतीय दार्शनिक चिन्तन में भौतिकवादी दर्शन के रूप में विशिष्ट स्थान है। भारतीय चिन्तन में भौतिकवादी जीवन दृष्टि की उपस्थिति के प्रमाण अतिप्राचीन काल से ही उपलब्ध होते है। भारत की प्रत्येक धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तनधारा में उसकी समालोचना की गयी है। जैन धर्म एवं दर्शन के ग्रन्थों में भी भौतिकवादी जीवनदृष्टि का प्रतिपादन एवं समीक्षा अतिप्राचीन काल से ही मिलने लगती है।

प्राचीनतम आगम साहित्य में मुख्यतया आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित को समाहित किया जा सकता है। ये सभी ग्रन्थ ई.पू. पांचवी शती से लेकर ई.पू. तीसरी शती से बीच निर्मित हुए है, ऐसा माना जाता है।[1]

प्रस्तुत विवेचना में मुख्य रूप से पंचमहाभूतवाद एवं तज्जीव-तच्छरीरवाद की अवधारणा, उसके द्वारा किये गये खण्डनों के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ इन आगामों में उपलब्ध समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की गयी है।

ऋषिभाषित में (ई. पू. 4थी सदी) भौतिकवादी जीवन दृष्टि का प्रस्तुतीकरण बहुत ही विशिष्ट प्रकार का है। उसमें जो दण्डोक्कल, रज्जूक्कल, स्तेनोक्कल, देसोक्कल, सव्वोक्कल के नाम से भौतिकवादियों के पाँच प्रकारों का उल्लेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, वह अन्य किसी भी भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं है।[2] इसी प्रकार सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध एवं राजप्रश्नीय में चावार्क दर्शन की स्थापना और खण्डन के लिये जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे भी महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते है। इसके अतिरिक्त प्राकृत आगमिक व्याख्या साहित्य में मुख्यत: विशेषावश्यकभाष्य (6ठी शती) के गणधरवाद[3] में लगभग 500 गाथाओं में भौतिकवादी चार्वाक दर्शन की विभिन्न अवधारणाओं की समीक्षा महावीर की गौतम आदि 11 गणधरों के मध्य हुए वाद-विवाद के रूप में प्रस्तुत की गयी है, वह भी अतिमहत्त्वपूर्ण है। आगमों की प्राकृत एवं संस्कृत व्याख्याओं यथा-निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति आदि के अतिरिक्त जैन दार्शनिक ग्रन्थों में भी भौतिकवादी जीवन दृष्टि की समीक्षाएँ उपलब्ध है किन्तु इन सबको तो किसी एक किसी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में ही समेटा जा सकता है। अत: इस अध्याय की सीमा मर्यादा को देखते हुए हम अपनी विवेचना को प्राकृत आगम साहित्य तक ही सीमित रखेंगे।

आचारांग में लोकसंज्ञा के रूप में लोकायत दर्शन का निर्देश

जैन आगमों में आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध अतिप्राचीन माना जाता है। इसमें स्पष्ट रूप से लोकायत दर्शन का उल्लेख तो नहीं है किन्तु ग्रन्थ में इसकी समीक्षा की गयी है। सूत्र के प्रारम्भ में कहा गया है कि कुछ लोगों को यह ज्ञात नहीं होता कि मेरी आत्मा पुनर्जन्म (औपपातिक) करने वाली है। मैं कहाँ से आया हूँ और इस जीवन के पूर्ण होने के पश्चात् कहाँ जन्म ग्रहण करूँगा ? सूत्रकार कहते है कि व्यक्ति को यह जानना चाहिये कि मेरी आत्मा औपपातिक है, जो इन दिशाओं और विदिशाओं में संचरण करती है और वही मैं हूँ। वस्तुत: जो यह जानता है, वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।[4] इस प्रकार इस ग्रन्थ में लोकायत दर्शन की मान्यता के विरूद्ध चार बातों की स्थापना की गयी है।

आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करना आत्मवाद है। संसार को यथार्थ और आत्मा को लोक में जन्म-मरण करने वाला समझना लोकवाद है। आत्मा को शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता और नित्य परिणामी मानना क्रियावाद है।

आचारांग में लोकसंज्ञा का त्याग करके इन सिद्धान्तों में विश्वास करने का भी निर्देश दिया गया है। ज्ञातव्य है कि आचारांग में लोकायत या चार्वाक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन का निर्देश लोक संज्ञा के रूप में हुआ है। यद्यपि इनमें इन मान्यताओं की समालोचना की गयी है किन्तु उसकी कोई तार्किक भूमिका प्रस्तुत नहीं की गयी है।

सूत्रकृतांग के प्रथम तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्याय में हमें पंचमहाभूतवाद तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद के उल्लेख प्राप्त होते है, जिसका विस्तृत वर्णन हम पूर्व अध्याय में कर ही चुके है।

उत्तराध्ययन में सत्-असत् की प्रस्तुति

उत्तराध्ययन के चौदहवें अध्याय में चार्वाकों का असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि चार्वाकों का पंचमहाभूत से चेतना की उत्पत्ति का सिद्धान्त वस्तुत: असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त है। यद्यपि उत्तराध्ययन में असत्कार्यवाद का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, वह असत्कार्यवाद के पक्ष में न जाकर सत्कार्यवाद के पक्ष में ही जाता है। जैसे- अरणि में अग्नि, दूध में घृत और तिल में तेल असत् होकर भी उत्पन्न होते है, उसी प्रकार शरीर में जीव भी असत् होकर ही उत्पन्न होता है और उस शरीर का नाश हो जाने पर वह भी नष्ट हो जाता है।[5] चार्वाकों का यह तर्क सर्वथा अयुक्तिसंगत है। यदि असत् से सत् की उत्पत्ति होने लगे तब तो तिल से ही क्यों, बालु से भी तेल निकलना चाहिये परन्तु ऐसा कभी नहीं देखा जाता। अत: पंचभूतों से भी चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आत्मा एक स्वतन्त्र तत्त्व है, जो न कभी जन्म लेता है, न कभी मृत्यु को प्राप्त होता है।

ऋषिभाषित में प्रस्तुत तज्जीव-तच्छरीरवाद

ऋषिभासित सूत्र का 20वाँ उत्कल नामक सम्पूर्ण अध्ययन चार्वाक दर्शन की मान्यताओं के प्रस्तुतीकरण से युक्त है। चार्वाक दर्शन के तज्जीव-तच्छरीरवाद का प्रस्तुतीकरण इस ग्रन्थ में निम्नवत् हुआ है ..... 'पादतल से उपर और मस्तक के केशाग्र से नीचे तथा सम्पूर्ण शरीर की त्वचा पर्यन्त जीव आत्म पर्याय को प्राप्त हो जीवन जीता है। और इतना ही मात्र जीव है। जिस प्रकार बीज के भुन जाने पर उससे पुन: अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार शरीर के दग्ध हो जाने पर उससे पुन: जीव की उत्पत्ति नहीं होती । इसलिये जीवन इतना ही है अर्थात् शरीर की उत्पत्ति और विनाश पर्यन्त ही जीवन है। न परलोक है, न सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फलविपाक है। जीव का पुनर्जन्म भी नहीं होता है। पुण्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और पाप जीव का संस्पर्श नहीं करते है और इस तरह कल्याण और पाप निष्फल है।

इस ग्रन्थ में चार्वाक दर्शन के सन्दर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनमें कर्म सिद्धान्त का उत्थापन करने वाले चार्वाकों के पाँच प्रकारों का उल्लेख हुआ है जो अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में मिलने वाले देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मन:आत्मवाद आदि प्रकारों से भिन्न है। इसमें निम्न प्रकार से पाँच उक्कलों का उल्लेख है -

1. दण्डोक्कल - ये विचारक दण्ड के दृष्टान्त द्वारा यह प्रतिपादित करते है कि जिस प्रकार दण्ड के आदि मध्य और अन्तिम भाग पृथक्-पृथक् होकर दण्ड संज्ञा को प्राप्त नहीं होते है, उसी प्रकार शरीर से भिन्न होकर जीव, जीव नहीं होता। अत: शरीर के नाश हो जाने पर भव/ जन्म परम्परा का भी नाश हो जाता है। उनके अनुसार सम्पूर्ण शरीर में होकर जीव जीवन को प्राप्त होता है।[6] वस्तुत: शरीर और जीवन की अपृथक्ता ही इन विचारकों की मूलभूत दार्शनिक मान्यता थी। दण्डोक्कल देहात्मवादी थे।

2. रज्जूक्कल - रज्जूक्कलवादियों के अनुसार जिस प्रकार रज्जू तन्तुओं का समुदाय मात्र है, उसी प्रकार जीव भी पंचमहाभूतों का स्कन्ध मात्र है। उन स्कन्धों के विच्छिन्न होने पर भव-सन्तति का भी विच्छेद हो जाता है।[7] वस्तुत: ये विचारक पंचमहाभूतों के समूह को ही जगत का मूल तत्त्व मानते थे और जीव को स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। रज्जूक्कल स्कन्धवादी थे।

3. स्तेनोक्कल - ऋषिभासित के अनुसार स्तेनोक्कल भौतिकवादी अन्य शास्त्रों के दृष्टान्तों को लेकर उनकी स्वपक्ष में उद्भावना करके यह कहते थे कि यह हमारा कथन है। इस प्रकार वे दूसरों के सिद्धान्तों का उच्छेद करते थे।

4. देशोक्कल - ऋषिभासित में, जो आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करके भी जीव को अकर्त्ता मानते थे, उन्हें देशोक्कल कहा गया है।[8] आत्मा को अकर्त्ता मानने पर पुण्य-पाप, बन्धन-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन पाती है, इसलिये इस प्रकार के विचारकों को भी आंशिक रूप से उच्छेदवादी ही कहा गया है। सम्भवत: ऋषिभासित ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो आत्म अकर्त्तावादियों को उच्छेदवादी कहता है। वस्तुत: ये सांख्य और औपनिषदिक वेदान्त के ही पूर्व रूप थे।

5. सव्वुक्कल - सर्वोत्कुल अभाव से ही सबकी उत्पत्ति बताते है। ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई तत्त्व नहीं है, जो सर्वथा सर्व प्रकार से सर्व काल में रहता हो। इस प्रकार ये सर्वोच्छेदवाद की संस्थापना करते थे।[9] जो लोग शून्य या अभाव से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे, वे सर्वोत्कूल थे। सम्भवत: यह बौद्ध ग्रन्थों में सूचित उच्छेदवादी दृष्टि का कोई प्राचीनतम रूप था, जो तार्किकता से युक्त होकर बौद्धों के शून्यवाद के रूप में विकसित हुआ होगा।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ऋषिभाषित में जो शरीर पर्यन्त आत्मपर्याय मानने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, वही जैनों द्वारा आत्मा को देह परिमाण मानने के सिद्धान्त का पूर्व रूप प्रतीत होता है क्योंकि इस ग्रन्थ में शरीरात्मवाद के निराकरण के समय इस कथन को स्वपक्ष में भी प्रस्तुत किया गया है। इसमें जो देहात्मवाद का निराकरण किया गया है, वह ठोस तार्किक आधारों पर स्थित नहीं है। मात्र यह कह दिया गया है कि जीव का जीवन शरीर की उत्पत्ति और विनाश की काल सीमा तक सीमित नहीं है।

राजप्रश्नीय में चार्वाक मत का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा

आचार्य मलयगिरि ने रायपसेणीय सूत्र को सूत्रकृतांग का उपांग माना है। उनका मन्तव्य है कि सूत्रकृतांग में क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी प्रभृति पाखण्डियों के 363 मत प्रतिपादित है। उनमें से अक्रियावादी मत को आधार बनाकर राजा प्रदेशी ने केशी श्रमण से जो प्रश्नोत्तर किये थे, उनका उल्लेख राजप्रश्नीय सूत्र में मिलता है। तज्जीव-तच्छरीरवाद की स्थापना एवं समीक्षा भी इसी प्रश्नोत्तर में विस्तृत रूप में वर्णित हुई है।

रायप्रश्नीय में चार्वाक दर्शन का जो प्रस्तुतीकरण उपलब्ध होता है, ठीक यही चर्चा हमें बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में बुद्ध और 'राजा पसाणीय' के बीच होने का उल्लेख मिलता है।[10] जैन आगमों में इस चर्चा को पार्श्वापत्य परम्परा के, महावीर के समकालीन आचार्य केशीकुमार श्रमण और राजा पायासी तथा बौद्ध त्रिपिटक में बुद्ध और पायासी के बीच सम्पन्न हुआ बताया जाता है। यद्यपि कुछ जैन आचार्यों ने पयेसी का संस्कृत रूप प्रदेशी मान लिया है। किन्तु देववाचक, सिद्धसेन गणि, मलयगिरि और मुनिचन्द्रसूरि ने राजा प्रसेनजित को ही माना है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक लगता है।[11] प्रसेनजित को श्वेताम्बिका (सेयविया) नगरी का राजा बताया गया है, जो इतिहास सिद्ध है। उनका सारथी चित्त केशी कुमार को श्रावस्ती से यहाँ केवल इसलिये लेकर आया था कि राजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की भौतिकवादी जीवन दृष्टि को परिवर्तित किया जा सके। कथा-वस्तु की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा तार्किकता की दृष्टि से इसे भी प्रस्तुत विवेचन में समाहित किया गया है। चार्वाक दर्शन के देहात्मवादी दृष्टिकोण के समर्थन में और उसके खण्डन के लिये तर्क प्रस्तुत करने वाला प्रथम ग्रन्थ राजप्रश्नीय सूत्र है। यही एक मात्र ऐसा प्राकृत आगम ग्रन्थ है, जो चार्वाक दर्शन के उच्छेदवाद और तज्जीव-तच्छरीरवाद के पक्ष और प्रतिपक्ष, दोनों के सन्दर्भ में तर्क प्रस्तुत करता है। राजप्रश्नीय में चार्वाकों की इन मान्यताओं के पूर्व पक्ष को और उनका खण्डन करने वाले उत्तर पक्ष को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है -

राजा प्रदेशी (प्रसेनजीत)-हे केशी कुमार श्रमण ! यदि आप श्रमण निर्ग्रन्थों की ऐसी मान्यता है कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है किन्तु यदि ऐसी मान्यता नहीं है कि जो जीव है, वही शरीर है, तो मेरे दादा अत्यन्त अधार्मिक थे। आपके कथनानुसार वे अवश्यमेव नरक में उत्पन्न हुए होंगे। मैं अपने पितामह का अत्यन्त प्रिय पौत्र था। अत: पितामह को आकर मुझसे यह कहना चाहिये कि हे पौत्र ! मैं तुम्हारा पितामह था और इसी सेयविया (श्वेताम्बिका) नगरी में अधार्मिक यावत् प्रजाजनों से राजकर लेकर भी उनका यथोचित रूप से पालन नहीं करता था। इस कारण अतीव कलुषित पाप कर्मों का संचय करके मैं नरक में उत्पन्न हुआ हूँ। किन्तु हे पौत्र ! तुम अधार्मिक नहीं होना। प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन, रक्षण में प्रमाद मत करना, और न कलुषित, मलिन पाप कर्मों का संचय करना।

हे भदन्त ! मैं आपके कथन पर तभी श्रद्धा एवं प्रतीति कर सकता हूँ कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न है, जब मेरे पितामह आकर मुझे कहे। लेकिन यदि पितामह आकर नहीं कहते, तब तक मेरी यह धारणा अचल है कि जो जीव है, वही शरीर है।

केशी श्रमण - हे प्रदेशी ! यदि तुम अपनी रानी सूर्यकान्ता देवी को स्नानादि कर, आभूषणों से विभूषित होकर किसी अन्य पुरुष के साथ कामभोगों को भोगते हुए देख लो तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे?

प्रदेशी - हे भगवन् ! मैं उस पुरुष के हाथ पैर काट डालूँगा, उसे शूली पर चढ़ा दूँगा अथवा उसे जीवन रहित कर दूँगा।

केशी श्रमण -हे राजन् ! यदि वह पुरुष तुमसे यह कहे- स्वामी घड़ी भर रूको। तब तक मेरे हाथ-पाँव न काटो, जब तक कि मैं अपने मित्र,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञातिजनों को यह बता न आऊँ कि मैं ऐसे पाप कर्म करने से यह दण्ड भोग रहा हूँ अत: तुम ऐसे पाप कर्म न करना, जिससे ऐसी सजा भोगनी पड़े। हे राजन्! क्या तुम उस पुरुष की बात क्षण मात्र के लिये भी मानोगे ?

प्रदेशी - हे भदन्त ! मैं उसकी बात नहीं मान सकता क्योंकि वह पुरुष अपराधी है।

केशी श्रमण - हे राजन् ! इसी प्रकार नरक में उत्पन्न तुम्हारे पितामह तुम्हें प्रतिबोध देने के लिये आना चाहकर भी यहाँ आने में असमर्थ है। नारकीय जीव निम्न चार कारणों से पृथ्वी लोक पर नहीं आ सकते -

1. उनमें नरक से निकलकर मनुष्य लोक में आने का सामर्थ्य ही नहीं होता।
2. नरकपाल उन्हें नरक से बाहर निकलने की अनुमति नहीं देते।
3. नरक सम्बन्धी अशाता वेदनीय कर्म के क्षय नहीं होने के कारण वे वहाँ से निकल नहीं पाते।
4. उनका नरक सम्बन्धी आयुष्य कर्म जब तक क्षीण नहीं होता तब तक वे वहाँ से निकल नहीं सकते।

अतएव हे प्रदेशी ! तुम यह मान्यता रखो कि जीव और शरीर दोनों भिन्न-2 है।

ज्ञातव्य है कि दीघनिकाय में भी नरक से मनुष्य लोक में न आ पाने के इन्हीं चार कारणों का उल्लेख किया गया है। केशी श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने दूसरा तर्क प्रस्तुत किया -

प्रदेशी - हे श्रमण ! मेरी दादी अत्यन्त धार्मिक थी। आपके मतानुसार वह अवश्य ही स्वर्ग में उत्पन्न हुई होगी। मैं अपनी दादी की आँखों का तारा था। अत्यन्त प्रिय था। अत: उसे यहाँ आकर मुझे यह बताना चाहिये कि मैं अपने पुण्य कर्मों के अनुसार स्वर्ग में उत्पन्न हुई हूँ। तुम भी मेरे जैसा धार्मिक जीवन जीओ, जिससे विपुल पुण्य का संचय करके स्वर्गलोक में उत्पन्न हो सको। चूँकि मेरी दादी ने स्वर्ग से आकर ऐसा उपदेश नहीं दिया। अत: मैं यह नहीं मानता कि जीव अलग और शरीर अलग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केशी श्रमण - हे राजन्! तुम यदि स्नान, बलिकर्मादि से निवृत्त होकर देवकुल में प्रविष्ट हो रहे हो, उस समय कोई पुरुष शौचालय में खड़ा होकर कहे कि हे स्वामिन्! कुछ समय के लिये यहाँ आओ, मेरे पास बैठो तो क्या तुम उसकी बात मानोगे? निश्चित रूप से तुम उस स्थान पर जाना पसन्द नहीं करोगे। इसी प्रकार हे राजन्! देवलोक में उत्पन्न देव वहाँ के दिव्य कामभोगों में इतने मूर्च्छित, गृद्ध और आसक्त हो जाते है कि वे मनुष्य लोक में आने की इच्छा ही नहीं करते। दूसरा, देवलोक सम्बन्धी दिव्य कामभोगों में मस्त हो जाने के कारण मनुष्य सम्बन्धी प्रेम भी विच्छिन्न हो जाता है। अत: वे मनुष्य लोक में नहीं आ पाते। तीसरा, देवलोक में उत्पन्न देव वहाँ की कामक्रीड़ा में मूर्च्छित होने के कारण अभी जाता हूँ, अभी जाता हूँ, ऐसा सोचते ही रह जाते है और उतने समय में अल्पायुष्य वाले मनुष्य मरण को प्राप्त हो जाते है। क्योंकि देवलोक का एक दिन-रात मनुष्य लोक के सौ वर्षों के बराबर होता है अत: एक दिन का भी विलम्ब होने पर यहाँ मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और मनुष्य लोक इतना दुर्गन्धित और अनिष्टकर है कि दादी के स्वर्ग से नहीं आने पर यह श्रद्धा रखना उचित नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-2 नहीं है।

प्रदेशी - भगवन्! एक चोर को मैंने जीवित ही लोहे की कुम्भी में बन्द करवाकर अच्छी तरह से लोहे से उसका मुँह ढक दिया। फिर उस पर गरम लोहे और रांगे का लेप करवा दिया तथा उसकी देख-रेख के लिये अपने विश्वासपात्र पुरुषों को रख दिया। कुछ दिनों पश्चात् मैंने उस कुंभी को खुलवाया तो देखा कि वह मनुष्य मर चुका था किन्तु उस कुंभी में कोई भी छिद्र, दरार या विवर नहीं था जिससे उसमें बन्द पुरुष का जीव बाहर निकला हो। अत: जीव और शरीर एक ही है।

केशी श्रमण - हे राजन्! एक ऐसी कुटागारशाला हो, जो अच्छी तरह से आच्छादित हो, उसका द्वार गुप्त हो, यहाँ तक कि उसमें कुछ भी प्रवेश नहीं कर सके। यदि उस कुटागारशाला में कोई व्यक्ति जोर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से भेरी बजाये तो तुम बताओ कि वह आवाज बाहर सुनाई देगी या नहीं ? निश्चय ही वह आवाज सुनायी देगी। राजन्! जिस प्रकार निश्छिद्र मकान में से आवाज बाहर आती है, उसी प्रकार जीव पृथ्वीशिला तथा पर्वत को भी भेदकर बाहर जा सकता है। क्योंकि जीव अप्रतिहत गति वाला है।

उल्लेखनीय है कि अब यह तर्क विज्ञान सम्मत नहीं रह गया है। यद्यपि आत्मा की अमूर्त्तता के आधार पर राजा के तर्क का प्रत्युत्तर दिया जा सकता है। केशी कुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया-

प्रदेशी - भगवन् ! मैंने एक पुरुष को प्राण रहित करके एक लौह कुंभी में डलवा दिया तथा ढक्कन से उसे बन्द करके उस पर शीशे का लेप करवा दिया। कुछ समय पश्चात् जब उस कुंभी को खोला गया तो उसे कृमिकुल से व्याप्त देखा किन्तु उसमें कोई दरार या छिद्र नहीं था, फिर वे कीडे वहाँ कैसे आ गये ? अत: ज्ञात होता है कि जीव और शरीर भिन्न नहीं है।

केशी श्रमण - राजन् ! जिस प्रकार लोहे के गोले में छेद नहीं होने पर भी अग्नि उसमें प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार जीव भी अनिरूद्ध गतिवाला होने से कहीं भी प्रवेश कर जाता है। इससे जीव और शरीर की एकता सिद्ध नहीं होती।

प्रदेशी - हे श्रमण श्रेष्ठ ! एक व्यक्ति धनुर्विद्या में कुशल है, किन्तु वही व्यक्ति बाल्यावस्था में एक भी बाण नहीं छोड सकता था। यदि बाल्यावस्था और युवावस्था में जीव एक होने से एक सदृश शक्ति होती तो मैं समझता कि जीव और शरीर भिन्न है।

केशी श्रमण -राजन् ! धनुर्विद्या में निष्णात कोई व्यक्ति नये धनुष बाण द्वारा जितनी कुशलता दिखा सकता है, उतनी कुशलता वह पुराने एवं जीर्ण-शीर्ण धनुष-बाण से नहीं दिखा सकता। अर्थात् धनुर्विद्या में कुशल व्यक्ति के शक्तिशाली होने पर भी उपकरणों के अभाव में वह अपनी शक्ति नहीं दिखा सकता। इसी प्रकार बाल्यावस्था में शक्ति की कमी के कारण व्यक्ति अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं कर सकता। युवावस्था में बाल्यावस्था की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षा शक्ति एवं ऊर्जा अधिक होती है।

प्रदेशी - भदन्त ! कोई युवक लोहे, सीसे या जस्ते का भार अच्छी तरह से उठा सकता है किन्तु वृद्धावस्था आने पर वही व्यक्ति भार वहन करने में असमर्थ हो जाता है। दोनों अवस्थाओं में जीव एक ही हो तो ऐसा क्यों होता है ? तरूणावस्था की भाँति वृद्धावस्था में भी भार वहन करने में समर्थ रहता तो अपना कथन अवश्य सत्य होता कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न है।

केशी - यदि किसी हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति के पास नई कावड हो तो वह गुरूतर भार उठाकर ले जा सकता है परन्तु यदि जीर्ण-शीर्ण कावड है, तो वह उससे भार नहीं उठा सकता। यही बात तरूण और वृद्ध के सम्बन्ध में है।

प्रदेशी - भगवन् ! मैंने एक व्यक्ति को जीवित अवस्था में तथा मरने के बाद, दोनों ही दशाओं में तोला किन्तु दोनों के वजन में कोई अन्तर नहीं था। मृत्यु के बाद आत्मा शरीर में से निकलती है, तो उसका वजन कुछ तो कम होना चाहिये ?

केशी श्रमण -राजन् ! वायु सहित और वायु रहित मशक में न्यूनाधिकता दृष्टिगत नहीं होती क्योंकि वायु अगुरुलघु है। उसी प्रकार जीव भी अगुरूलघु होने से जीवितावस्था और मृतावस्था में किये गये तौल से उसमें नानात्व सिद्ध नहीं होता। अत: हे प्रदेशी! तुम आस्था रखो कि शरीर और जीव भिन्न-भिन्न है। एक नहीं है।

हालाँकि यह तर्क अब वैज्ञानिक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि वैज्ञानिक यह मानते है कि वायु में वजन होता है और यह भी प्रयोग करके देखा गया है कि जीवित और मृत शरीर के वजन में अन्तर पाया जाता है। उस युग में सूक्ष्म तुला के अभाव के कारण यह अन्तर ज्ञात नहीं होता होगा। विमर्शणीय है कि वैज्ञानिक युग में जीवित और मृत शरीर में अन्तर पाया जाना जितना सत्य है, जीव और शरीर को भिन्न-भिन्न मानने की मान्यता भी उतनी ही सत्य है।

प्रदेशी - हे महामुने ! एक बार मैंने एक चोर को पकडकर उसके सभी अंगों के दो, चार यावत् असंख्य टुकड़े कर डाले तब भी मुझे जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिखायी नहीं दिया। अत: शरीर से पृथक् जीव की सत्ता असिद्ध है।

केशी श्रमण -हे राजन् ! तू बड़ा मूढ़ मालूम होता है। मैं तुझे एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। एक बार कुछ वनजीवी साथ में अग्नि लेकर एक बड़े जंगल में पहुँचे। उन्होंने अपने एक साथी से कहा -हम जंगल में लकड़ी लेने जाते है। तू इस अरणी (लकड़ी) से आग लगाकर हमारे लिये भोजन बनाकर तैयार रखना। यदि अग्नि बुझ जाये तो लकड़ियों को घिसकर अग्नि जला देना। संयोगवश उसके साथियों के चले जाने पर थोड़ी ही देर बाद आग बुझ गयी। अपने साथियों के आदेशानुसार वह लकड़ियों को चारों और से उलट-पुलट कर देखने लगा। लेकिन आग कही नजर नहीं आयी। उसने अपनी कुल्हाड़ी से लकड़ियों को चीरा, उसके छोटे-छोटे टुकड़े किये, फिर भी आग दिखायी नहीं दी। वह निराश होकर बैठ गया और सोचने लगा कि देखो, मैं अभी तक भी भोजन तैयार नहीं कर सका। इतने में उसके साथी जंगल से लौट आये। उसने उन लोगों से सारी बातें कही। उसमें से एक चतुर साथी ने कुल्हाड़ी लेकर शर बनाया और शर से अरणि काष्ट को रगड़कर आग की चिंगारी प्रकट की। फिर उसे धोंक कर सुलगाया और उन सभी के लिए भोजन बनाया।

हे प्रदेशी ! जैसे लकड़ी को चीर कर आग पाने की इच्छा रखने वाला मनुष्य मूर्ख था, वैसे ही शरीर को चीरकर जीव देखने की इच्छा रखने वाले तुम भी कुछ कम मूर्ख नहीं हो। तुम्हारी प्रक्रिया उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है, जैसे अरणि को चीर-फाड़ करके अग्नि को देखने की क्रिया। अत: हे राजन् ! तुम श्रद्धा रखो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है।

प्रदेशी -हे श्रमण ! जैसे कोई व्यक्ति अपनी हथेली पर आँवला स्पष्ट रूप से दिखाता है, वैसे ही क्या आप जीव दिखा सकते है ?

केशी श्रमण - हे पएसी ! इस समय हवा चलने से तृण, घास, वृक्षादि वनस्पतियाँ हिल-डुल रही है, काँप रही है, स्पन्दन कर रही है, क्या तुम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्हें इसी प्रकार देख रहे हो?

प्रदेशी - हाँ भगवन् ! मैं ऐसा ही देख रहा हूँ।

केशी - क्या, इन्हें कोई देव, असुर आदि हिला रहा है ?

प्रदेशी - नहीं भगवन् ! न इन्हें कोई व्यक्ति हिला रहा है, न कोई अन्य शक्ति। ये वायु के बहने से हिल-डुल रही है।

केशी - हे प्रदेशी ! क्या तुम उस मूर्त्त, काम-राग-मोह युक्त शरीरधारी वायु को देख सकते हो ?

प्रदेशी - भदन्त ! मैं उसे नहीं देख सकता।

केशी - राजन् ! जब तुम इस रूपधारी (मूर्त्त), सशरीर वायु के रूप को भी नहीं देख सकते हो, तो इन्द्रियातीत ऐसे अमूर्त्त, शरीर रहित जीव को हाथ में रखे आँवले की तरह कैसे देख सकते हो?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अशरीरी जीव, परमाणु, शब्द, गन्ध और वायु इन आठ पदार्थों को उनकी समस्त पर्यायों सहित अर्हन्त, जिन, केवली ही जानते है, देखते है, छद्मस्थ नहीं। अत: हे प्रदेशी ! तुम श्रद्धा करो कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न है।

प्रदेशी - भदन्त ! क्या हाथी और चींटी में एक समान जीव होता है ?

केशी - हाँ राजन् ! एक समान होता है। जैसे कोई व्यक्ति कमरे में दीया जलाये तो वह कमरा सम्पूर्ण प्रकाशित हो जाता है। यदि उसे बर्तन से ढक दिया जाये तो वह बर्तन को ही प्रकाशित करता है। परंतु दीपक दोनों स्थानों पर वही है। स्थान विशेष की दृष्टि से उसका प्रकाश संकुचित और विस्तृत होता है। यही बात हाथी और चींटी के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। संकोच और विस्तार में उसकी प्रदेश संख्या न्यूनाधिक नहीं होती बल्कि समान ही रहती है।

केशी श्रमण के अकाट्य तर्कों को सुनकर राजा प्रदेशी की तज्जीव-तच्छरीरवादी मान्यता 'जो जीव है, वही शरीर है' छिन्न-भिन्न हो गयी। अन्त में उसने प्रतिबोध को प्राप्त कर श्रावक व्रत ग्रहण किये। इस प्रकार केशी श्रमण तथा प्रदेशी के संवाद के माध्यम से तज्जीव-तच्छरीरवाद का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत आगम में प्राप्त होता है।[12]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *जैन साहित्य का बृहद इतिहास भाग - 1, भूमिका - पृ. 39*
2. *इसिभासियाइं, अध्याय - 20*
3. *विशेषावश्यक भाष्य, गाथा - 1549-2024*
4. *आचारांग सूत्र - 1, 1/1/3*
   एवमेगेसिं जं णातं भवति - अत्थि में आया उववाइए।
   से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी॥
5. *उत्तराध्ययन सूत्र - 14/18*
   जहा य अग्गी अरणी उऽसन्तो खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु।
   एमेव जाया सरीरंसी सत्ता समुच्छइ नासई नावचिट्ठे॥
6. *इसिभासियाइं, अध्ययन - 20*
7. *वही*
8. *वही*
9. *वही*
10. *दीघनिकाय, नव नालन्दा विहार, नालन्दा, पयासी सुत्त।*
11. *राजप्रश्नीय (मधुकर मुनि) भूमिका पृ. 18*
12. *(अ) डॉ. सागरमल जैन, अभिनन्दन ग्रन्थ पृ. - 217 से 223*
    (ब) जैन आगम साहित्य, मनन और मीमांसा पृ. - 206 से 215

2- नियतिवाद का अन्य आगमों में प्रस्तुतीकरण

सूत्रकृतांग सूत्र में वर्णित नियतिवाद का उल्लेख संक्षेप अथवा विस्तार से, नामोल्लेख पूर्वक या नामरहित अन्य अनेक आगम ग्रन्थों में उपलब्ध है। सूत्रकृतांग में नियतिवाद के प्रस्तोता के रूप में गोशालक का कही भी नाम नहीं है परन्तु भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में एवं उपासक दशा के छठे तथा सातवें अध्ययन में आजीवक मत प्रवर्त्तक नियतिवादी गोशालक के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसी प्रकार स्थानांग, समवायांग तथा औपपातिक में भी सामान्य रूप से इसका उल्लेख हुआ है। भगवान महावीर के समय में यह बहुत प्रसिद्ध और शक्तिशाली श्रमण सम्प्रदाय था।

गोशालक के लिये मंखलिपुत्र एवं मक्खलिपुत्र इन दोनों शब्दों का प्रयोग होता रहा है। जैन शास्त्रों में मंखलिपुत्र शब्द प्रचलित है, जबकि बौद्ध परम्परा में मक्खलिपुत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। हाथ में चित्रपट लेकर उनके द्वारा लोगों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को उपदेश देकर अपनी आजीविका चलाने वाले भिक्षुक जैन परम्परा में मंख कहे गये है।

भगवती में यों तो अनेक स्थानों पर आजीवक मत संस्थापक अन्ययूथिक या नियतिवादी के रूप में गोशालक का उल्लेख है, परन्तु 15वें शतक में जो विस्तृत वर्णन है वह इस प्रकार है -

गोशालक का जन्म सरवण नामक ग्राम में रहने वाले वेद विशारद गो बहुल ब्राह्मण की गोशाला में हुआ था। और इसीलिये उसके पिता मंखलिमंख एवं माता भद्रा ने अपने पुत्र का नाम गोशालक रखा। गोशालक जब युवा हुआ एवं ज्ञान-विज्ञान में परिपक्व हुआ तब उसने अपने पिता का धन्धा मंखपना स्वीकार किया। गोशालक स्वयं गृहस्थाश्रम में था या नहीं, इसके विषय में प्रस्तुत प्रकरण में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। चूँकि वह नग्न रहता था, इससे लगता है कि वह गृहस्थाश्रम में न रहा हो। जब महावीर दीक्षित होने के बाद विचरण करते-करते राजगृह के बाहर बुनकर बास में ठहरे तब उनके पास ही मंखलिपुत्र गोशालक भी ठहरा हुआ था। इससे मालूम होता है कि मंख भिक्षुओं की परम्परा महावीर के पूर्व से विद्यमान थी।

भ. महावीर केवलज्ञान होने के पश्चात् विचरण करते हुये चौदहवें वर्ष में श्रावस्ती नगरी में पधारे। गोशालक भी घूमता-घूमता पुनः इसी नगरी में आ पहुँचा। इस प्रकार गोशालक का भगवान महावीर के साथ छप्पन वर्ष की आयु में पुनः मिलना हुआ।

इस शतक में यह बताया गया है कि जब भगवान महावीर के प्रथम मासक्षमण का पारणा विजय गाथापति द्वारा हुआ तब उस पारणे के प्रभाव से पाँच दिव्य प्रकट होने के चमत्कारिक प्रभाव से आकर्षित होकर गोशालक ने परमात्मा के पास जाकर उनसे अपने आपको शिष्य के रूप में स्वीकारने की प्रार्थना की, परंतु वे मौन रहे। बाद में जब घूमते-घूमते महावीर कोल्लाग सन्निवेश पहुँचे तब वह फिर उन्हें ढूँढता-ढूँढता वहाँ जा पहुँचा और उनसे पुनः अपना शिष्य बनाने की प्रार्थना की। करूणा के सागर महावीर ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। बाद में वह छः वर्ष तक भगवान के साथ-साथ घूमता रहा।

भावी अनेक अनर्थों के कारणभूत अयोग्य गोशालक को भगवान ने अपना शिष्य क्यों बनाया ? इस प्रश्न का समाधान वृत्तिकार इस प्रकार देते है कि भगवान उस समय तक पूर्ण वीतरागी नहीं थे। अतएव परिचय के कारण उनके हृदय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में स्नेहगर्भित अनुकम्पा उत्पन्न हुई। छद्मस्थ होने के कारण भविष्यत्कालीन दोषों की ओर उनका उपयोग नहीं लगा अथवा भवितव्यता ही ऐसी थी। अत: उसे शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया।[1]

एक बार वे घूमते हुए कुर्मग्राम नगर में आये। जहाँ वैश्यायन नामक बाल तपस्वी निरन्तर छठ-छठ तप करता हुआ दोनों भुजाएँ ऊँची उठाकर, सूर्य के सम्मुख आतापना ले रहा था। सूर्य की गर्मी से उसके सिर से जुए नीचे गिर रही थी, जिसे प्राण, भूत, जीव और सत्वों की दया के लिये वह बार-बार उठाकर पुन: वहीं रख रहा था। गोशालक उसे देखकर छेड़खानी करने लगा कि आप तत्त्वज्ञ है या जुओं के शय्यातर (स्थान-दाता) है ?

दो-तीन बार ऐसा कहने पर कुद्ध हुए तपस्वी ने गोशालक को लक्ष्य में रखकर तेजोलेश्या छोड़ी तो भगवान ने उसका प्रतिसंहरण करने के लिये शीतलेश्या का प्रयोग किया। यहाँ उसने भ. महावीर से तेजोलेश्या लब्धि प्राप्त करने का उपाय पूछा। भगवान से एतद्विषयक विधि जानकर उसने वह लब्धि प्राप्त की। तेजोलेश्या का प्रशिक्षण लेने के बाद उसके सिद्ध हो जाने पर गोशालक का अहंकार दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया।

इस बीच एक घटना और घटित हुई, जिसने गोशालक के जीवन को पतन के गर्त में धकेल दिया। गोशालक ने एक तिल के पौधे को लेकर उसकी निष्पत्ति के विषय में पूछा- भगवन् ! यह तिल का पौधा निष्पन्न होगा या नहीं ? इन सात तिल पुष्पों के जीव मरकर कहाँ उत्पन्न होंगे ?

भगवान ने प्रत्युत्तर दिया - गोशालक ! यह तिलस्तवक निष्पन्न होगा। ये सात तिल के पुष्प मरकर इसी तिल के पौधे की तिलफली में सात तिलफलों के रूप में उत्पन्न होंगे।

गोशालक ने भगवान के कथन पर अश्रद्धा कर भगवद् वचन को मिथ्या सिद्ध करने की कुचेष्टा से उस तिल के पौधे को समूल उखाड़ कर फेंक दिया। परन्तु संयोगवश वृष्टि हुई जिससे तिल का पौधा वहीं जम कर वह पुन: उगा और बद्धमूल होकर वही प्रतिष्ठित हो गया। वे सात तिल पुष्पों के जीव भी मर कर पुन: उसी तिल के पौधे की एक फली में सात तिल के रूप में उत्पन्न हुए।

कुर्मग्राम से पुन: सिद्धार्थ ग्राम जाते समय गोशालक ने भगवान को मिथ्यावादी सिद्ध करने के लिये पौधे को उखाड़ने की बात कही, तब भगवान ने कहा - हे गोशालक ! तूने मेरी प्ररूपणा को झूठा साबित करने की चेष्टा की थी, परन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह पौधा दिव्य जलवृष्टि से निष्पन्न हुआ है। सात तिल पुष्प के जीव भी मरकर उसी तिल के पौधे की तिलफली में सात तिल के रूप में उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार वनस्पतिकायिक जीव मरकर पुन: उसी वनस्पति के शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं।

तब गोशालक ने उस तिलफली को तोड़कर हथेली में मसलकर सात तिल बाहर निकाले। उस समय भगवान का वचन सत्य सिद्ध हो जाने पर दुराग्रह वश सब जीवों के परिवर्त-परिहार सिद्धान्त को स्थापित किया। भगवान ने वनस्पतिकायिक जीवों के परिवृत्य अर्थात् मरकर पुन: उसी में बार-बार उत्पन्न होने का कथन किया था किन्तु गोशालक मिथ्या आग्रह वश सभी जीवों के लिये एकान्त रूप से परिवृत्य-परिहारवाद रूप मिथ्या मान्यता को लेकर भगवान से पृथक् विचरने लगा। तेजोलेश्या को प्राप्त कर अहंकारवश जिन और अर्हत् न होते हुये भी अपने आपको जिन कहने लगा। अपने पास आने वाले के जीवन विषयक निमित्त कथन और भूत-भविष्य के कथन से मूढ़ समाज उसके प्रति आकर्षित होने लगा।

मंखली पुत्र गोशालक जब श्रावस्ती में अपनी अनन्य उपासिका हला-हला कुम्हारीन के यहाँ ठहरा हुआ था, उस समय छ: दिशाचर उसके पास शिष्य भाव से दीक्षित हुए। यथा - शोण, कनन्द, कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायु पुत्र अर्जुन। इन दिशाचरों के विषय में वृत्तिकार कहते है कि ये भगवान महावीर के ही पथभ्रष्ट शिष्य थे। चूर्णिकार का कथन है कि ये छ: दिशाचर पासत्थ अर्थात् पार्श्वनाथ की परम्परा के (पार्श्वापत्य) थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को इस मंख परम्परा एवं मंखलि पुत्र गोशालक का विशेष परिचय न था इसलिये वे भगवान से मंखलिपुत्र का अथ से इति तक वृत्तान्त जानने की प्रार्थना करते है। उस समय तेजोलेश्या लब्धि का धारक नियतिवादी गोशालक हलाहला कुम्भकारी के वहाँ जमकर उत्सूत्र प्ररूपणा करता था। अपने वास्तविक स्वरूप को छुपाकर भगवान के समक्ष धृष्ट होकर अपने अहंकार का प्रदर्शन करता था। भगवान ने उसे चोर के दृष्टान्त से समझाया भी था, परन्तु उसका प्रभाव उल्टा ही हुआ। एक दिन रोष और आक्रोश से भरकर भगवान के समक्ष मरने मारने की धमकी देने पहुँच गया। भगवान के दो शिष्य सर्वानुभूति और सुनक्षत्र ने जब गोशालक के समक्ष प्रतिवाद किया तो गोशालक ने तेजोलेश्या के प्रहार द्वारा एक को जलाकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भस्मीभूत कर दिया, दूसरे अणगार तुरन्त भस्म न होकर घायल हो गये। वे क्षमापना प्रतिक्रमण पूर्वक समाधि मरण को प्राप्त हुए।

इसके पश्चात् भी भगवान ने गोशालक को बहुत समझाया कि जिसने तुम्हें प्रव्रजित कर बहुश्रुत बनाया, उसके साथ तुम्हारा यह व्यवहार योग्य नहीं है। ऐसा सुनकर क्रुद्ध गोशालक ने भगवान पर तेजोलेश्या फेंकी परन्तु भगवान को मारने के लिये छोड़ी गयी तेजोलेश्या उन्हें क्षति न पहुँचाकर आकाश में उछलकर, नीचे लौटकर पुनः गोशालक के शरीर में ही प्रविष्ट हो गयी और बार-बार उसे जलाने लगी। अपने ही तेज से पराभूत होकर उसने भगवान को छः माह के अन्त में पित्तज्वर से ग्रस्त होकर दाह पीड़ावश मरने की धमकी दी तो भगवान ने जनता में मिथ्या प्रचार की सम्भावना को लेकर प्रतिवाद किया कि - हे गोशालक! तेरी तपोजन्य तेजोलेश्या से पराभूत होकर मैं छः मास के अन्त में काल नहीं करूँगा, बल्कि अगले सोलह वर्ष पर्यन्त जिन अवस्था में गन्धहस्ती की भाँति पृथ्वी पर विचरण करूँगा। परन्तु हे गोशालक! तू स्वयं तेजोलेश्या से पराभव को प्राप्त होकर सात रात्रियों के अन्त में पित्तज्वर से पीड़ित होकर छद्मस्थ अवस्था में ही काल कर जायेगा।

भगवान के शिष्यों ने गोशालक को तेजोहीन समझकर धर्मचर्चा में उसे पराजित किया। परिणामतः अनेक आजीवक स्थविर गोशालक का साथ छोड़कर भगवान की शरण में चले आये।

गोशालक ने तेजोलेश्या द्वारा भगवान को मारना चाहा था परन्तु वह स्वयं के लिए ही प्राण घातक बन गयी। वह उन्मत्त होकर प्रलाप, मद्यपान, नाच-गान करने लगा। अपने दोषों को ढकने के लिये वह चरमपान, चरमगान आदि आठ चरमों की मन गढन्त कल्पना करने लगा। अचंपुल नामक आजीविकोपासक ने जब गोशालक की उन्मत्त चेष्टाएँ देखी तो विमुख होकर जाने लगा परन्तु उसे स्थविरों ने उटपटांग समझाकर पुनः गोशालक मत में स्थिर किया।

गोशालक ने अपना अन्तिम समय निकट जानकर अपने शिष्य परिवार को शवयात्रा धूमधाम से निकालने की हिदायतें दी परन्तु सातवीं रात्रि के व्यतीत होते-होते गोशालक की मिथ्यादृष्टि छिन्न-भिन्न हो गई। उसकी आत्मा में समकित का दीप जल उठा और उसके उजाले में अपने कुकृत्यों को निहारकर आत्मनिन्दा पूर्वक सभी के समक्ष उत्सूत्र प्ररूपणा का रहस्य उद्घाटित किया। उसने बताया कि वह 'जिन' नहीं है फिर भी अपने आपको 'जिन' कहता था। वह वही मंखली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुत्र गोशालक है, जिसे महावीर ने दीक्षित किया था। वह उन्हीं का शिष्य है। उसने शिष्यों को निर्देश दिया कि उसके मरने पर बायें पैर को मूंज की रस्सी से बाँधे एवं मुँह पर तीन बार थूकें और लोगों में यह घोषणा करें कि यह गोशालक वास्तविक जिन नहीं है अपितु श्रमणों का घातक और पाखण्डी है। इस प्रकार विडम्बना पूर्वक शव का निहरण करें। स्थविरों ने उसके आदेश का औपचारिक पालन ही किया।

इसके पश्चात् भगवान के शरीर में पित्तज्वर का भयंकर प्रकोप हुआ, जिससे सारे शरीर में दाह और रक्तयुक्त दस्तें होने लगी। जनता में इस प्रकार की बातें फैलने लगी कि मंखली गोशालक की तेजोलेश्या से ही यह व्याधि उत्पन्न हुई है, जिससे वे 6 माह में ही मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। यह लोकोपवाद सुनकर सिंह अणगार विह्वल हो उठा। भगवान ने उसे अपने पास बुलाकर उसके मन का समाधान किया तथा रेवती गाथा पत्नी के यहाँ से बिजोरा पाक लाने का आदेश दिया। सिंह अणगार ने हर्षित होकर आदेश का पालन किया। बिजोरापाक के सेवन से परमात्मा का महापीड़ाकारी रोग शान्त हो गया। भगवान के आरोग्य लाभ से चतुर्विध संघ तथा देवलोक आनन्द से पुलकित हो उठा।

यहाँ एक बिन्दु विशेष विमर्शणीय है - चूँकि रेवती ने कोहलापाक भगवान के लिये बनाया था, अत: भगवान ने उस ओद्देशिक आहार को लाने का निषेध किया था, जब कि बिजौरा पाक अपने घर के लिये निर्मित होने से वह आहार ग्रहण योग्य था।[2]

शतक के उपसंहार में इन्द्रभूति गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने गोशालक के भावी जन्मों की झाँकी बतलाकर सभी योनियों और गतियों में अनेक बार भ्रमण करते हुये क्रमश: आराधक बनकर महाविदेह में दृढ़प्रतिज्ञ केवली होकर सिद्ध-बुद्ध होने का कथन किया। एक प्रकार से इस शतक में गोशालक के जीवन के आरोह-अवरोह द्वारा कर्म सिद्धान्त की सत्यता का प्ररूपण है।

उपाशक दशांग के छठे कुण्डकोलिय अध्ययन में गोशालक एवं उसके मत नियतिवाद का निरूपण इस प्रकार हुआ है।

कम्पिलपुर नगर में कुण्डकोलिक नामक गाथापति रहता था।

प्रसंगवशात् भगवान महावीर उस नगर में पधारे। उसने धर्म देशना सुनी और श्रावक धर्म अंगीकार किया। उन व्रतों का पालन करता हुआ वह उत्तम गृहस्थ जीवन जीने लगा। एक दिन दोपहर में धर्मोपासना के भाव से अशोक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाटिका में जाकर अपनी मुद्रिका एवं उत्तरीय वस्त्र उतारकर धर्मध्यान में संलग्न हो गया। उसी समय उसकी श्रद्धा को विचलित करने के लिये एक देव प्रकट हुआ। वह मुद्रिका तथा उत्तरीय को आकाश में स्थित कर कहने लगा- मंखलिपुत्र गोशालक की धर्म विधि अच्छी है। उसमें उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम आदि का कोई महत्त्व नहीं है। जो कुछ होने वाला है, वह सब नियत है, निश्चित है। भगवान महावीर के सिद्धान्त इसलिये उत्तम नहीं है, क्योंकि वहाँ उत्थान, बल, वीर्य आदि सभी का स्वीकार है। गोशालक के मत में प्रयत्न से जो कुछ किया जाता है, वह व्यर्थ है। जब वीर्य नहीं, तो बल नहीं, कर्म नहीं। कर्म के बिना सुख-दुःख कैसा ? जो भी होता है, भवितव्यता से ही होता है।

यह सुनकर कुण्डकौलिक ने कहा - हे देव ! तुमने जो दिव्य ऋद्धि, समृद्धि, सुख-साधन प्राप्त किया है, वह सब प्रयत्न से प्राप्त हुआ है, या अप्रयत्न से। यदि देवभव के योग्य पुरुषार्थ किये बिना ही कोई देव बन सकता है, तो सभी जीव देव क्यों नहीं बन गये ? यदि तुम कहो कि दिव्य ऋद्धि प्रयत्न से प्राप्त हुई है, तो फिर गोशालक के सिद्धान्त सत्य कैसे हो सकते हैं, जिसमें प्रयत्न और पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं है ? कुण्डकौलिक के युक्तिबद्ध एवं तर्कपूर्ण वचन सुनकर देव निरूत्तर हो गया तथा अँगुठी एवं उत्तरीय वस्त्र रखकर अपने स्थान पर चला गया।[3]

प्रस्तुत अंग के सातवें अध्याय में गोशालक मतानुयायी सकडाल पुत्र का भी वर्णन उपलब्ध होता है।

पोलासपुर नामक नगर में सकडाल पुत्र नामक कुम्भकार अपनी पत्नी अग्निमित्रा के साथ रहता था। वह अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति आस्थावान् था। एक दिन वह अशोक वाटिका में जाकर धर्मोपसना कर रहा था, तभी वहाँ एक देव आया और आकाश से ही बोलने लगा। कल यहाँ त्रिलोक पूज्य अर्हत्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिन आयेंगे। तुम उनकी पर्यूपासना करना। सकडाल पुत्र ने सोचा - मेरे धर्माचार्य गोशालक यहाँ आयेंगे। मैं उन्हें प्रातिहारिक, पीठ, फलक आदि का निमन्त्रण दूँगा।

दूसरे दिन भगवान महावीर के आने पर सद्दाल पुत्र धर्मदेशना सुनने गया। भगवान ने उसे सुलभ बोधि जानकर प्रतिबोध दिया। कल वाटिका में देव ने जिनके आने की सूचना दी थी, उसका अभिप्राय गोशालक से नहीं था। वह परमात्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान से प्रभावित हुआ। विधिवत् वन्दन कर अपने कर्मशाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में पधारने की प्रार्थना की। भगवान ने उसे सद्बोध देने की इच्छा से वह प्रार्थना स्वीकार कर ली।

भगवान कुम्भकारापण में विहार कर रहे थे। उस समय सद्दालपुत्र घड़ों को धूप में सुखा रहा था। अनुकूल अवसर जानकर भगवान ने सद्दालपुत्र से पूछा - सद्दालपुत्र! ये घड़े कैसे किये जाते है ?

सद्दालपुत्र - भन्ते ! पहले मिट्टी लाते है, उसमें जल मिलाकर रौंदते है, फिर उसमें राख या गोबर मिलाते है। फिर मृत्पिण्ड बना उसे चाक पर चढ़ाते है। इस प्रकार ये घड़े तैयार किये जाते हैं।

भगवान - सद्दालपुत्र ! ये घड़े प्रयत्न, पुरुषार्थ तथा उद्यम से बने है या अप्रयत्न, अपुरुषार्थ और अनुद्यम से ?

सद्दालपुत्र - भन्ते ! ये सब अनुत्थान, अबल, अकर्म, अवीर्य, अपुरुषकार तथा अपराक्रम से बने है। उत्थान, कर्म, बल, वीर्य आदि का कोई अर्थ नहीं है। सब भाव नियत है।[4]

भगवान - सद्दालपुत्र ! तुम्हारे इन सूखते बर्तनों को कोई तोड़ दे, फोड़ दे या तुम्हारी पत्नी के साथ कोई बलात्कार करे तो तुम उसके साथ कैसा व्यवहार करोगे?

सद्दालपुत्र - भन्ते ! मैं उसे दण्डित करूँगा, पीटूँगा, जान से ही मार डालूँगा।

भगवान - सद्दालपुत्र ! सब कुछ नियत है, उत्थान, बल, वीर्य का कोई अर्थ नहीं, तब तुम उस व्यक्ति को दण्डित क्यों करोगे ? सब कुछ नियत और निश्चित मानने पर कोई पुरुष कुछ भी करे, उसमें उसका क्या कर्तृत्व है ? तुम्हारे मन से तुम उसे दोषी नहीं मान सकते। यदि तुम कहो कि वह व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक वैसा करता है, तो प्रयत्न और पुरुषार्थ को सब कुछ नियत मानने का तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या है।[5]

प्रस्तुत संवाद में भगवान का पुरुषार्थवादी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। स्थानांग सूत्र में इसी तथ्य को स्पष्ट किया है। देव, असुर और मनुष्यों के एक समय में एक ही उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार अथवा पराक्रम होता है।[6] भगवती के प्रथम शतक में महावीर और गौतम के संवाद में भी उत्थान, बल, वीर्य का अस्तित्व सिद्ध किया गया है।[7]

उत्थान आदि का शब्दार्थ इस प्रकार है -

1. उत्थान - कार्य की निष्पत्ति के लिये प्रस्तुत होना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. कर्म - प्रवृत्त होना।

3. बल - शारीरिक सामर्थ्य।

4. वीर्य - मन, वाणी आदि का संचालन करने वाली शारीरिक ऊर्जा या जीव की शक्ति, आन्तरिक क्षमता।

5. पुरुषकार - मैं ऐसा कर सकता हूँ, इस प्रकार की अवधारणा, पौरुषभिमान।

6. पराक्रम - कार्य निष्पत्ति में सक्षम प्रयत्न।

भगवान के साथ हुए इस छोटे से संवाद से सद्दालपुत्र को यथार्थ बोध प्राप्त हो गया। भगवान के हृदयग्राही तर्कपूर्ण वचनों से संबोध को प्राप्त कर वह उनका अनुयायी बन गया। गोशालक को ज्योंहि मत परिवर्तन की खबर मिली। उसने वहाँ आकर विविध उपायों से उसके हृदय को मोड़ने का प्रयास किया परन्तु सद्दालपुत्र की आस्था अचल रही। मायावी देव ने भी उसकी परीक्षा ली। जीवन के अन्तिम क्षणों में उसने समाधिपूर्वक मरण का वरण किया और स्वर्ग को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार कुण्डकौलिक और सद्दालपुत्र प्रकरण के माध्यम से उपासकदशांग में नियतिवाद का प्रतिपादन तथा निरसन करते हुये पुरुषार्थवाद तथा कर्मवाद की महत्ता को प्रस्तुत किया गया है।

इन दोनों धारणाओं के आधार पर एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि भगवान महावीर पुरुषार्थवादी थे अथवा नियतिवादी। पुरुषार्थवाद भी एकान्तवाद है और नियतिवाद भी एकान्त आग्रह है। उन्हें पुरुषार्थवाद तथा नियतिवाद का समन्वय मान्य था। इसलिये उन्होंने सापेक्षता की व्याख्या करते हुए दो प्रकार के कर्म बताये - प्रदेश कर्म और अनुभाग कर्म।[8]

अनुभाग कर्म अर्थात् कर्म पुद्गलों का रस, जो जीव द्वारा संवेद्यमान होता है- प्रदेश कर्म का वेदन अवश्यम्भावी है, परन्तु तीव्र पुरुषार्थ के द्वारा निष्क्रिय बना देने पर अनुभाग का वेदन नहीं भी होता है। अर्थात् अनुभाग में परिवर्तन पुरुषार्थ के बिना सम्भव नहीं है।

भगवती में 'यथा निकरण' के द्वारा भी नियतिवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।[9] वृत्तिकार ने बतलाया है कि कर्म अपने देश, काल आदि नियत कारणों का अतिक्रमण नहीं करता, इसलिये अर्हत द्वारा जिस रूप में दृष्ट है, उसी रूप में उसका विपरिणमन होता है।[10]

जिस रूप में कर्म का बन्ध हुआ, उसी रूप में कर्म का विपाक होगा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह नियत नहीं है, किन्तु अमुक कर्म, अमुक पुरुषार्थ द्वारा, अमुक रूप में बदला जायेगा, यह नियत होता है। अर्हत् के ज्ञान में होने वाला परिवर्तन नियत है। परिवर्तन होना नियति है। किन्तु परिवर्तन करना नियति का काम नहीं है। वह पुरुषार्थ का काम है। इस प्रकार यहाँ नियति और पुरुषार्थ के समन्वय का स्वर मुखरित हुआ है।

इसिभासियाहं के ।।वें अध्ययन का नाम भी मंखलिपुत्र अर्हतर्षि है, परन्तु प्रस्तुत मंखलीपुत्र का उल्लेख आजीवक मत के संस्थापक मंखलीपुत्र गोशालक से भिन्न भ. नेमिनाथ के युग से है, जो उपसंहार की गाथा में स्पष्ट है।[11]

इस प्रकार भगवती सूत्र एवं उपासकदशा सूत्र में आजीवक मत के संस्थापक एवं सिद्धान्तों का पर्याप्त वर्णन उपलब्ध होता है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *भगवती अभयदेव वृत्ति पत्र - 664*
2. *वही पृ. - 691*
3. *उपासक दशांग - अ. - 6 पृ. 129-130 मधुकर मुनि*
4. *उवासगदसाओ - 7/19-24*
5. *वही, 7/25-26*
6. *ठाणं - 1/44*
7. *भगवई - 1/3/147-162*
8. *वही - 1/4/190*
9. *वही*
10. *वही*
11. *इसिभासियाइं अध्ययन*
    पत्येय बुद्ध मिसिणो वीसं तित्थे अरिट्ठनेमिस्स।
    पासस्स य पण्णस वीरस्स विलीण मोहस्स॥

3. आगमों में जगत्कर्तृत्ववाद का उल्लेख एवं उसका खण्डन

मनुष्य ने जब से चिन्तन करना प्रारम्भ किया तब से ही उसके मन में मूल तत्त्व के प्रति जिज्ञासा बनी हुई है। इस सृष्टि का मूल तत्त्व क्या है ? यह खोज चिरकाल से चली आ रही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपनिषद् के ऋषि इस खोज में संलग्न रहे है और उसके आधार पर उन्होंने नाना प्रकार के मत प्रतिपादित किये है। देवकृत, ब्रह्मकृत, प्रजापतिकृत, ईश्वरकृत, स्वयंभूकृत तथा अंडे से उद्भूत जगत् की कल्पना उपनिषद् काल से ही प्रचलित है। इसका उल्लेख सूत्रकृतांग में भी उपलब्ध होता है, जिसका विशद विवेचन 'जगत्कर्तृत्ववाद' में करते हुए हमने जैनदर्शन के अनुसार उसका निराकरण भी किया है।

सृष्टिकर्ता विषयक विभिन्न वैदिक मतवादों का उल्लेख सूत्रकृतांग के अतिरिक्त प्रश्नव्याकरण नामक 10वें आगम सूत्र में भी उपलब्ध है। प्रश्नव्याकरण के अनुसार कुछ असद्भाववादियों का ऐसा कथन है कि -

- यह लोक अंडे से उद्भूत है।
- इस लोक का निर्माण स्वयंभू ने किया है।
- यह समस्त जगत् विष्णुमय है।[1]

सृष्टि रचना के संबंध में भारतीयेतर दार्शनिकों की भी भिन्न-भिन्न धारणाएँ है। ग्रीक दार्शनिक थेलिज जल को जगत् का मूल स्रोत मानते है।[2] जबकि एनेक्जीमेनस के अनुसार वायु समस्त वस्तुओं का आदि और अन्त है।[3] एनेक्जीमेण्डर के अनुसार थिओस नामक उपादान रूप भौतिक पदार्थ, जो पूरे आकाश में व्याप्त था, सृष्टि का आदि और अन्त है। यह पृथ्वी, पानी आदि से भिन्न है।[4]

सृष्टि रचना के सन्दर्भ में दर्शन की धाराओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - अद्वैतवाद तथा द्वैतवाद।

अद्वैतवाद

अद्वैतवादी दार्शनिक चेतन या अचेतन का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जीव और अजीव में से किसी एक तत्त्व का वास्तविक अस्तित्व है। इस विषय में अद्वैतवाद की मुख्य तीन शाखाएँ है -

1. जडाद्वैतवाद, 2. चैतन्याद्वैतवाद और 3. जडचैतन्याद्वैतवाद।

जडाद्वैतवाद - इसके अनुसार जीव की उत्पत्ति अजीव से हुई है। अनात्मवादी चार्वाक और क्रमविकासवादी दार्शनिक इसी मत के समर्थक है।

चैतन्याद्वैतवाद - इसके अनुसार सृष्टि का आदि कारण ब्रह्म है। वैदिक ऋषि कहते है- अप्रत्यक्ष ब्रह्म में ही सद्भाव प्रतिष्ठित है। इसी सत् में सृष्टि के उपादानभूत पृथ्वी आदि निहित है, इसी से उत्पन्न होते है।[5] ब्रह्म तीनों लोकों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अतीत है। उसने यह सोचा कि मैं किस प्रकार लोगों में पैठूँ ? तब वह नाम और रूप में लोगों में प्रविष्ट हुआ।[6]

जडचैतन्याद्वैतवाद - इसके अनुसार जगत् की उत्पत्ति जीव और अजीव इन दोनों गुणों के मिश्रण से हुई है। जडाद्वैतवाद और चैतन्याद्वैतवाद ये दोनों कारणानुरूप कार्योत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते।

द्वैतवाद

द्वैतवादी दर्शन जड और चैतन्य दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व मानते है। इनके अनुसार जड से चैतन्य या चैतन्य से जड उत्पन्न नहीं होता। कारण के अनुरूप ही कार्य का प्रादुर्भाव होता है। जैनदृष्टि के अनुसार विश्व एक शिल्पगृह है। उसकी व्यवस्था स्वयं उसी में समाविष्ट नियमों द्वारा होती है। ये नियम जीव और अजीव के विविध जातीय संयोग से स्वत: निष्पन्न है।

जैनदर्शन के अनुसार सृष्टि रचना की मूल कल्पना ही भ्रमपूर्ण है। उसने जगत् रचना के सन्दर्भ में प्रचलित मिथ्या धारणाओं का विविध अपेक्षाओं से तार्किक निराकरण प्रस्तुत किया है। भगवती सूत्र में वर्णित रोह तथा स्कंदक के सृष्टि विषयक प्रश्न तथा भगवान महावीर के उत्तर से भी जगत् का अनादित्व सिद्ध होता है।

रोह ने जब यह प्रश्न किया कि लोक तथा अलोक इन दोनों में पहले कौन बना तथा पीछे कौन बना, तब भगवान महावीर ने बताया कि लोक, अलोक में पूर्व-पश्चात् का क्रम नहीं है। ये दोनों पहले भी थे और आगे भी होंगे। इन दोनों में शाश्वतभाव है। सृष्टि का यह चक्र पौर्वापर्य सम्बन्ध में मुक्त है। प्रस्तुत समाधान से यही ध्वनित होता है कि सृष्टि का कोई आदिकर्त्ता नहीं है।[7]

जगत् के आदि अनादि के संबंध में स्कंदक की जिज्ञासा भी महत्त्वपूर्ण है। उसने महावीर से पूछा- 'भगवन् ! लोक सान्त है या अनन्त ?' भगवान ने कहा - द्रव्यत: तथा क्षेत्रत: लोक सान्त है। कालत: तथा भावत: लोक अनन्त है।[8]

यहाँ काल की अपेक्षा से किया गया विश्लेषण जगत्कर्त्ता का निषेध करने के साथ जगत् की अनादि विद्यमानता को भी सिद्ध करता है। वास्तव में यह जगत् सदाकाल से है और सदाकाल तक विद्यमान रहेगा।

जमालि ने भी सृष्टि की शाश्वतता और अशाश्वतता के सन्दर्भ में प्रश्न किया है, जिसके समाधान में महावीर ने अपेक्षा से लोक (सृष्टि) को शाश्वत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं अशाश्वत दोनों प्रकार से प्रतिपादित किया है।[9]

'लोक पौर्वापर्य के चक्र से मुक्त है। लोक कालत: अनादि अनंत है। लोक अपेक्षा से शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।' भगवान महावीर के ये तीनों कथन जगत्कर्तृत्ववाद का खण्डन करने के लिये पर्याप्त है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *प्रश्नव्याकरण सूत्र, 1/2/48-49 (मधुकर मुनि)*
2. *Greek Thinkers - by Theoder Gomperz, Vol.1, P. 48*
3. *वही - Vol. 1, P. 51-52*
4. *The principal Upnishads - by Dr. S. Radhakrishan P. 404*
5. *अथर्ववेद - 17/1/19*
6. *शतपथ ब्राह्मण - 1/1/2/3*
7. *भगवती सूत्र - 1/6/290*
8. *वही, 2/1/44-45*
9. *वही,*

4. स्थानांग में वर्णित अक्रियावाद एवं दार्शनिक मान्यताएँ

सूत्रकृतांग सूत्र में वर्णित चार समवसरण में एक अक्रियावादी है। वहाँ उसका अर्थ अनात्मवादी, क्रिया के अभाव को मानने वाला, केवल चित्त शुद्धि को आवश्यक एवं क्रिया को अनावश्यक मानने वाला किया गया है।

स्थानांग सूत्र में अक्रियावादियों के 8 प्रकार बताये है।[1] प्रस्तुत सूत्र में इसका प्रयोग 'अनात्मवादी' और 'एकात्मवादी' दोनों अर्थों में किया गया है। इन आठ वादों में छ: वाद एकान्त दृष्टि वाले है। समुच्छेदवाद तथा नास्तिमोक्ष परलोकवाद, ये अनात्मवाद है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने धर्म्यंश की दृष्टि से जैसे चार्वाक को नास्तिक अक्रियावादी कहा है, वैसे ही धर्मांश दृष्टि से सभी एकान्तवादियों को नास्तिक कहा है -

धर्म्यंशे नास्तिको ह्येको बार्हस्पत्य प्रकीर्तित:।
धर्मांशे नास्तिका ज्ञेया: सर्वेऽपि परतीर्थिका॥[2]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित वादों का संकलन करते समय सूत्रकार के सामने कौनसी दार्शनिक धाराएँ रही है, इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है, किन्तु वर्तमान में उन धाराओं के संवाहक दार्शनिक निम्न है -

1. **एकवादी** - (अ) ब्रह्माद्वैतवादी - वेदान्त
(ब) विज्ञानाद्वैतवादी - बौद्ध
(स) शब्दाद्वैतवादी - वैयाकरण

ब्रह्माद्वैतवादी के अनुसार ब्रह्म, विज्ञानाद्वैतवादी के अनुसार विज्ञान और शब्दाद्वैतवादी के अनुसार शब्द पारमार्थिक तत्त्व है, शेष तत्त्व अपारमार्थिक है, इसलिये ये सारे एकवादी है। अनेकान्तदृष्टि के अनुसार सभी पदार्थ संग्रहनय की दृष्टि से एक और व्यवहारनय की दृष्टि से अनेक है।

2. **अनेकवादी** - वैशेषिक अनेकवादी दर्शन है। इस मतानुसार संसार में सर्वत्र आत्मा व्याप्त है। आत्मा के अतिरिक्त इस संसार में कुछ है ही नहीं। पृथ्वी, जल, तेजादि सभी में आत्मा व्याप्त है। अनेकवाद के अनुसार धर्म-धर्मी, अवयव-अवयवी भिन्न-भिन्न है।[3]

3. **मितवादी** - (अ) जीवों की परिमित संख्या मानने वाले।[4]
(ब) आत्मा को अंगुष्ठ पर्व जितना अथवा श्यामाक तन्दुल जितना मानने वाले। (यह औपनिषदिक अभिमत है।)
(स) लोक को केवल सात द्वीप समुद्र का मानने वाले। (यह पौराणिक अभिमत है।)

4. **निर्मितवादी** - नैयायिक, वैशेषिक आदि लोक को ईश्वरकृत मानते है।[5]

5. **सातवादी** - स्थानांग वृत्तिकार के अनुसार सातवाद बौद्धों का अभिमत है।[6] इसकी पुष्टि सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में 3/4/6 से होती है। चार्वाक का साध्य सुख है, फिर भी उसे सातवादी नहीं माना जा सकता क्योंकि 'सातं सातेण विज्जति' सुख का कारण सुख ही है, यह कार्यकारण का सिद्धान्त चार्वाक के अभिमत में नहीं है। बौद्ध दर्शन पुनर्जन्म में विश्वास करता है और उसकी मध्यम प्रतिपदा भी कठिनाइयों से बचकर चलने की प्रक्रिया है, इसलिये उसे 'सातवादी' माना जा सकता है।

सूत्रकृतांग चूर्णिकार ने भी सातवाद को बौद्धों का सिद्धान्त माना है। 'सातं सातेण विज्जति' इस श्लोक की व्याख्या में उन्होंने लिखा है कि अब बौद्धों का परामर्श किया जा रहा है।[7] भगवान महावीर के अनुसार काय-क्लेश ही सम्मत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। सूत्रकृतांग में उसका प्रतिनिधि वाक्य है 'अत्तहियं खु दुहेण लब्भई' आत्महित कष्ट से होता है। 'सातं सातेण विज्जई' इसी का प्रतिपक्ष सिद्धान्त है। इसके माध्यम से बौद्धों ने जैनों के सामने यह विचार प्रस्तुत किया कि शारीरिक कष्टों की अपेक्षा मानसिक समाधि का सिद्धान्त श्रेष्ठ है। कार्यकारण के सिद्धान्तानुसार उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि दु:ख सुख का कारण नहीं हो सकता इसलिये सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है।

सूत्रकृतांग वृत्तिकार ने भी सातवाद को बौद्धों का अभिमत माना है किन्तु साथ-साथ इसे परीषह से पराजित कुछ जैन मुनियों का भी अभिमत माना है।[8]

6. समुच्छेदवादी - प्रत्येक पदार्थ क्षणिक होता है। दूसरे क्षण उसका उच्छेद हो जाता है, अत: बौद्ध समुच्छेदवादी है।

7. नित्यवादी - सांख्याभिमत सत्कार्यवाद के अनुसार पदार्थ कूटस्थनित्य है। कारणरूप में प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व विद्यमान है। कोई भी नया पदार्थ उत्पन्न नहीं होता है और कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता है। केवल उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है।[9]

8. असत् परलोकवादी - चार्वाक दर्शन मोक्ष या परलोक स्वीकार नहीं करता।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *स्थानांग सूत्र - 8/22*
2. *नयोपदेश, श्लोक - 126*
3. *स्याद्वादमंजरी, श्लोक - 4*
   स्वतोनुवृत्ति व्यतिवृत्ति भाजो, भावा न भावान्तरनेयरूपा।
   परात्मतत्वादतथात्मतत्वाद्, द्वयंवदन्तो कुशला: स्खलन्ति॥
4. *वही, श्लोक - 29*
   मुक्तोपि वाम्येतु भवभवोवा, भवस्थशून्योस्तु मितात्मवादे।
   षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्य, सांख्यस्तथा नाथ यथा न दोष:॥
5. *न्यायसूत्र - 4/1/19-21*
   ईश्वर: कारण पुरुष कर्मफित्यदर्शनात्।
   न पुरुष कर्माभावे फलानिष्पते:। तत्कारितत्वादहेतु
6. *स्थानांगवृत्ति - पत्र - 404*
7. *सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. - 96 : इदानीं शाक्या परामृश्यन्ते।*
8. *सूत्रकृतांग वृत्ति पत्र - 97 एके शाक्यादय: स्वयूथ्या वा लोचादिनोपतमा:।*
9. *सांख्याकारिका - 9*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. भगवती सूत्र में अवतारवाद की अवधारणा का खण्डन

सूत्रकृतांग में अन्यतीर्थिकों के अवतारवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित है। इसके अनुसार कर्मफल से मुक्त आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेने पर भी अपने धर्मशासन की अपूजा देखकर सूक्ष्म व आंतरिक राग-द्वेष के वशीभूत होकर पुन: मनुष्य जन्म धारण करता है। यह मान्यता वैदिक परम्परा में अतिप्राचीन काल से प्रचलित है।

जैनदर्शन का यह ध्रुव सिद्धान्त है कि मोक्ष को आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता। जन्म-मरण से मुक्त आत्मा के अतिरिक्त किसी भी ईश्वरीय आत्मा का अस्तित्व नहीं है, इसलिये 'संभवामि युगे-युगे' जैसा स्वर जैनदर्शन में उच्चरित नहीं है।

गोम्मटसार के अनुसार आजीवक मत में मुक्त जीवों का पुन: अवतार लेना सम्मत है।[1] मल्लिषेणसूरि ने भी इस अभिमत का उल्लेख किया है -

'तथा चाहुरजीविकनयानुसारिण: -

''ज्ञानिनो धर्म तीर्थस्य कर्त्तार: परमं पदम्।
गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थ निकारत:॥''[2]

जैनदर्शन के अनुसार मोक्ष का अर्थ है - कर्मरज से सर्वथा मुक्त होना। ''जब आत्मा कर्ममल रूपी शरीर को अपने से सर्वथा अलग कर देती है, तब उसकी जो अचिन्त्य, स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे मोक्ष कहते है।[3]

कुंदकुंद के अनुसार ''आठों कर्मों को क्षय करने वाले, अनंतज्ञान-दर्शन-वीर्य, सूक्ष्मत्व, क्षायिक सम्यक्त्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व इन आठ गुणों से युक्त सिद्धात्मा (मुक्तात्मा) परमलोक के अग्रभाग में स्थित है।[4]

'सिद्ध बनने के पश्चात् संसार में आकर जन्म-मरण करने की बाधा भी नहीं है। क्योंकि मूर्त अवस्था में ही प्रीति, परिताप आदि बाधाओं की संभावना थी।'[5]

कर्म से मुक्त होने के पश्चात् उनमें पुन: कर्मबंध या संसार की संभावना नहीं होती क्योंकि बंधनरूप कारण का सर्वथा उच्छेद हो जाता है। कारण समाप्त होने पर भी कार्य हो तो जीव का मोक्ष होगा ही नहीं।[6]

भगवती में भी इसी प्रकार की चर्चा उपलब्ध होती है। आर्य रोह ने भगवान से प्रश्न किया- भगवन् ! सिद्ध (मुक्तात्मा) सान्त (अन्त सहित) है या अनन्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अन्तरहित) है ?

भगवान ने इस प्रश्न का समाधान अपेक्षा चतुष्टयी (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) से किया।

- द्रव्यत: सिद्ध एक और सान्त है।

- क्षेत्रत: सिद्ध असंख्य प्रदेशी है। तथा आकाश के असंख्येय प्रदेशों में अवगाहन किये हुए है।

- कालत: सिद्ध सादि-अपर्यवसित है और उसका अंत नहीं है।

- भावत: सिद्ध में अनन्त ज्ञानपर्यव, अनन्त दर्शनपर्यव, अनन्त अगुरुलघुपर्यव है और उसका अंत नहीं है।[7]

प्रस्तुत समाधान में यह स्पष्ट फलित होता है कि एक आत्मा की अपेक्षा सिद्ध जीव की सादि तो है परन्तु इसका कोई चरमबिंदु नहीं है। इसलिये वे सब अपर्यवसित-पर्यवसान रहित (अन्तरहित) होते है। इस अपर्यवसान के सिद्धान्त के द्वारा भगवान महावीर ने अवतारवाद का अस्वीकार किया है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *गोम्मटसार - 38, 69*
2. *स्याद्वादमंजरी - पृ. - 4*
3. *सर्वार्थसिद्धि - 1/4/18*
4. *नियमसार - 72*
5. *तत्वार्थवार्तिक - 10/4/19/644*
6. *तत्वार्थवार्तिक - 10/4/19/642*
7. *भगवती सूत्र - 2/1/48*

6. आगमों में लोकवाद की विचारणा

भारतीय चिन्तन में लोकवाद की चर्चा बड़े विस्तार के साथ हुई है। सूत्रकृतांग में लोकवाद की विचारणा में अन्यतीर्थिकों एवं पौराणिकों की लोक संबंधी मान्यता का प्रतिपादन करते हुए उसका खण्डन किया गया है।

आचारांग में प्रतिपादित लोकवाद की अवधारणा सूत्रकृतांग से कुछ अर्थों में भिन्न है। इसमें लोक शब्द का प्रयोग शरीर, जीव, कषाय, जगत, विषय, जनसमूह आदि अनेक अर्थों में हुआ है। प्रथम शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में 'लोक'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द का 'पौद्गलिक जगत्' अर्थ प्रासंगिक लगता है। आत्मा अमूर्त्त है, इसलिये वह हमें दिखायी नहीं देती। अजीव द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्त्त है, इसलिये 'लोक' शब्द से यहाँ उसकी ही अपेक्षा है।[1]

आचारांग चूर्णिकार ने लोक शब्द का जो अर्थ किया है, वह भी युक्तिसंगत प्रतीत होता है। 'लोकवादी'- जैसे मैं हूँ, इसी तरह अन्य प्राणी भी है। लोक के भीतर ही जीवों का अस्तित्व है, जीव-अजीव लोक समुदय है। इस प्रकार माननेवाला लोकवादी कहा गया है।[2]

स्थानांग में जीव-अजीव द्रव्यों को लोक कहा गया है।[3] समवायांग में भी लोक संबंधी संक्षिप्त विमर्श है। उत्तराध्ययन के अनुसार विश्व के सभी द्रव्यों का आधार लोक है।[4] भगवती सूत्र में लोक की व्याख्या पञ्चास्तिकाय के रूप में की गयी है।

इन्द्रभूति गौतम ने पूछा- भगवन्! लोक क्या है?

महावीर - गौतम! लोक पञ्चास्तिकाय- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय रूप है।[5]

पञ्चास्तिकाय का स्वरूप

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है, इसलिये उसने मूल में दो तत्त्वों को माना है- जीव और अजीव। पञ्चास्तिकाय इन दो का विस्तार है। जीव और अजीव को सांख्य आदि द्वैतवादी दर्शन भी मानते है किन्तु अस्तिकाय का सिद्धान्त भगवान महावीर का सर्वथा मौलिक सिद्धान्त है। जीव की तुलना सांख्य सम्मत प्रकृति से की जा सकती है। आकाश प्राय: सभी दर्शनों में सम्मत है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दो तत्त्व किसी अन्य दर्शन में प्रतिपादित नहीं है। द्रव्य का प्रयोग वैशेषिक दर्शन में मिलता है, किन्तु अस्तिकाय का प्रयोग किसी अन्य दर्शन में उपलब्ध नहीं है। 'अस्तिकाय' यह अस्तित्व का वाचक है। जैसे वेदान्त में ब्रह्म निरपेक्ष अस्तित्व है, वैसे ही जैन दर्शन में ये पाँच निरेपक्ष अस्तित्व है। जैसे पुद्गल के परमाणु होते है, वैसे ही शेष चार अस्तिकायों के भी परमाणु होते है। उनके परमाणु पृथक्-पृथक् नहीं होते, सदा अपृथक् रहते हैं, इसलिये वे प्रदेश कहलाते है।

भगवती में अस्तिकाय का जो स्वरूप मिलता है, वह दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तिकाय

अस्ति शब्द के दो अर्थ है - 1. त्रैकालिक अस्तित्व एवं 2. प्रदेश। काय अर्थात् राशि।

टीकाकार गुणरत्नसूरि ने अस्तिकाय का अर्थ बहुप्रदेशी किया है। जिनके टुकड़े न हो सके, ऐसे अविभागी प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहते है।[6]

पञ्चास्तिकाय का लक्षण

अस्तिकाय के निरूपण में भगवान महावीर की मुख्य चार दृष्टियाँ रही है- द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव। इन दृष्टियों के आधार पर कहा जा सकता है कि सापेक्षता के बिना किसी भी अस्तित्व का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

द्रव्य की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एक द्रव्य है। जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय अनन्त द्रव्य है। एक जीव जीवास्तिकाय नहीं कहलाता। सभी जीवों के समुदय का नाम जीवास्तिकाय है। पुद्गलास्तिकाय का भी यही नियम है।

क्षेत्र की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय लोक प्रमाण है जबकि आकाशास्तिकाय लोक तथा अलोक प्रमाण है। केवली समुद्घात के समय एक जीव के प्रदेश पूरे लोक में व्याप्त हो जाते है।[7] अत: एक जीव को भी क्षेत्र की अपेक्षा से लोक प्रमाण कहा जा सकता है। यह कदाचित्क घटना है।

काल की अपेक्षा से पाँचों अस्तिकाय अक्षय, अव्यय, नित्य, नियत, ध्रुव तथा शाश्वत है।

भाव का अर्थ है - पर्याय। अस्तिकाय चतुष्टय में भाव का निषेधात्मक रूप से निरूपण किया गया है। केवल पुद्गलास्तिकाय में उसका विधायक निरूपण है। भाव की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय ये चारों अवर्ण, अगंध, अरस तथा अस्पर्श वाले है। मात्र पुद्गलास्तिकाय वर्णवान्, गंधवान्, रसवान् तथा स्पर्शवान् है। जीवास्तिकाय चेतन है, शेष चार अचेतन है। पुद्गलास्तिकाय मूर्त है, शेष चार अमूर्त है। अमूर्त का लक्षण है - वर्ण, गंध, रस, स्पर्श का अभाव। मूर्त का लक्षण है - जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से युक्त हो। यह मूर्त तथा अमूर्त का विभाग भी जैनदर्शन में प्राचीनकाल से मान्य रहा है।[8]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय ये चारों असंख्य प्रदेशी है, जबकि आकाशास्तिकाय अनन्त प्रदेशी है।

ठाणं में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश तथा एक जीव- इन चारों का प्रदेशपरिमाण एक समान बताया गया है।[9]

आकाशास्तिकाय के भेद

आकाशास्तिकाय का लोकाकाश तथा अलोकाकाश इन दो भागों में विभाजन जैन दर्शन की मौलिक स्थापना है। भगवती तथा ठाणं में भी आकाश के ये दो भेद बताये गये है।[10]

बृहद् द्रव्य संग्रह के अनुसार जो धर्म-अधर्म, जीव, पुद्गल को अवकाश दे वह लोकाकाश और उस लोकाकाश से बाहर अलोकाकाश है।[11] अलोकाकाश में न जीवद्रव्य है, न अजीव द्रव्य है। वह एक अजीव द्रव्य देश है, अगुरुलघु है तथा अनन्त अगुरुलघु गुणों से संयुक्त है। अनन्त भाग कम सर्वाकाश रूप है।[12]

लोकाकाश तथा अलोकाकाश का विभाजक तत्त्व है- धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय। ये जिस आकाश खण्ड में व्याप्त है, वहाँ गति और स्थिति होती है। जहाँ गति और स्थिति है, वहाँ जीव और पुद्गल का अस्तित्व है। अत: जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म से व्याप्त आकाश खण्ड लोकाकाश है। शेष आकाश खण्ड में किसी भी प्रकार के द्रव्य का अस्तित्व न होने से उसकी संज्ञा अलोकाकाश है।[13] लोकाकाश ससीम है तथा अलोकाकाश असीम है।[14]

धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय की उपयोगिता

जीव की धर्मास्तिकाय में गति तथा अधर्मास्तिकाय में स्थिति होती है, परन्तु वह गति तथा स्थिति का प्रेरक तत्त्व नहीं है। बल्कि उदासीन रूप से सहायक है।

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से प्रश्न किया- 'भगवन्! धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय से जीव को क्या लाभ होता है ?' भगवान ने कहा - धर्मास्तिकाय द्वारा ही जीवों के गमन, आगमन, उन्मेष, मनोयोग, वचनयोग, काययोग की प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त भी जितने चलभाव है, वे सब धर्मास्तिकाय द्वारा ही प्रवृत्त होते है। अधर्मास्तिकाय के द्वारा ही जीव खड़ा रहता है। बैठना, मौन करना, मन को एकाग्र करना, निस्पंद होना,करवट लेना आदि जितने भी स्थिर भाव है, वे सब अधर्मास्तिकाय के कारण है।[15]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे बिजली के तार बिजली को, रेल की पटरी रेल को चलने के लिये प्रेरित नहीं करती अपितु उदासीन भाव से सहायक मात्र होती है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी उदासीन सहायक मात्र बनता है। जैसे छाया यात्रियों को स्थिर होने में सहकारी कारण है, उसी प्रकार स्थित होते जीवों और पुद्गलों को अधर्मास्तिकाय स्थिर होने में उदासीन सहायक बनता है।[16]

गुण की अपेक्षा आकाश अवगाहन गुण वाला है।[17] उत्तराध्ययन में भी आकाश के अवगाहन गुण को ही पुष्ट किया गया है।[18] वह पुद्गलों को अवकाश देता है। जीव उपयोग गुणवाला तथा पुद्गल ग्रहणगुण- समुदित होने की योग्यता वाला है।[19]

भगवती मे कालोदायी[20] आदि अन्यतीर्थिको का भी विवेचन मिलता है, जो पंचास्तिकाय के विषय में सन्देहशील थे। उनका तर्क था- जिसे हम नहीं देखते-जानते, उसका अस्तित्व कैसे हो सकता है ? मद्दुक के प्रकरण से भी इसकी पुष्टी होती है। भगवान् ने मद्दुक से कहा- जिसे इन्द्रिय ज्ञानी नहीं जानता, नहीं देखता, उसका अस्तित्व नहीं होता, ऐसा नहीं है।[21] प्रस्तुत विवेचन से यह फलित होता है कि जो पाँच अस्तिकाय रूप है, वह लोक है। षड्-द्रव्यात्मक लोक की कल्पना पञ्चास्तिकाय का ही विकसित रूप है।

चतुष्टयी की अपेक्षा लोक

प्राचीनकाल में लोक सादि है या अनादि ? सांत है या अनन्त ? यह बहुचर्चित प्रश्न था। इस संबंध में स्कंदक को जिज्ञासा हुई। वे महावीर के पास पहुँचे और इस प्रश्न का समाधान चाहा। भगवान ने कहा- लोक चार प्रकार का है- द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक तथा भावलोक।

द्रव्यलोक - द्रव्य की अपेक्षा यह लोक एक और सान्त है।

क्षेत्रलोक - क्षेत्र की अपेक्षा यह लोक असंख्य कोडा-कोडी योजन तक लम्बा है, असंख्य कोडा-कोडी परिधि वाला है, और अंत सहित है।

काललोक - काल की अपेक्षा यह लोक भूत, वर्त्तमान और भविष्य इन तीनों कालों में शाश्वत है। ध्रुव, नियत, अक्षय, अवस्थित, अव्यय और नित्य है।

भावलोक - भाव की अपेक्षा यह लोक अनन्त - वर्णपर्यायरूप, गन्धपर्यायरूप, रसपर्यायरूप और स्पर्शपर्यायरूप है। इसी प्रकार अनंतसंस्थान-पर्यायरूप, अनंतगुरुलघुपर्यायरूप एवं अनंतअगुरु-लघुपर्यायरूप है। उनका अन्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है।

इस प्रकार द्रव्यलोक एवं क्षेत्रलोक सान्त है, काललोक एवं भावलोक अनन्त है।[22]

लोकालोक का पौर्वापर्य

रोह अणगार ने भगवान से लोक-अलोक के पौर्वापर्य के विषय में प्रश्न किया- भगवन् ! प्रथम लोक और फिर अलोक बना या प्रथम अलोक और फिर लोक बना ? भगवान ने कहा - रोह ! ये दोनों शाश्वत भाव है। इनमें पहले पीछे का क्रम सम्भव नहीं है। जिस प्रकार अण्डे और मुर्गी में पूर्व-पश्चात् का क्रम नहीं है- अनानुपूर्वी है, उसी प्रकार लोक-अलोक में पौर्वापर्य का अभाव है।[23]

लोक की नित्यानित्यता

लोक नित्य है या अनित्य ! इस प्रश्न को बुद्ध ने अव्याकृत कहा है।[24] परन्तु जमालि के इसी प्रश्न का उत्तर भगवान महावीर ने इस प्रकार दिया- जमालि ! लोक शाश्वत (नित्य) भी है और अशाश्वत (अनित्य) भी। तीनों कालों में ऐसा एक भी समय नहीं मिल सकता जब लोक न हो। अतएव लोक शाश्वत अर्थात् नित्य है।

लोक सदा एकरूप नहीं रहता। वह अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में बदलता रहता है, अत: लोक अशाश्वत है, अनित्य है, अध्रुव है।[25]

लोक विषयक शंका को लेकर पार्श्वापत्य स्थविर भगवान महावीर के पास पहुँचे-भगवन् ! लोक में अनन्त रात्रि-दिवस उत्पन्न और विगत होते है अथवा परिमित रात-दिवस उत्पन्न और विगत होते है। भगवान ने दोनों विकल्पों को स्वीकार किया। जो अनन्त है, वह परिमित कैसे ? और जो परिमित है, वह अनन्त कैसे ? इस विरोध का परिहार भगवान ने सापेक्ष दृष्टि से किया।

इस जगत में दो प्रकार के जीव है- साधारण शरीरी और प्रत्येक शरीरी। साधारण शरीरी की अवस्था में अनन्त जीव उत्पन्न होते और मरते है। प्रत्येक शरीरी की अवस्था में परिमित जीव उत्पन्न होते और मरते है। काल जीव का एक स्थिति लक्षण वाला पर्याय है। साधारण शरीरी जीवों की अपेक्षा से अनन्त रात-दिन उत्पन्न होते है और बीत जाते है। प्रत्येक शरीरी जीवों की अपेक्षा से परिमित रात-दिन उत्पन्न होते और बीत जाते है। इस प्रकार असंख्य प्रदेशी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोक में अनन्त रात-दिन अथवा अनन्त जीवों का होना असम्भव नहीं है। आकाश में अवगाहन की क्षमता है और जीवों में परिणति की सूक्ष्मता है, अत: असंख्येय प्रदेशात्मक लोक में अनन्त जीवों का होना सम्भव है।[26]

भगवान महावीर ने यहाँ अर्हत् पार्श्व के सिद्धान्त को उद्धृत करते हुए असंख्येय प्रदेशात्मक लोक का प्रतिपादन किया कि लोक शाश्वत एवं प्रतिक्षण स्थिर भी है और उत्पन्न, विगत (विनाशी) एवं परिणामी भी है। वह अनादि होते हुए अनन्त है और अनन्त होते हुए भी प्रदेशों की अपेक्षा से परिमित है।

भगवती में प्रतिपादित लोकवाद की विस्तृत विचारणा में लोक के विभिन्न अपेक्षाओं से विभिन्न स्वरूप उपलब्ध होते है। लोक नित्य भी है, अनित्य भी है। सान्त भी है, अनन्त भी है। असंख्यप्रदेशी लोक में रात-दिन अनन्त भी है और परित्त-परिमित भी है।

भगवान महावीर की इस निरूपण शैली में विवक्षा भेद अवश्य है पर विरोधाभास नहीं। द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से लोक की यह व्याख्या जैन दर्शन के सापेक्षावाद (स्यादवाद) को ही प्रकट करती है।

पञ्चास्तिकाय रूप लोक का भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से विश्लेषण सूत्रकृतांग में वर्णित पाखंडियों की लोक संबंधी मिथ्या मान्यताओं की निरस्त करके लोक के यथार्थ स्वरूप को प्रतिष्ठित करता है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. *आचारांग भाष्यम् - 1/1/5, पृ.-25*
2. *आचारांग चूर्णि, पृ.-14*
3. *ठाणं - 2/417*
4. *उत्तराध्ययन सूत्र - 28/9*
5. *भगवती सूत्र - 13/4/481*
6. *(अ) षड्दर्शन समुच्चय टीका, 4/9/165*
   (ब) द्रव्य विज्ञान, पृ.-135 (शोध ग्रन्थ)
7. *ठाणं - 8/114*
8. *भगवती - 2/124-135*
9. *ठाणं - 4/495*
10. *(अ). भगवती सूत्र - 2/10/10* *(ब). ठाणं - 2/152*
11. *बृहद्द्रव्यसंग्रह - 22*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

12. भगवती सूत्र - 2/10/12
13. वही, 11/100-108
14. वही, 11/109-110
15. वही, 13/4/24-25
16. लघुद्रव्यसंग्रह - 9
17. (अ). ठाणं - 5/172 (ब). भगवती सूत्र - 2/10/4
18. उत्तराध्ययन सूत्र - 28/9
19. भगवती सूत्र - 2/10/127, 129
20. वही, 71/10/212-220
21. वही, 18/134-142
22. वही, 2/1/45
23. वही, 1/6/290
24. मज्झिमनिकाय - चूलमालूंक्य सुत्तं - 63
25. भगवती सूत्र - 9/233
26. भगवती वृत्ति - 5/254

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7

उपसंहार

जैनागमों की शृंखला में सूत्रकृतांग द्वितीय आगम है। यह आगम तत्वविद्या का प्रतिपादन करने के साथ-साथ दार्शनिक सिद्धान्तों की भी विशिष्ट प्ररूपणा करता है। यद्यपि आचरांग में दर्शन के बीज उपलब्ध होते है, परन्तु जिस विस्तार एवं सर्वांगीण दृष्टिकोण से सूत्रकृतांग में दार्शनिक मान्यताएँ उपलब्ध होती है, वह उसमें नहीं है। यह आगम-ग्रन्थ अध्यात्म शास्त्र का तो महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ है ही पर इस सम्पूर्ण सूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन करने के पश्चात् इसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ अध्यात्म के क्षेत्र में जितना उपयोगी है, उतना ही वर्त्तमान की व्यवस्थाओं में भी प्रासंगिक है।

इस सूत्र का प्रारम्भ आत्मा का बन्धन और उससे मुक्त होने से हुआ है। आत्मा को केन्द्र में रखकर जहाँ जीवन का प्रारम्भ होता है, वहाँ प्रकृति, समाज और स्वयं, सभी के साथ न्याय हो जाता है।

बंधन अनेक प्रकार होते है। शरीर के बंधन तात्कालिक होते हैं, अत: वे नजर भी आ जाते है और उनसे मुक्त होने के उपक्रम भी हो जाते है। परन्तु आत्मा के बंधन चूँकि मात्र परिणाम ही देते हैं, अत: न तो उन्हें जानने का प्रयास होता है और न तोडने का। सच तो यह है कि परिणाम हमें बंधन स्वरूप लगता ही नहीं है।

इसमें बंधन के कारण परिग्रह, हिंसा आदि का उल्लेख है। वर्त्तमान के सन्दर्भ में इन तथ्यों की प्रासंगिकता और बढ़ गयी है। सारी सृष्टि हिंसा और परिग्रह के प्रति आकृष्ट होने के कारण अशान्त और अस्वस्थ हो गयी है। इस सन्दर्भ में आत्मतुला का सिद्धान्त अपनाना चाहिए। सृष्टि मात्र मानव के लिये ही नहीं है। अपितु इसमें सूक्ष्म और विराट्, सभी जीवों को जीने का अधिकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। परन्तु मनुष्य ने अपनी विलासिता के कारण सम्पूर्ण प्रकृति के साथ छेड़खानी करके परिग्रह एवं हिंसा की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है।

आगे इसमें भारतीय दर्शनों की अनेक एकान्त मान्यताओं की व्याख्या करके उनकी विसंगतियाँ बतायी है। यद्यपि सूत्रकृतांग में षड्दर्शन के रूप में एक निश्चित संख्या का निर्धारण उपलब्ध नहीं है और न दार्शनिक मान्यताएँ नामपूर्वक प्रस्तुत है परन्तु धारणाएँ एवं उनका जैन दर्शन के अनुसार खण्डन जरूर उपलब्ध होता है। मूलग्रन्थ में इन दार्शनिक धारणाओं का युक्तिपूर्वक खण्डन करने की अपेक्षा मात्र इतनी ही उपलब्ध होता है कि ये समस्त धारणाएँ एकांगी एवं मिथ्या है। पर क्यों ? इसका कारण तो निर्युक्ति या टीका ही बताती है।

सूत्रकृतांग के प्रथम समय अध्ययन व बारहवें समवसरण अध्ययन में तत्कालीन प्रचलित विभिन्न अन्य दार्शनिक मान्यताओं का निरूपण है।

'समय' अध्ययन के अन्तर्गत जिन वादों का विवेचन है, वृत्तिकार शीलांकाचार्य ने उन्हें भिन्न-भिन्न दार्शनिक नाम दिये है। जैसे- जब सूत्रकार यह कहते है कि 'यह लोक पाँच भूतों का समवाय है' तो उसे चार्वाक नाम दिया गया एवं जब अकारकवाद की चर्चा होती है, तो उसे सांख्यमत के रूप में स्वीकार किया गया। इसी प्रकार अन्य-अन्य धारणाओं के साथ भी भारतीय दर्शनों की नामपूर्वक संगति स्वीकार की गयी है।

जिस प्रकार 'समय' अध्ययन में भारतीय दार्शनिकों की अवधारणा को विश्लेषित किया है, उसी तरह 'समवसरण' अध्ययन में परमात्मा महावीर कालीन चार अन्य वादों को भी व्याख्यायित किया है। समवसरण अध्ययन में मुख्यत: चार वाद है- क्रियावाद-अक्रियावाद-विनयवाद और अज्ञानवाद। प्रस्तुत अध्ययन के गहन विवेचन से यह पता चलता है कि उस समय कितनी-कितनी धारणाएँ और मत-मतान्तर चलते थे और परमात्मा महावीर ने इन सभी मान्यताओं का किस प्रकार से समन्वय करते हुए उस युग को प्रभावित किया था।

मूल आगम में मात्र इनके नाम और उनके विपक्ष में विभिन्न युक्तियाँ उपलब्ध होती है। आगे निर्युक्ति में इनके 363 भेदों का उल्लेख तो उपलब्ध होता है किन्तु कहीं भी इनके प्रस्तोता व मतवादों के नाम उल्लिखित नहीं हे। लगता है- उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने 363 मतवादों की मौलिक अर्थ परम्परा के विच्छिन्न या समाप्त हो जाने के पश्चात् उन्हें गणित की प्रक्रिया के आधार पर समझाने का प्रयास किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीरसेनाचार्य के अनुसार इन 363 मतवादों का विषय दृष्टिवाद (बारहवाँ अंग आगम, जो कालक्रम के साथ विच्छिन्न हो चूका है) में प्रतिपादित है। यद्यपि यह कथन मात्र धवला में ही उपलब्ध होता है, फिर भी दृष्टिवाद नाम से ही इस मान्यता को प्रमाण मिल जाता है कि इसमें समस्त दृष्टियाँ-दर्शनों का विवरण है। चूँकि दृष्टिवाद द्रव्यानुयोग का विषय है, अत: उसमें इस प्रकार की चर्चा होना स्वाभाविक है।

क्रियावाद आदि चारों दार्शनिक अवधारणाएँ आज मात्र साहित्य की चर्चा हो गयी है। व्यवहार में इनका प्रयोग न सम्भव है, न स्वीकार्य। उदाहरण के तौर पर हम समझें कि जैसे विनयवाद है। इसके अनुसार विनय ही श्रेष्ठ और आचरणीय है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए न ज्ञान की आवश्यकता है, न क्रिया की। विनय ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन और माध्यम है। क्या ज्ञान एवं क्रिया शून्य व्यक्ति के लिए मोक्ष प्राप्ति सम्भव है ? इसी प्रकार से अज्ञानवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद आदि तीनों वाद जीवन में सम्भव नहीं है। परमात्मा महावीर इसलिए शाश्वत् है कि उनकी मान्यताएँ मात्र बौद्धिक ही नहीं, व्यावहारिक भी है।

यद्यपि सूत्रकृतांग जैनदर्शन का ग्रन्थ है, फिर भी उसमें जैनेतर मान्यताओं का विवेचन इसलिए प्रासंगिक है कि साधक विभिन्न धारणाओं-मान्यताओं को समझकर यथार्थ को सम्पूर्ण आस्था और श्रद्धा के साथ स्वीकार करें।

सूत्रकृतांग में वर्णित ये वाद आज भी हमें बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, सुत्तनिपात, मज्झिम निकाय, संयुत्तनिकाय एवं महाभारत तथा उपनिषदों में यत्र-तत्र बिखरे हुए प्राप्त होते है। यों देखे तो 2500 वर्ष पूर्व की उस दार्शनिक चर्चा ने इस लम्बे अन्तराल के बाद कितने ही परिवर्त्तन किये है। आर्जीवक जैसे सम्प्रदाय तो विलुप्त ही हो गये है। बौद्ध-सम्प्रदाय अपनी जन्मस्थली भारत को छोड़कर विदेश में ही फला है। फिर भी आत्मकर्तृत्त्ववादी सांख्य, अनात्मवादी चार्वाक आदि दर्शनों की सत्ता आज भी दृष्टिगत होती है। सुखवाद एवं अज्ञानवाद के बीज आज भी पश्चिम की धरती पर महासुखवाद, अज्ञेयवाद एवं संशयवाद के रूप में फल-फूल रहे है।

इन समस्त धारणाओं को जानने और समझने की आवश्यकता तो है ही, क्योंकि जाने बिना साधक के हृदय में इन मिथ्या धारणाओं से मुक्त होने का प्रयास कैसे होगा ? और मिथ्या धारणाओं से मुक्त होकर यथार्थ स्वरूप का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोध और आचरण ही तो प्रस्तुत आगम का लक्ष्य है। अत: यह कहना उपयुक्त होगा कि सर्वांगीण दृष्टि के विकास के लिए ही यहाँ पर सिद्धान्तों का विमर्श प्रतिपादित हुआ है।

इसी प्रकार प्रस्तुत आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम पुण्डरीक अध्ययन में भी समय अध्ययन के ही मतों का पुन: कुछ अन्य युक्तियों के साथ विवेचन उपलब्ध होता है। यह देखकर इस मान्यता की पुष्टि हो जाती है कि उस समय इन मतों का कितना अधिक प्रचलन और बोलबाला रहा होगा।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु, चूर्णिकार जिनदासगणि तथा वृत्तिकार शीलांक ने इन समस्त मिथ्या मान्यताओं का सापेक्ष-दृष्टि से निरसन किया है। एकान्त मान्यता न व्यवहारिक है, न प्रासंगिक। जैन दर्शन समस्त मान्यताओं में 'कथंचित्' या 'भी' शब्द का प्रयोग कर अपनी मान्यता को युक्तियुक्त सिद्ध करता है।

जैनदर्शन समाधान का पर्याय है। जहाँ अन्य सारे दर्शन एक ही पक्ष की स्थापना करते है, वहीं जैनदर्शन स्याद्वाद की स्थापना करता है। और इस सापेक्ष कथन से कषाय-शून्य होने का एक सुनहरा अवसर उपलब्ध हो जाता है।

सूत्रकृतांग में अन्य दर्शनों की मिथ्या मान्यताओं का निरूपण करते हुए उनकी त्रुटियों का तार्किक रूप से विश्लेषण किया है। जैसे- कुछ कहते है, इस सृष्टि में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश इन पंच महाभूतों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ये पाँच तत्त्व शाश्वत, सर्वलोकव्यापी, आदि-अन्त रहित एवं स्वतन्त्र है। इन पाँचों के संयोग से एक नया तत्व उत्पन्न होता है, जिसे आत्मा कहा जाता है। जिस प्रकार पानी से बुलबुला उठता है और उसी में अन्तर्निहित हो जाता है। इसी प्रकार पंचमहाभूतों के संयोग से आत्मा का जन्म होता है और इनके वियोग से आत्मा उसी में विलीन हो जाता है।

पंचमहाभूतवादी इसे विभिन्न तर्कों द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करते है। जब उनसे पूछा जाता है कि पाँच तत्व तो मृत्यु के पश्चात् भी विद्यमान रहते है, फिर मृत्यु क्यों होती है ? तब वे कहते हैं कि जब पाँचों भूतों में से वायु या तेज इन दोनों का या दोनों में से एक का अभाव होता है तो मृत्यु हो जाती है। इसके अतिरिक्त किसी आत्मा जैसे पदार्थ को शरीर से निकलते नहीं देखा गया है।

जैनदशन के इस संबंध में अत्यन्त गम्भीर एवं सटीक समाधान है। उसके अनुसार जब इन भूतों में चेतना का गुण है ही नहीं तो वह प्रकट कहाँ से होगा?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिलों में से तेल निकलता है पर कोई बालू में से तेल निकालना चाहे तो उसका पुरुषार्थ व्यर्थ होगा। रथ चलता है, चाक पर घट घूमता है, तो वह न अपने आप चलता है, न अपने आप घूमता है। उसे भी चलानेवाला या घुमानेवाला चाहिए। इसी प्रकार शरीर स्वयं सक्रिय नहीं है। उसके अन्दर जो सक्रिय तत्व है, वही आत्मा है। परमतत्वचिन्तक श्रीमद् राजचन्द्र के शब्दों में -

आत्मानी शंका करे, आत्मा पोते आप।
शंकानों करनार ते, अचरज एह अमाप॥ —*आत्मसिद्धिशास्त्र*

इस प्रकार अनेक तर्कों द्वारा आत्मा की सिद्धि हो जाती है।

सभी इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न कार्य सम्पादित करती है। उन पाँचों का संकलन रूप ज्ञान पाँच भूतों के अतिरिक्त जिसे होता है, वह तत्त्व आत्मा ही है। अगर मात्र इन भूतों का ही अस्तित्व माना जाय तो पुण्य-पाप, सुकृत्-दुष्कृत् आदि समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हो जायेगी।

पंचमहाभूतवाद से मिलते-जुलते एक और मत का वर्णन यहाँ हुआ है, जिसे तज्जीव-तच्छरीरवाद कहा जाता है। ये दोनों ही वाद चार्वाक मत से मेल खाते है।

ज्ञान-पिण्ड स्वरूप सर्वत्र एक ही आत्मा को माननेवाले एकात्मवाद का भी यहाँ वर्णन हुआ है। इसके अनुसार एक ही ब्रह्मा सम्पूर्ण संसार को अज्ञान के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होता है। 'ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या' का उद्घोष करनेवाले अद्वैतवादियों की इस मान्यता को मिथ्या सिद्ध करते हुए शास्त्रकार कहते है कि इस संसार में प्रत्येक चेतन ही नहीं, अपितु प्रत्येक द्रव्य, चाहे वह जड हो या चेतन, स्वतन्त्र है। अगर आत्मा एक ही है तो सभी की क्रियाएँ, सभी की भावनाएँ एवं सभी का आचार एक समान क्यों नहीं होता ? जबकि हम आचार तथा विचार-भिन्नता कदम-कदम पर प्रत्यक्ष अनुभूत करते है। एक हिंसक है, तो दूसरा स्वर्ग के सुखों में झुलता है। तो क्या ये दृष्टिगत हो रही समस्त भिन्नताएँ मात्र भ्राँति है ?

नि:सन्देह एक ब्रह्म को सत्य मानकर अन्य सम्पूर्ण सृष्टि को माया या अज्ञान का स्वरूप कहा जाय तो अनेकों विसंगतियाँ प्रकट हो जायेगी। वहाँ बन्धन और मोक्ष किसका और कैसे घटित होगा ? जब सब कुछ मिथ्या और माया है, तो एक का पुण्य और दूसरे का पाप क्या है?

यह तर्क या मान्यता तो व्यवहार में भी लागू नहीं हो सकती कि शुद्धात्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का कोई अंश हिंसक, अपराधी या क्रूर हो सकता है जबकि हम इस जगत् में इन्हें देखते है। यह कभी भी नहीं हो सकता कि देव, मनुष्य, पशु, पक्षी सभी में भिन्न आत्माओं की अपेक्षा एक ही आत्मतत्व की सत्ता है।

सूत्रकृतांग में तत्कालीन प्रचलित इस वाद की भी चर्चा और समीक्षा है कि 'आत्मा अकर्ता है।' वह न स्वयं कुछ करती है और न किसी से कुछ करवाती है। अकारवादी जपा-स्फटिक न्यायानुसार ही उसका कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वीकार करते है। स्फटिक मणि के पास लाल रंग का जपा-पुष्प रख देने पर जैसे स्फटिक-मणि श्वेत होने पर भी लाल प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मा भुजिक्रिया से पृथक् होने पर भी बुद्धि के संसर्ग से भोक्ता प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त के अनुगामी दर्शन की भाषा में सांख्य कहे जाते है। वे कर्तृत्व प्रकृति का मानते है। उनके अनुसार आत्मा कूटस्थ-नित्य, सर्वव्यापी है।

जैनदर्शन की इस सम्बन्ध में मान्यता है कि यह कैसे सम्भव है कि कूटस्थ-नित्य होने पर भी आत्मा नाना योनियों में परिभ्रमण करें ? अगर वह किसी क्रिया का कर्त्ता ही नहीं है तो फिर किसके बाँधे हुए शुभ-अशुभ कर्मों को भोगता है? अगर आत्मा को कूटस्थ-नित्य माना जाय तो अगणित विसंगतियाँ उपस्थित हो जायेगी। जो बालक है, वह बालक ही रहेगा। रोगी है, वह रोगी और अज्ञानी है, वह अज्ञानी ही बना रहेगा। अर्थात् जो जिस स्थिति में है, वह उसी स्थिति में रहेगा। जब आत्मा अकर्त्ता है, तो मुक्ति आदि की प्राप्ति की क्रिया कौन करेगा ? तथा शुभाशुभ कर्मों का भोक्ता भी कैसे हो सकेगा ? यदि ऐसा होता है तो एक के पाप का फल दूसरे को मिलेगा, जिससे जगत् में अराजकता, अनैतिकता और हिंसा का ताण्डव नृत्य होने लगेगा। दर्शन की भाषा में यहाँ कृत-प्रणाश तथा अकृत-आगम का दोष आ पड़ेगा। फिर सांख्यमतवादी मानते है कि आत्मा मात्र भोक्ता है। तो क्या उनकी नजर में भोग करना क्रिया नहीं है। जब आत्मा भोग-क्रिया कर सकता है, तो अन्य क्रियाएँ क्यों नहीं कर सकता?

नि:सन्देश सांख्यों का यह मत मिथ्या-आग्रह ही है। इस मिथ्या मान्यता के कारण ये अपनी आत्मा को 25 तत्त्वों का ज्ञाता होने का झूठा भ्रम पालकर एक अपेक्षा से स्वयं की आत्मा के साथ प्रवंचना करते रहते है। इस मिथ्या आग्रह से इस जन्म में भी अज्ञान में डूबकर वे आत्महित नहीं कर पाते और परलोक में भी यथार्थ बोध के अभाव में अज्ञान के गाढ़ अँधकार में ही डूबे रहते है।

वादों की इस विचारणा के क्रम में यहाँ आत्मषष्ठवाद की भी चर्चा की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गयी है। इसके अनुसार पाँच महाभूत तथा छठा तत्त्व आत्मा है। यह एक तरह से वेदवादी सांख्यों एवं वैशेषिकों के सिद्धान्तों की मिली-जुली मान्यता है। पंचमहाभूतवादी जहाँ पंचमहाभूतों को सर्वथा अशाश्वत मानते है, वहीं आत्मषष्ठवादी छहों को सर्वथा नित्य मानते है। नित्य मानने का तर्क देते हुए कहते है कि अगर सर्वथा अनित्य मान ले तो बंध-मोक्ष की तथा पुण्य-पाप की व्याख्याएँ इसमें घटित ही नहीं होगी। प्रस्तुतवादी यह भी मानते है कि ऐसा भी नहीं है कि पहले ये अभाव रूप में थे, फिर कारण मिलने पर भाव रूप हो गये, जैसा कि सांख्यवादी मानते है।

सूत्रकृतांग में इस मान्यता का खण्डन किया गया है। इसके अनुसार अगर किसी भी द्रव्य को सर्वथा शाश्वत मान लिया जाय तो आत्मा में कर्तृत्व परिणाम उत्पन्न नहीं होगा। और जब आत्मकर्तृत्व ही नहीं होगा तो परिणाम कैसे मिलेगा? आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने पर उसमें कथंचित् उत्पत्ति और विनाश का अभाव हो जायेगा, तब जन्मान्तर की स्थिति कैसे बनेगी ? अप्रच्युत, अनुत्पन्न तथा एक स्वभाव वाले आत्मा का संसार-भ्रमण के दौरान गति-परिवर्त्तन भी अशक्य होगा। अत: आत्मा को एकान्त नित्य नहीं कहा जा सकता।

यहाँ बौद्ध दर्शन मान्य क्षणिकवाद के दो रूपों की समीक्षा करते हुए आत्मा की मान्यता का विवेचन तथा जैनदर्शन के अनुसार अनेक तर्कों के द्वारा उसका खण्डन भी मिलता है।

क्षणभंगी पंचस्कन्धवाद की मान्यता है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई स्कन्ध नहीं है। इनके अनुसार ये स्कन्ध क्षणिक है, जो दूसरे ही क्षण समूल नष्ट हो जाते है। स्कन्धों में क्षणिकत्व सिद्ध करने के लिए वे अनुमान प्रमाण का भी प्रयोग करते है। जैसे- स्कन्ध क्षणिक है, क्योंकि वे सत् है। जो-जो सत् होता है, वह-वह क्षणिक होता है। जैसे- मेघमाला।

बौद्धों के अनुसार जो क्षणिक है, उनमें ही अर्थक्रियाकारित्व घटित हो सकता है। अर्थक्रियाकारित्व अर्थात् वस्तु की क्रिया, जैसे- आग की क्रिया है जलाना। नित्य पदार्थ में क्रम से या युगपत् अर्थक्रिया नहीं हो सकती। इसलिए सभी पदार्थों को अनित्य माना जाय तो उनकी क्षणिकता अनायास ही सिद्ध हो जाती है। पदार्थ अपने स्वभाव से उत्पत्ति के क्षण से ही अनित्य उत्पन्न होता है, क्योंकि अगर उत्पत्ति के क्षण से ही कोई विनष्ट नहीं होता है, तो फिर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाद में वह क्यों विनष्ट होगा ? अत: पूर्व पदार्थ उत्तर पदार्थ में अपनी वासना स्थापित करके दूसरे ही क्षण विनष्ट हो जाता है।

क्षणिकवाद के दूसरे रूप चातुर्धातुकवाद के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु, इन चार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ये चारों धातु ही जगत् का धारण-पोषण करते है। ये चारों धातु जब एकाकार होकर भूतसंज्ञक रूपस्कन्ध बन जाते है, शरीर रूप में परिणत हो जाते है, तब इसकी जीव संज्ञा होती है। ये भूतसंज्ञक रूपस्कन्धमय होने के कारण पंच स्कन्धों की तरह क्षणिक है। इससे भिन्न किसी चैतन्य का अस्तित्व नहीं है।

तात्पर्यार्थ यह है कि सांख्यमतवादी पंचभूतों से भिन्न आत्मा को मानते है, पंचमहाभूतवादी पंचभूतों से अभिन्न आत्मा का प्रतिपादन करते है, परन्तु ये क्षणिकवादी बौद्ध न तो पंचभूतों से भिन्न आत्मा को मानते है, न पंचभूतों से अभिन्न। क्षणिकवाद के अनुसार क्रिया करने के क्षण में ही जब आत्मा (कर्त्ता) का समूल नाश हो जाता है, तब आत्मा का क्रियाफल के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार एकान्त क्षणिकवाद मानने पर जो क्रिया करता है, और जो फल भोगता है, इन दोनों के बीच काफी अन्तर होने से कृतनाश तथा अकृत आगम ये दोनों दोष आयेंगे। जब आत्मा ही नहीं है, तब शुभाशुभ कर्मों का फल, बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक आदि की व्यवस्थाएँ भी गड़बड़ा जायेगी। जब मोक्ष का ही अभाव होगा, तब शास्त्रोपदेश तथा तपाचरण आदि सभी प्रवृत्तियाँ भी निरर्थक ही होगी। अत: आत्मा न एकान्त नित्य हो सकता है, न एकान्त अनित्य। जैन दर्शन में प्रत्येक पदार्थ की व्याख्या परिणामीनित्यवाद के आधार पर की जाती है। आत्मा द्रव्य की अपेक्षा नित्य है परन्तु पर्याय की अपेक्षा अनित्य।

इसी क्रम में एक ऐसे वाद की समीक्षा की गयी है, जिसकी काफी मान्यताएँ जैन दर्शन के निकट है और वह है नियतिवाद। नियतिवाद के अनुसार प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, समस्त जीव पृथक्-पृथक् सुख-दु:ख भोगते है। जीव जो कुछ प्राप्त करता है, वह उसके पुरुषार्थ की देन नहीं है अपितु उसकी नियति में ऐसा ही होना है। जीव में ऐसी शक्ति नहीं कि वह इसमें कोई परिवर्त्तन ला सके। कोई नियतिवाद के विरोध में जाकर कितने ही प्रयत्न क्यों न करें, वह सब व्यर्थ है।

नियतिवाद की यह मान्यता तो सत्यस्पर्शी है कि सभी जीवों का अलग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलग अस्तित्व है एवं सभी सुख-दुःख भोगते है। परन्तु जब वे यह कहते है कि प्राणियों द्वारा भोगा जानेवाला सुख-दुःख न तो स्वकृत है, न पर-कृत, अपितु एकान्त नियतिकृत ही है। यह मान्यता एकान्तिक होने से मिथ्या है।

जैनदर्शन के अनुसार सभी सुख-दुःख नियति द्वारा संचालित नहीं होते परन्तु कुछ ही नियतिकृत होते है। कुछ सुख-दुःख पुरुष के उद्योग, काल, स्वभाव और कर्म द्वारा किये हुए होते है। सुख-दुःखादि का कारण कहीं पुरुषार्थ है, तो कही अदृष्ट (कर्म) भी है। आत्मा, धर्माधर्म का अमूर्त्त होना, पुद्गलों का मूर्त्त होना सब स्वभावकृत है।

जैनदर्शन के अनुसार काल, स्वभाव, नियति, कर्म तथा पुरुषार्थ, ये पाँचों कारण प्रत्येक कार्य या सुखादि में परस्पर सापेक्ष सिद्ध होते है। अत: एकान्त रूप से सिर्फ नियति को मानता दोषयुक्त है।

वैदिक धर्म की दो महत्त्वपूर्ण मान्यताएँ है- ईश्वर ही इस जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता और संहर्त्ता है तथा इस धरती पर जब-जब पाप बढ़ता है, तब-तब ईश्वर अवतार लेता है। सूत्रकृतांग में इस मान्यता का प्ररूपण जगत्कर्तृत्ववाद तथा अवतारवाद के रूप में हुआ है।

जब से मानव सोच प्रारम्भ हुई, तभी से जगत् आदि को लेकर उसमें जिज्ञासाएँ उठी कि आखिर इस संसार को किसने बनाया और क्यों बनाया ? लोक का अस्तित्व कब से है?

दर्शन के जगत् को इस प्रश्न ने खूब आन्दोलित किया। भिन्न-भिन्न चिन्तकों ने इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत की। कुछ भारतीय दार्शनिकों की मान्यता है कि लोक को ब्रह्मा ने बनाया क्योंकि वह अकेला था और इस अकेलेपन से ऊबकर इस सृष्टि की रचना की। कुछ इस सृष्टि को ईश्वरकृत, कोई स्वयंभूकृत, तो कोई अण्डे से उत्पन्न भी मानते है। जिसका वर्णन शास्त्रकार ने किया है।

जैनदर्शन की इस सम्बन्ध में स्पष्ट मान्यता है कि यह संसार अनादिकाल से चला आ रहा प्रवाह है। इसका न आदि है, न अन्त। अगर हम इस जगत् की रचना के लिए किसी कर्त्ता की कल्पना करते है तो फिर वह कर्त्ता किसके द्वारा निर्मित है ? इस जगत् में हमें कदम-कदम पर वैषम्य देखने को मिलता है। क्या यह वैषम्य भी किसी ईश्वर या प्रकृति निर्मित है ? अगर ईश्वर ही इस जगत् का स्रष्टा है, तो वह अपनी सृष्टि को इतनी क्रूर, हिंसक या अत्याचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से भरी क्यों बनायेगा ? क्या हमारा श्रद्धा केन्द्र ईश्वर इतना क्रूर है कि वह नरक और तिर्यञ्च जैसी क्रूर गतियों का निर्माण करेगा ?

ईश्वरवादी दर्शन इसके जवाब में कहते है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही बाँधे शुभाशुभ कर्मों के परिणामों को भोगता है। तब उनसे सहज ही पूछने का मन हो आता है कि वे कर्म कहाँ से आते है ? जिस समय ब्रह्मा सृष्टि बनाते है, उस समय क्या वे सकर्मजीव बनाते है या अकर्म ?

नि:सन्देह इस सृष्टि की उत्पत्ति अगर किसी व्यक्ति द्वारा मानी जाय तो विभिन्न समस्याएँ खड़ी हो जायेगी। जैन दर्शन इन समस्त समस्याओं का समाधान एक ही वाक्य में करता है और वह वाक्य है- कि सृष्टि अनादि-अनन्त और परिवर्त्तनशील है। इसका कोई कर्त्ता, हर्त्ता या नियन्ता नहीं है।

अवतारवाद के अनुसार मोक्ष में जाने के पश्चात् भी राग-द्वेष के कारण आत्मा पुन: संसार में आ सकता है। निश्चित ही यह मान्यता किसी भी अपेक्षा से व्यवहारिक नहीं हो सकती। कोई भी आत्मा एक बार शुद्ध होने के बाद पुन: अशुद्ध कैसे हो सकती है ? अगर पुन: अशुद्ध होने की सम्भावना रहे तो कोई भी क्यों शुद्ध होने का प्रयास करेगा ? जैन दर्शन इस सम्बन्ध में बहुत ही व्यवहारिक तर्क प्रस्तुत करता है -जैसे बीज जलने के बाद उसमें से पेड़ होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार कर्मबीज के जल जाने पर संसार में आगमन भी समाप्त हो जाता है। जहाँ से लौटकर नहीं आया जा सकता, उसे ही तो सिद्धि गति कहते है। गीता में श्रीकृष्ण इसी बात को कहते है -

'यद् गत्त्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।'

जहाँ से लौटकर नहीं आया जाता, वही मेरा परम धाम है।

सूक्ष्म भी अगर राग-द्वेष का बीज विद्यमान रहे तो उसके विस्तार की कल्पना की जा सकती है। यहाँ तो एक अंश भी राग-द्वेष रूप कारण नहीं है, फिर पुनर्जन्म रूप कार्य कैसे सम्भव हो सकता है ?

अवतारवाद की इस मिथ्या धारणा के पीछे क्या कारण थे और इसकी कल्पना क्यों की गयी ? इसे प्रस्तुत सूत्र में कहीं स्पष्ट नहीं किया गया है।

सूत्रकृतांग में कुशील मोक्षवादियों की विभिन्न मान्यताओं के साथ उनका खण्डन भी प्रस्तुत किया गया है। क्या यह सम्भव है कि स्नान से या होम से, नमक त्याग से या सेवन से मोक्ष मिले ? परमात्मा महावीर तो सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की हिंसा को भी आत्मा के पतन का कारण मानते है, तो वहाँ माँस-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भक्षण से मोक्ष की कल्पना कैसे युक्तिसंगत हो सकती है?

जैनदर्शन एवं उस परम्परा के समस्त तीर्थंकर मात्र आत्म शोधन और आत्मशुद्धि में ही विश्वास करते है। आत्मशुद्धि का मुख्य आधार है - भावशुद्धि। भावशुद्धि का दूसरा नाम ही मोक्ष है।

सूत्रकृतांग में वर्णित समस्त वाद एकांगी दृष्टिकोण है। जैनदर्शन ने इन सभी एकान्तवादों का समाधान स्याद्वाद के अन्तर्गत ढूँढा है। जैनदर्शन के अनुसार पदार्थ शाश्वत है पर उसका आकार-प्रकार अशाश्वत है। इस मान्यता की स्वीकृति में ही विश्व की समस्त व्यवस्थाएँ व्यवस्थित हो सकती है। इसे जैनदर्शन पर्याय परिणमन के रूप में स्वीकार करता है। पर्याय-परिणमन का सिद्धान्त 'उप्पमेई वा, विगमेइ वा धुवेई वा' का ही पर्यायवाची है।

वादों के गम्भीर वर्णन विश्लेषण से इस ग्रन्थ की उपयोगिता सभी पाठकों एवं तटस्थ अध्येताओं के लिए बढ़ गयी है पर आगमों का मुख्य लक्ष्य, जो कि आत्मशुद्धि है, वह इसके प्रत्येक अध्ययन ही क्यों, बल्कि प्रत्येक सूत्र में नजर आता है।

श्रमण का जीवन, उसकी आहारचर्या का विशद विश्लेषण इस ग्रन्थ में संग्रहित है। संयमी जीवन के प्रारम्भिक क्षणों में ही इस ग्रन्थ के पठन की सूचना है ताकि उसी अनुसार जीवन जीने की प्रेरणा मिले और आत्मा अपने जन्म जन्मान्तर के बन्धनों को तोड़ सके।

सांसारिक आकर्षण में अनादिकाल से हमारी आत्मा उलझी हुई है। उनसे मुक्त होना आसान नहीं है। उसके लिए सतत उसी प्रकार का वातावरण चाहिए। यह आगम ग्रन्थ इसी की पूर्ति करता है। इसमें ऐसे अनेक सूत्र है, जो आत्मा को वैराग्यवासित करते है। नरक का वर्णन पत्थर को भी कंपित कर सकता है। हम अपने जीवन में पलभर की पीड़ा से तिलमिला उठते है जबकि नरक के जीव हजारों-लाखों वर्षों तक प्रतिपल दारूण कष्टों को भोगते है। वहाँ पलभर के लिए भी अगर शान्ति मिलती है, तो वह भी एक उपलब्धि के रूप में रेखांकित होती है। जैसे- तीर्थंकर के कल्याणक प्रसंग में पलभर की शान्ति का वर्णन शास्त्रों में उल्लिखित है।

नि:सन्देह सूत्रकृतांग आगम अपने आप में एक सम्पूर्ण शास्त्र है। इसमें जहाँ अध्यात्म है, वहीं सामाजिक जीवन की व्यवस्था को सुव्यवस्थित चलानेवाले मुद्दे भी है। इसमें जहाँ जैनदर्शन की प्रमुख मान्यताओं का वर्णन-विश्लेषण है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहीं भारतीय संस्कृति में उपजी समस्त मान्यताओं का भी विस्तारपूर्वक विवेचन है।

अगर कोई यह कहे कि एक सम्पूर्ण आगम का नाम बताइये जिसे पढ़ने पर सम्पूर्ण भारतीय दर्शन तथा जैन आचार संहिता का अध्ययन हो सके तो नि:सन्देह सूत्रकृतांग का नाम सर्वप्रथम उभर आता है।

भारतीय संस्कृति मुख्य रूप से आत्मा के इर्दगिर्द ही घूमती है। उसके बंधन एवं उनसे मुक्ति ही प्रत्येक धर्मदर्शन का लक्ष्य है। निश्चय ही सूत्रकृतांग हमारी इन समस्त अपेक्षाओं पर खरा उतरता प्रतीत होता है। सूत्रकृतांग के प्रथम सूत्र में ही कहा है- बंधन को जानकर उन्हें तोड़ने का प्रयास करें। बंधन क्या है और उसे तोड़ने के क्या-क्या उपाय है, तोड़कर जहाँ पहुँचना है, उस सिद्धिगति के सम्बन्ध में क्या अवधारणा है, आदि-आदि विषयों का सम्पूर्ण दार्शनिक एवं तार्किक विश्लेषण इसमें उपलब्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International

For Private & Personal Use Only

www.jainelibrary.org

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अंग साहित्य

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक विवेचक	प्रकाशक	संस्करण
1.	आचारांग सूत्रम् (प्र.श्रु.)	अनु. संपा. मुनि विक्रमसेनविजयजी	श्री भुवन-भद्रंकर साहित्य प्रचार केन्द्र, मद्रास	वि.सं. 2055
2.	आचारांग सूत्र (प्र.तथा द्वि.श्रु.)	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1980
3.	आयारो	सं. मुनि नथमल	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	वि.सं. 2031
4.	सूयगडो भाग 1/2	सं. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	2002/1986
5.	सूयगड सुत्तं - 1	अनु. मुनि ललित प्रभसागरजी	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	1990
6.	श्री सूत्रकृतांगसूत्रम्	अनु. अमोलक ऋषिजी म.	श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया	2002
7.	सूयगडांग सूत्र भाग - 1	गुज. अनु. महासती उर्मिला बाई	श्री गुरुप्राण फाउण्डेशन, श्री रोयल पार्क स्था. जैन मोटा संघ, राजकोट	2000
8.	श्री सूयगडांग सूत्र	सं. पं. उमेशचन्द्रजी म.	श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना	वि.सं.2013
9.	महावीर स्वामी नो संयम धर्म (सूत्रकृतांग का गुजराती छायानुवाद)	स. गोपालदास जीवाभाई पटेल	जैन साहित्य प्रकाशन मण्डल, अहमदाबाद	वि.सं.1992
10.	सूत्रकृतांग सूत्र	सं. पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल	श्री प्रेम जिनागम समिति, घाटकोपर, मुम्बई	
11.	सूयगडांग सूत्र भाग 1/2	अनु. त्रिभोवनदास रूघनाथदास	आकाश शेठना कूँवानी पोल, अहमदाबाद	1899

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

12.	श्री सूयगडांग सूत्र	सं. तपस्वी पं. डुंगरशी म.	श्री अनिलकान्त बटुकभाई भरवाडा, जांबली गली, बोरीवली, मुम्बई	1976
13.	सूत्रकृतांग सूत्र प्र.तथा द्वि.श्रु.	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1982
14.	सूयगडांग सुत्तं	सं. मुनि जंबुविजयजी म.	श्री महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई	1978
15.	सूत्रकृतांग सूत्र प्र.श्रु.	सं. श्री अमरमुनिजी म.	आत्मज्ञान पीठ, जैन धर्मशाला मानसा मण्डी, पंजाब	1979/1981
16.	स्थानांग सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	2001
17.	ठाणं	सं. मुनि नथमल	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	1976
18.	समवायांग सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	2000
19.	समवाओ	सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	1984
20.	व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र- प्र.खण्ड	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1982
21.	व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र- द्वि.खण्ड	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1983
22.	व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र- तृ. खण्ड	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1985
23.	व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र- च. खण्ड	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1986
24.	भगवई विआहपण्णत्ती - 1/2	सं. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ	1994/2000
25.	ज्ञाताधर्मकथा सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1981
26.	नाया धम्मकहाओ	सं. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	2003
27.	उवासगदसाओ	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1980

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

28.	अन्तकृतदशा सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1981
29.	अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1981
30.	प्रश्नव्याकरण सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1983
31.	विपाक सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	2000
32.	अंगसुत्ताणि भाग - 1	सं. मुनि नथमल	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	वि.सं. 2031
33.	आगम गुण मंजुषा	सं. गुणसागर सूरि	श्री जिन गोयमगुण सर्वोदय ट्रस्ट, अमरावती	1999

उपांग, मूल आदि साहित्य

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक, सम्पा., अनु., विवे.	प्रकाशक	संस्करण
34.	औपपातिक सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1982
35.	राजप्रश्नीय सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1984
36.	प्रज्ञापना सूत्र-1/2	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1983/84
37.	आवश्यक सूत्रम्	सं. कन्हैयालालजी म.	स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट	1958
38.	आवश्यक सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1985
39.	इसिभासियाइं सूत्र	सं. मनोहर मुनि जी म.	सुधर्मा ज्ञान मन्दिर, 170, कांदावाडी, मुम्बई-4	1963
40.	उत्तरज्झयणाणि	सं. मुनि नथमल	जैन श्वे. तेरापंथी महासभा, आगम साहित्य प्रकाशन समिति, कलकत्ता	1967
41.	उत्तराध्ययन सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1985

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

42.	दसवेआलियं	सं. मुनि नथमल	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	1974
43.	दशवैकालिक सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1985
44.	नन्दी सूत्र	सं. युवाचार्य मधुकर मुनिजी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	2000
45.	नन्दी सूत्र	सं. मुनि कन्हैयालाल म.	जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट	1958
46.	कल्पसूत्र	सं. प्यारचन्द जी म.	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	
47.	दशाश्रुतस्कन्ध		जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट	1960

निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं वृत्ति साहित्य

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक, सम्पा., अनु., विवे.	प्रकाशक	संस्करण
48.	आचारांग निर्युक्ति	सं. जंबुविजयजी म.	मोतीलाल बनारसीदास इंडोलोजिक ट्रस्ट, दिल्ली	1978
49.	आचारांग (शीलांकवृत्ति)	सं. जंबुविजयजी म.	मोतीलाल बनारसीदास इंडोलोजिक ट्रस्ट, दिल्ली	1978
50.	आचारांग भाष्यम्	भा. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	1974
51.	आचारांग चूर्णि	ले. जिनदासगणि महत्तर	ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम	वि.सं. 1998
52.	आचारांगसूत्रं सूत्रकृतांगसूत्रं च (निर्युक्ति वृत्ति सहित)	सं. मुनि जंबुविजयजी म.	मोतीलाल बनारसीदास इंडोलोजिक ट्रस्ट, दिल्ली	1978
53.	श्रीमत्सूत्रकृतांङ्गम् (निर्युक्ति व वृत्ति सहित)	ले. आचार्य भद्रबाहु तथा शीलांकाचार्य	आगमोदय समिति, मेहसाणा	1917

Jain Education International

For Private & Personal Use Only

www.jainelibrary.org

54.	श्रीमत्सूत्रकृताङ्गम् भाग-1/2 (निर्युक्ति व वृत्ति सहित)	ले. आचार्य भद्रबाहु तथा शीलांकाचार्य	श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मरीन ड्राइव, मुम्बई	वि.सं.2052
55.	श्रीमत्सूत्रकृताङ्गम् (प्र व द्वि.श्रु.) (निर्युक्ति व वृत्ति सहित)	सं. चन्द्रसागरगणि	श्री गोडी पार्श्वनाथ जैन देरासर पेढी, पायधुनी, मुम्बई	1950/53
56.	सूयगडम् (मूलपाठ, निर्युक्ति, पाठान्तर, टिप्पण सहित)	सं. पी.एल. वैद्य	श्री मोतीलाल, पूना	1928
57.	श्री सूत्रकृतांगम् (निर्युक्ति एवं वृत्ति सहित प्र.श्रु.) भाग-1/2/3	अनु. पं. अंबिकादत्त ओझा	श्री महावीर जैन ज्ञानोदय सोसायटी, राजकोट	वि.सं.1993/95
58.	श्री सूत्रकृतांगम् (निर्युक्ति एवं वृत्ति सहित- द्वि.श्रु.) भाग - 4	अनु. पं. अबिकादत्त ओझा	श्री महावीर जैन ज्ञानोदय सोसायटी, राजकोट	वि.सं. 1996
59.	सूत्रकृतांग चूर्णि	ले. जिनदासगणि	ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम	1941
60.	सूत्रकृतांग सूत्र (निर्युक्ति-चूर्णि सहित)	सं. मुनि पुण्य विजयजी म.	प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी - 5	1975
61.	श्री सूयगडांग सूत्र (टीका, दीपिका, बालावबोध सहित)	सं. भीमसिंह माणक	राय धनपत सिंह बहादुर, मुम्बई	वि.सं. 1936
62.	श्री सूत्रकृताङ्ग दीपिका (हर्षकुल गणि रचित) भाग-1/2	सं. कल्याणबोधि विजय संयम बोधि विजय	श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मरीन ड्राइव, मुम्बई	वि.सं. 2049

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

63.	श्री सूत्रकृतांग सूत्र भाग-1/2 3/4 (टीका सहित गुजराती अनु.)	अनु. भिखालाल गिरधरलाल शेठ	श्री जैन सिद्धान्तसभा, शान्ति सदन, मुम्बई	1965 1967
64.	श्री सूत्रकृतांग सूत्र भाग-1/2/3	सं. आचार्य जिनेन्द्रसूरि	श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावल शान्तिपुरी, सौराष्ट्र	भा.1-1992 भा.2/3-1993
65.	सूत्रकृतांग दीपिका	ले. श्रीमद् साधुरंग गणि	गोडी पार्श्वनाथ ग्रन्थमाला	1950
66.	श्री सूत्रकृतांग सूत्र भाग-1/2/3/4 (घासीलालजी कृत टीका)	सं. पं. मुनि कन्हैयालालजी म.	श्री अ.भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट	1969/1971
67.	सूयगडांग सूत्र- सटीक भाषान्तर (गुजराती) भाग-1/2/3	ले. मुनि माणेक	श्री मोहनलालजी जै. श्वे. ज्ञानभण्डार, गोपीपुरा सूरत	1922 1923
68.	स्थानांग वृत्ति	ले. अभयदेव सूरि	सेठ माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद	1937
69.	समवायांगवृत्ति	ले. अभयदेव सूरि	आगमोदय समिति, सूरत	1919
70.	भगवती वृत्ति	ले. अभयदेव सूरि	आगमोदय समिति, भावनगर	1921
71.	आवश्यक निर्युक्ति	आ. भद्रबाहु	श्री भेरूलाल कन्हैयालाल कोठारी ट्रस्ट, मुम्बई	वि.सं. 2038
72.	आवश्यक चूर्णि (पूर्वभाग)	ले. जिनदास गणि	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम	वि.सं.1928
73.	आवश्यक चूर्णि (उत्तरभाग)	ले. जिनदास गणि	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम	वि.सं.1929
74.	आवश्यक वृत्ति	ले. आ. मलयगिरि	आगमोदय समिति, मुम्बई	वि.सं. 1928
75.	आवश्यक वृत्ति भाग- 1-2	ले. आचार्य हरिभद्र	श्री भेरूमल कन्हैयालाल कोठारी ट्रस्ट, मुम्बई	वि.सं. 2038
76.	आवश्यक वृत्ति	ले. आचार्य मलयगिरि	आगमोदय समिति, मुम्बई	वि.सं. 1928

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

77.	अनुयोगद्वार चूर्णि	ले. जिनदासगणि	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम	वि.सं. 1928
78.	अनुयोगद्वार वृत्ति	ले. मलधारी हेमचन्द्रसूरि	श्री केसरबाई ज्ञानमन्दिर, पाटण	1939
79.	अनुयोगद्वार वृत्ति	ले. आचार्य हरिभद्रसूरि	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम	1928
80.	नंदी चूर्णि	ले. जिनदासगणि महत्तर	प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, अहमदाबाद	1966
81.	नंदी वृत्ति	ले. आचार्य मलयगिरि	आगमोदय समिति, मेहसाणा	1980
82.	नंदी हारिभद्रीयावृत्ति	सं. मुनि पुण्यविजयजी म.	प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी	1966
83.	दशवैकालिक (निर्युक्तिवृत्ति)	आ. भद्रबाहु व आ. हरिभद्र	देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भंडागर सं. मुम्बई	1918
84.	दशवैकालिक चूर्णि	ले. जिनदासगणि	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम	1933
85.	निर्युक्ति पंचक खण्ड- 3	सं. समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	1999
86.	उत्तराध्ययन चूर्णि	ले. गोपालगणि	श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम	1933
87.	उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति	ले. श्रीमद् शान्त्याचार्य	देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, मुम्बई	1989
88.	निशीथ भाष्य चूर्णि	ले. जिनदासगणि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1957
89.	व्यवहारभाष्य	सं. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	1996
90.	विशेषावश्यकभाष्य 1-2	ले. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाड़ी, मुम्बई	वि.सं. 2039
91.	बृहत्कल्पभाष्य	सं. मुनि पुण्यविजयजी म.	श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	1933-38
92.	निर्युक्ति संग्रह	सं. आ. जिनेन्द्रसूरि	हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावल शान्तिपुरी, सौराष्ट्र	1989
93.	सभाष्य तत्वार्थ सूत्र	सं. पं. ठाकुरप्रसाद शर्मा	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, मुम्बई	

94.	सर्वार्थ सिद्धि	सं. फुलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली	1991
95.	तत्वार्थ राजवार्तिक भाग-1/2	ले. भट्ट अकलंकदेव	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली	2001
96.	तत्वार्थ (श्रुतसागरीय वृत्ति)	सं. महेन्द्र कुमार जैन	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी	
97.	दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि	ले. जिनदासगणि	मणिविजयजीगणि ग्रन्थमाला, भावनगर	वि.सं. 2011

दार्शनिक ग्रन्थ

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक, सम्पा., अनु., विवे.	प्रकाशक	संस्करण
98.	अभिधर्मकोश	वसुबन्धु	के. पी. रि. इन्स्ट्रीट्यूट, पटना	1967
99.	अभिधम्मपिटक	सं. भिक्षु जगदीश काश्यप	पालि प्रकाशन मण्डल, नालन्दा, बिहार	
100.	अष्टाध्यायी	पाणिनी	निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई	
101.	अष्टपाहुड	ले. कुन्दकुन्दाचार्य	अनन्तकीर्ति माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई	1916
102.	अष्टाविंशत्युपनिषद्	सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री	प्राच्य भारती प्रकाशन, कमच्छा, वाराणसी	
103.	अंगपण्णपत्ति			
104.	अंगुत्तरनिकाय	अनु. भदन्त आनन्द कौसल्यायन्	महाबोधि सभा, कलकत्ता	
105.	अथर्ववेद	सं. श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली	1969
106.	आगम और व्याख्या साहित्य	ले. विजयमुनि शास्त्री	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1964
107.	आगम साहित्य : एक परिशीलन	एच.एल. कापडिया	हीरालाल रसिकदास कापडिया, सूरत	1941
108.	आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन खण्ड - 2	ले. मुनि श्री नगराजजी (डी.लिट्.)	अर्हत् प्रकाशन, अ.भा.श्वे.ते. समाज कलकत्ता	1982

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

109. आगम युग का जैनदर्शन	ले. पं. दलसुखमालवणिया	श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1966
110. आचारांग और महावीर (शोध-प्रबंध)	साध्वी डा. शुभ्रयशा	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	2001
111. आप्त मीमांसा तत्वदीपिका	ले. आचार्य समन्तभद्र	श्री गणेशवर्णी दि.जैन संस्थान, वाराणसी	वि.सं. 2501
112. ईशादि नौ उपनिषद्	सं. हरिकृष्णदास गोयन्का	गीता प्रेस, गोरखपुर	
113. ईशावास्योपनिषद्	अनु. जगदीशचंद, हरिकृष्णदास गोयन्का	गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2017
114. एतरेयोपनिषद्			
115. ऋग्वेद	सं. सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल	1957
116. कठोपनिषद्	हरिकृष्णदास गोयन्का	गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2017
117. कसाय पाहुड	सं.पं. फुलचंद्र, पं. महेन्द्र कुमार	भा.दि.जैन संघ चौरासी, मथुरा	1944
118. गणधरवाद	अनु. पृथ्वीराज जैन	राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर	1982
119. गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	ले. श्री नेमिचन्द्र, सं. पं. खुबचन्द्र	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास	1977
120. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)	ले. श्री नेमिचन्द्र अनु. मनोहरलाल शास्त्री	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास	1999
121. छान्दोग्योपनिषद्	सं. गोखले गणेश शास्त्री	आनन्दाश्रम, पूना	1910
122. छेदसूत्रः एक परिशीलन	आ. देवेन्द्रमुनि	तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर	1993
123. जयधवला	सं. फुलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	वर्धमान मुद्रणालय, गौरीगंज, वाराणसी- 1	

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

124.	जिनवाणी पत्रिका (जिनागम विशेषांक)	सं. डॉ. धर्मचन्द जैन	सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर	2002
125.	जैन आगम- एक परिचय	ले. युवा. श्री मधुकर मुनि	मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर	
126.	जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा	ले. आ. देवेन्द्र मुनि	श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर	1977
127.	जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज	डॉ. जगदीश चन्द्र जैन	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी	1965
128.	जैनदर्शन	डॉ. महेन्द्र कुमारजी जैन	श्री गणेश प्रसादवर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी	1974
129.	जैन दर्शन के मूल तत्व	ले. विजयमुनि शास्त्री	दिवाकर प्रकाशन, अवागढ़ हाउस, आगरा	1989
130.	जैनागम दिग्दर्शन	डॉ. मुनि नगराज	राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर	1980
131.	जैन तत्व मीमांसा	पं. फुलचन्द्र शास्त्री	सिद्धान्ताचार्य फुलचन्द्र शास्त्री फाउण्डेशन, रूडकी	वि.सं.2522
132.	जैन दर्शन का आदिकाल	पं. दलसुख मालवणिया	लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद	1979
133.	जैन दर्शन का समीक्षात्मक अनुशीलन	साध्वी नगीना	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	2002
134.	जैन धर्म के प्रभावक आचार्य	साध्वी संघमित्रा	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	2001
135.	जैन धर्मदर्शन	डॉ. मोहनलाल मेहता	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी	1973
136.	जैन न्याय	पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, दिल्ली	2001

137. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग - 1/2	डॉ. सागरमल जैन	राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर	1982
138. जैन, बौद्ध, धर्म और दर्शन	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद चतुर्वेदी	प्रकाशन केन्द्र, रेल्वे क्रोसिंग, लखनऊ	1979
139. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग - 1	ले. बेचरदासजी दोशी	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी	1989
140. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग - 2	ले. डॉ. मोहनलाल मेहता एवं जगदीश चन्द्र जैन	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी	1966
141. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग - 3	ले. डॉ. मोहनलाल मेहता	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी	1998
142. जैन विद्या के विविध आयाम खण्ड - 6	डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ		
143. ज्ञानार्णव	आ. शुभचंद्र	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास	वि.सं. 2037
144. तत्वार्थ सूत्र	पं. सुखलालजी सिंघवी	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी	1976
145. तत्वार्थ सूत्र (गुजराती)	पं. सुखलालजी सिंघवी	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद	1930
146. तत्व संग्रह	शान्तरक्षित	बौद्ध भारती, वाराणसी	1968
147. तर्क संग्रहः	ले. अन्नभट्ट, सं. डॉ. दयानन्द भार्गव	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	2004

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

148. तर्कभाषा	सं. श्रीनिवास शास्त्री	साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ	1996
149. तैत्तिरीयोपनिषद्		आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना	1898
150. दर्शन-दिग्दर्शन	भिक्षु राहुल सांकृत्यायन		
151. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका	आ. सिद्धसेन दिवाकर	विजय लावण्य सूरि ग्रन्थमाला, बोटाद	1977
152. दीघनिकाय	अनु. राहुल सांकृत्यान	महाबोधि सभा, सारनाथ	1936
153. द्रव्य विज्ञान (शोध प्रबन्ध)	साध्वी डॉ. विद्युत्प्रभा श्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	1944
154. धम्मपद	सं. धर्मानन्द कौसम्बी	कुशीनगर प्रकाशन, देवरिया	1954
155. धवला	ले. वीरसेन आचार्य	जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती	1939-59
156. धर्मसंग्रहणी			
157. नयदर्पण 1/2	ले. जिनेन्द्रवर्णी	दि.जैन पारमार्थिक संस्थान, जवेरीबाग, इन्दौर	1965
158. नयोपदेश	उपा. यशोविजयजी		
159. नियमसार वृत्ति	कुन्दाकुन्दाचार्य	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास	1987
160. न्यायदर्शन	गौतम ऋषि	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली	1986
161. न्यायसूत्र	गौतम ऋषि	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस	1920
162. न्याय बिन्दु	धर्मकीर्ति	साहित्य भण्डार, मेरठ	1975
163. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति	अमृताचंद्राचार्य		
164. जल योगदर्शन	महर्षि पतञ्जलि	गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2017
165. प्रवचन किरणावलि	आचार्य पद्मसूरिजी	श्री जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर	1987

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

166. प्रभावक चरित	सं. मुनि जिनविजयजी	सिंघि जैन ज्ञानपीठ, अहमदाबाद	1940
167. प्रमाण मीमांसा	आचार्य हेमचन्द्रसूरि	सिंघि जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद	1939
168. प्रमाण वार्तिक	धर्मकीर्ति	उड़ीसा रिसर्च जर्नल, पटना	1967
169. प्रमुख जैनागमों में भारतीय दर्शन के तत्व (शोध प्रबन्ध)	साध्वी सुप्रभा	भेरूलाल माँगीलाल धर्मावत, उदयपुर	1994
170. प्रमेय कमल मार्त्तण्ड			
171. प्रशस्तपाद भाष्य	प्रशस्तपादाचार्य	वाराणसेय सं. विश्व. वाराणसी	1963
172. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री	तारा पब्लिकेशन्स कमच्छा, वाराणसी	1966
173. प्राकृत व्याकरण	सं. वज्रसेन विजयजी	भद्रंकर प्रकाशन, महालक्ष्मी सोसाइटी शाही बाग, अहमदाबाद	1994
174. प्राकृत साहित्य का इतिहास	डॉ. जगदीशचन्द्र जैन	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी - 1	1985
175. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका	आ. सिद्धसेन दिवाकर	विजय लावण्य सूरि ग्रन्थमाला, बोटाद	1977
176. बौद्ध दर्शन	ले. आचार्य नरेन्द्रदेव	मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा.लि., दिल्ली	2001
177. बृहद् द्रव्य संग्रह	नेमिचन्द्र सिद्धान्त देव	श्री वीतराग सत् साहित्य प्रचारक ट्रस्ट, भावनगर	वि.सं. 2033
178. बृहदारण्यकोपनिषद्	भा. आचार्य शंकर	गीताप्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2014
179. ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य)	शंकराचार्य	निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई	1934
180. भगवद् गीता	अनु. हरिकृष्णदास गोयन्दका	गीताप्रेस, गोरखपुर	1917

181.	भारतीय दर्शन	जदुनाथ सिन्हा	मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा.लि., दिल्ली	2000
182.	भारतीय दर्शन	आचार्य बलदेव शर्मा	शारदा मन्दिर, वाराणसी	2001
183.	भारतीय दर्शन	सं. डॉ. न.कि. देवराज	उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ	1983
184.	भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान	डॉ. हीरालाल जैन	मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल	1962
185.	मज्झिम निकाय	सं. भिक्षु धर्मरक्षित	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस	1964
186.	मनुस्मृति	सं. नारायणराम आचार्य	निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई	1946
187.	महाभारत, भाग 3/4/5	रामचन्द्र शास्त्री किंजवडेकर	ओरियण्टल बुक रीप्रिंट कॉर्पो.	
188.	मिलिन्द प्रश्न		बौद्ध भारती, वाराणसी	1997
189.	मुण्डकोपनिषद्		वैदिक मंत्रालय, अजमेर	1960
190.	मूलाराधना (विजयोदया टीका)	शिवार्य	श्री हीरालाल खुशालचन्द दोषी, फलटन	1935
191.	मूलाचार	सं. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली	1992
192.	मैत्र्युपनिषद्		आनन्दाश्रम प्रेस, पूना	1925
193.	योगदर्शन	सुनृता विद्यालंकार	वी.के. तनेजा क्लासिक पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली	1995
194.	योगसूत्र	पातंजल योग प्रदीप	गीताप्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2018
195.	योगवार्तिक	विज्ञान भिक्षु		
196.	योगशास्त्र	आचार्य हेमचन्द्र	श्री निर्ग्रंथ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली	1975
197.	रत्नकरंडक श्रावकाचार			

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International

198. रत्नाकरावतारिका भाग 1/2/3	अनु. धीरजलाल डाह्यालाल मेहता	श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मरीन ड्राइव, मुम्बई	1999/2000
199. ललित विस्तरा	आचार्य हरिभद्रसूरि		
200. विनयपिटक	अनु. राहुल सांकृत्यायन	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस	1935
201. विधिमार्गप्रपा	ले. आचार्य जिनप्रभसूरि	सिंघि जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद	वि.सं. 1997
202. विसुद्धिमग्ग	आचार्य बुद्ध घोष	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस	1956
203. वैशेषिक दर्शन	प्रशस्तपादाचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी	1966
204. शतपथ ब्राह्मण		चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी	
205. शास्त्रवार्त्ता समुच्चय	आ. हरिभद्रसूरि	लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद	1958
206. श्वेताश्वतरोपनिषद्	भा. शंकराचार्य	गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2050
207. षड्दर्शन समुच्चय	ले. हरिभद्र सं. महेन्द्र कुमार जैन	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली	1981
208. षट्खण्डागम (धवला टीका सहित)	सं. हीरालाल जैन	सेठ शीतलराय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती	1942
209. संयुत्तनिकाय	अनु. भिक्षु जगदीश काश्यप	महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस	
210. समयसार	कुन्दकुन्दाचार्य	श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर	वि.सं.2505
211. समाचारी शतक	समयसुन्दरगणि	जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार, सूरत	1996
212. सम्मतितर्क प्रकरण खंड - 1	सिद्धसेन दिवाकर	शेठ मोतीशा लालबाग जैन ट्रस्ट, पांजरा पोल कम्पाउण्ड, भूलेश्वर, मुम्बई	वि.सं.2040

For Private & Personal Use Only

www.jainelibrary.org

213.	सम्मतितर्क प्रकरण खंड - 2	सिद्धसेन दिवाकर	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, 36 कलिकुण्ड सोसाइटी, धोलका	वि.सं.2051
214.	सम्मतितर्क प्रकरण खंड - 5	सिद्धसेन दिवाकर	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, 36 कलिकुण्ड सोसाइटी, धोलका	वि.सं.2052
215.	सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य	भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टिट्यूट, पूना	1951
216.	सांख्यकारिका	ले. ईश्वर कृष्णचन्द्र	चौखम्बा पब्लिशर्स, गोकुलभवन, वाराणसी	2000
217.	सांख्य सूत्र	सं. उदयवीर शास्त्री	विरजानन्द वैदिक संस्थान, ज्वालापुर, हरिद्वार	वि.सं. 2017
218.	सांख्य तत्व कौमुदी	वाचस्पति मिश्र	ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना	1967
219.	सुबोधा समाचारी	ले. आचार्य श्रीचन्द्र		
220.	सुत्तपिटक			
221.	सुत्तनिपात	अनु. भिक्षु धर्मरत्न	महाबोधि सभा सारनाथ, वाराणसी	1951
222.	सुश्रुत संहिता			
223.	स्याद्वादमंजरी	अनु. सं. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, राजचन्द्र आश्रम, अगास	1979
224.	सृष्टिवाद और ईश्वर	ले. मुनि रत्नचन्द्रजी म.	जैन साहित्य प्रचारक समिति, ब्यावर	1977
225.	हारित संहिता			
226.	A History of the canonical literature of Jain's	H.R. Kapdia		
227.	First step to Jainism Part I-II	Bhandari Manakmal & Asulal Sancheti	Samcheti Trust, SR Nagar, Jodhpur	2002
228.	Greek Thinkers Vol -1	Theoder Gomperz		
229.	History of Indian literature Vol. II	Maurice Winternitz	Motilal Banarisdas, Delhi	1993

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

230.	The sacrad Book of the east Vol. 45	H. Jacobi	Oxford	1895
231.	The principle upnishads	Dr. S. Radhakrishan		
232.	Uttaradhyayan Sutra	Jarl Charpentier	Ajay Book Service. Delhi	1980

कोष साहित्य

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक, सम्पा., अनु., विवे.	प्रकाशक	संस्करण
233.	अभिधान चिंतामणि कोश	ले. आचार्य हेमचन्द्र	हेमचन्द्राचार्य सभा, पाटण	
234.	अभिधान राजेन्द्र कोश भाग- 1-7	सं. आ. राजेन्द्रसूरि	श्री जैन प्रभाकर परिषद्, वाराणसी-5	1963
235.	पाइअसद्द महण्णवो	सं. वासुदेवशरण अग्रवाल पं. दलसुख मालवणिया		
236.	अमरकोष	अमरसिंह	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी	1998
237.	आगम शब्दकोश	आ. तुलसी	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	1980
238.	आगम सद्दकोसो भाग 1-4	मुनि दीपरत्न सागर	आगम आराधना केन्द्र, शीतल सोसाइटी, अहमदाबाद	2001
239.	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 1-4	क्षु. जिनेन्द्रवर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली	1987
240.	श्री भिक्षु आगम विषयकोश	आ. तुलसी	जैन विश्वभारती, लाडनूँ	1996
241.	श्री शब्द रत्नाकर *	वा. साधु सुन्दरगणि	जैन श्वे. संघ. रंगून	
242.	शब्दरत्न महोदधि खण्ड - 1	संक. मुक्तिविजयजी गणि	श्री विजयनीति सूरीश्वरजी जैन पुस्तकालय ट्रस्ट, अहमदाबाद	1985
243.	शब्दरत्न महोदधि खण्ड - 2	संक. अंबालाल प्रेमचन्द	श्री विजयनीति सूरीश्वरजी जैन पुस्तकालय ट्रस्ट, अहमदाबाद	1988

244. शब्दरत्न महोदधि खण्ड - 3	संक. अंबालाल प्रेमचन्द	श्री विजयनीति सूरीश्वरजी जैन पुस्तकालय ट्रस्ट, अहमदाबाद	1991
245. संस्कृत हिन्दी कोश	ले. वामन शिवराम आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1989
246. संस्कृत धातुकोश	सं. युधिष्ठिर मीमांसक	बहालगढ़, सोनीपत हरियाणा	
247. हलायुधकोष			

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री जिनकान्तिसागरसूरि स्मारक

जहाज मंदिर, माण्डवला, जालोर (राज.)

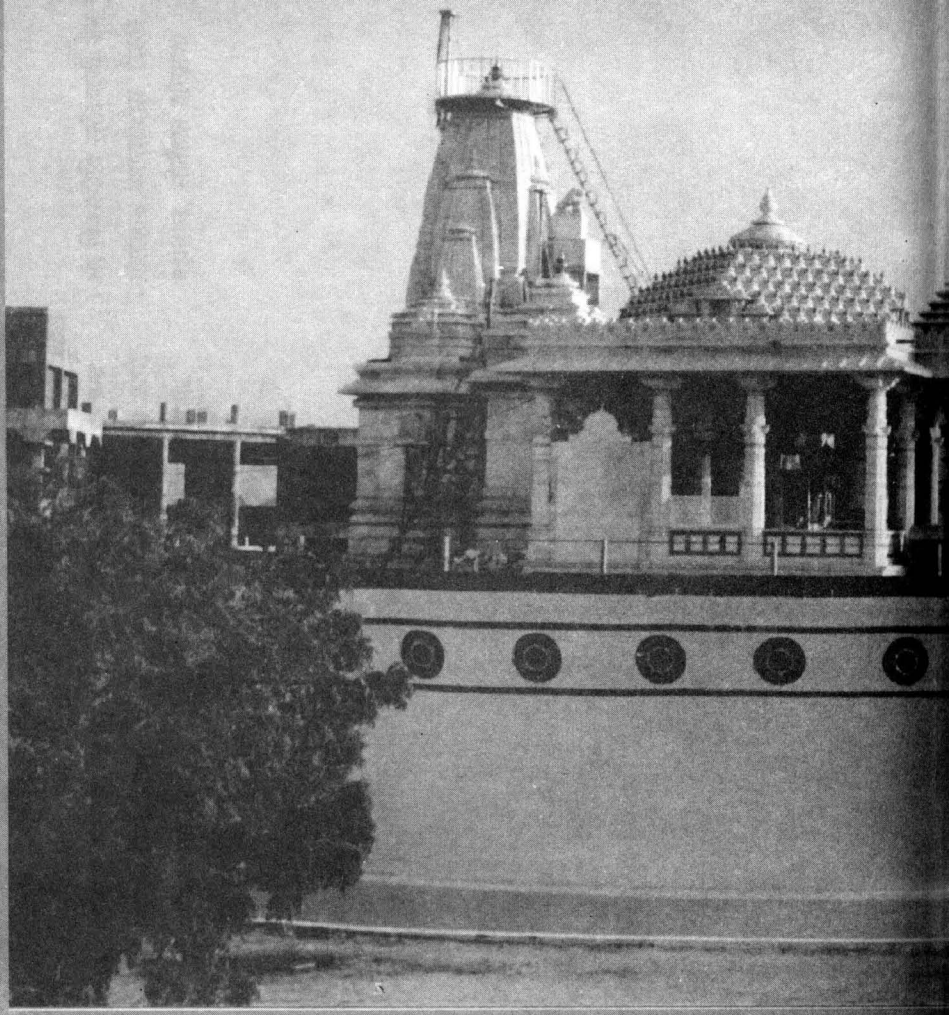

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

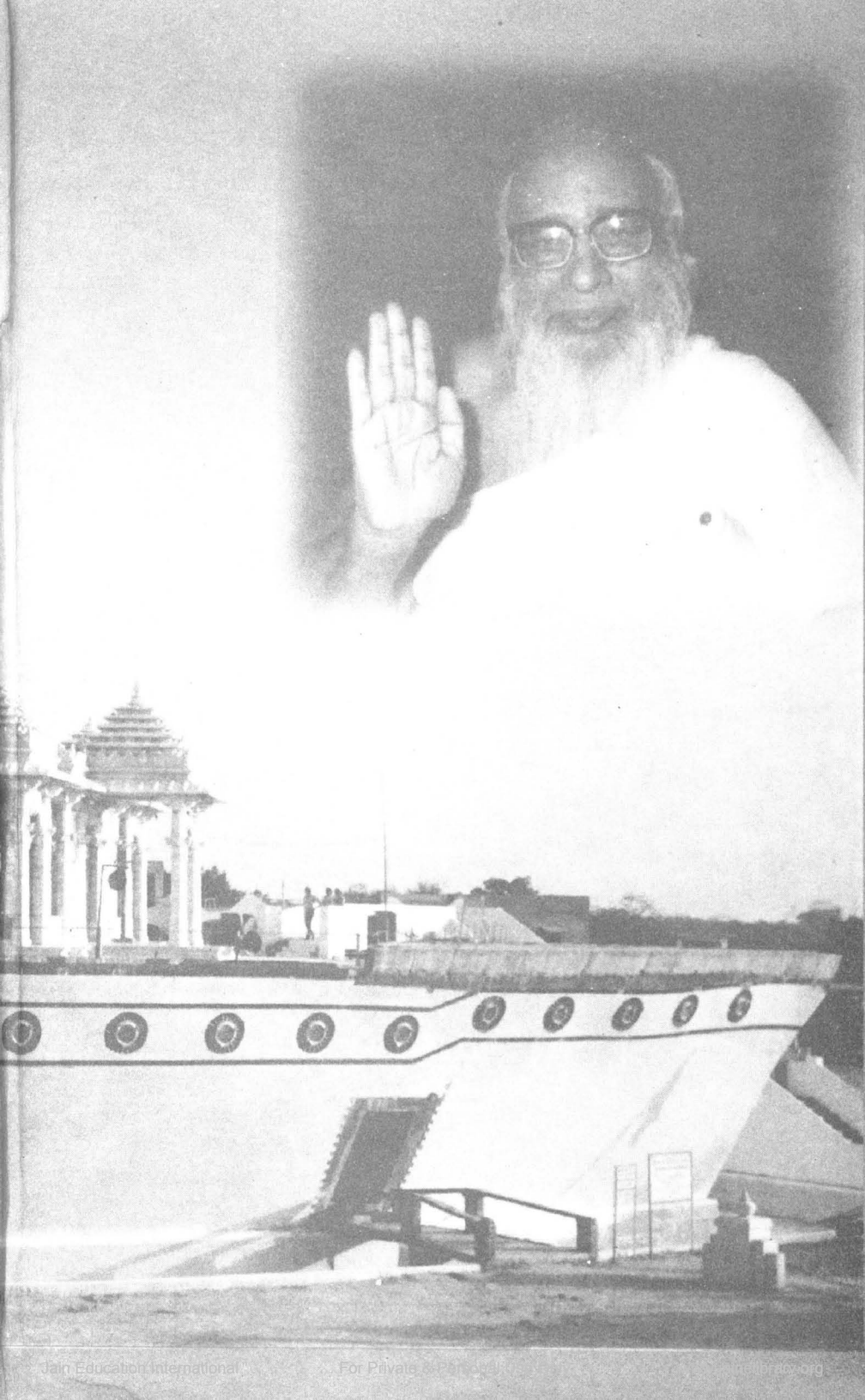

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org